प्रकाशक :
मंत्री, श्री जवाहर साहित्य समिति
भीनासर (बीकानेर, राजस्थान)

द्वितीय सस्करण
मई, १९७३.

प्रति—११००

मूल्य : तीन रुपये पचहत्तर पैसे.

मुद्रक :
जैन आर्ट प्रेस
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा सचालित)
रांगडी मोहल्ला, बीकानेर.

प्रकाशकीय

'सम्यक्त्वपराक्रम' पाच भागो मे जवाहर किरणावली किरण ८, ९ १०, ११, १२ के रूप मे पहले प्रकाशित हुआ था। उक्त भागो मे पहले तीन भाग अप्राप्य हो जाने और पाठको की माग को ध्यान मे रखकर पुन उनके द्वितीय सस्करण प्रकाशित किये जा चुके है तथा चौथे और पाचवें भागो के भी अप्राप्य हो जाने से इन दोनो भागो को सयुक्त रूप मे पुन. प्रकाशित कर रहे हैं।

सम्यक्त्वपराक्रम उत्तराध्ययन सूत्र का सर्वोत्कृष्ट अध्ययन है। इसमे आध्यात्मिक विकास का सजीव उपाय बताया गया है। पूज्य जवाहराचार्य ने अपने प्रवचनो के द्वारा इस अध्ययन की सरल से सरलतम व्याख्या कर आशय को समझने के लिये विशेष सुविधाजनक बना दिया है। जिससे साधारण-से साधारण पाठक अध्ययन की विशेषताओ को सरलता से समझ सकता है।

धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिन श्री राजकुवरबाई मालू बीकानेर ने श्री जवाहर साहित्य समिति को साहित्य प्रकाशन के लिये धन-राशि प्रदान की थी। बहिनश्री की भावना के अनुसार समिति की ओर से साहित्य-प्रकाशन का कार्य चल रहा है। इस पुस्तक के द्वितीय सस्करण का प्रकाशन भी बहिनश्री की ओर से प्राप्त राशि से किया जा रहा है। सत्साहित्य के प्रचार–प्रसार के लिये बहिनश्री की अनन्यनिष्ठा चिर-स्मरणीय रहेगी।

यद्यपि आजकल कागज, छपाई आदि का खर्च काफी बढ़ गया है और समय को देखते हुए भविष्य में और बढ़ते जाने की सम्भावना है। लेकिन समिति अपनी निर्धारित नीति के अनुसार लागत मूल्य पर साहित्य-प्रकाशन का कार्य कर रही है।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ और उसके द्वारा संचालित जैन आर्ट प्रेस का प्रकाशन कार्य में पूरा सहयोग प्राप्त है। जिससे समिति द्वारा अनेक अप्राप्य किरणावलियों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और प्रकाशित हो रहे हैं। एतदर्थ समिति की ओर से धन्यवाद देते है।

निवेदक

चंपालाल बांठिया

मन्त्री-श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (बीकानेर–राजस्थान)

सम्यक्त्वपराक्रम चौथे भाग की

* विषयानुक्रमणिका *



सम्यक्त्वपराक्रम पांचवें भाग की

※ विषयानुक्रमणिका ※



सम्यक्त्वपराक्रम

चतुर्थ-पंचम भाग



चतुर्थ भाग

[१ से १९०]



पंचम भाग

[१९१ से ३८३]

पैंतीसवां बोल

आहारप्रत्याख्यान

वस्तुतः आत्मा और परमात्मा एक है। आत्मा में ज्ञान की किसी प्रकार की कमी नही है, परन्तु उसके ज्ञान पर आवरण आया हुआ है। वह ज्ञानावरण क्रिया के बिना दूर नही हो सकता। इसीलिए शास्त्र में उसे क्रिया द्वारा नष्ट करने का उपदेश दिया गया है।

चौतीसवे बोल मे उपधि के त्याग के विषय में कहा जा चुका है। जो व्यक्ति उपधि या उपाधि का त्याग करता है वह अपनी शक्ति के अनुसार आहार का त्याग करता है। अत गौतम स्वामी अब भगवान् महावीर से यह प्रश्न करते हैं कि आहार का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न--आहारपच्चक्खाणेण भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर--आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ, जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दित्ता जीवे आहार-मवरेणं न संकिलिस्सइ ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! आहार का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—आहार का त्याग करने से आत्मा जीवन की लालसा नष्ट हो जाने के कारण आहार के अभाव मे खेद नही पाता।

व्याख्यान

यह सूत्रपाठ बहुत सारपूर्ण है। इसमे महत्वपूर्ण बोधपाठ मौजूद है। शास्त्र का प्रत्येक वाक्य अर्थसूचक है। यहा लाभ पर विचार करना है कि आहार का त्याग करने से जीव को क्या होता है ?

यह शरीर आहार पर ही टीका हुआ है। यह सही है कि शरीर को टिकाये रखने के लिए और-और वस्तुएं भी सहायक है, परन्तु उनमें प्रधानता आहार की ही है। मकान या वस्त्रों के अभाव में जीवन कायम रह सकता है। अफ्रीका के एक प्रदेश के विषय में सुना जाता है कि वहाँ के निवासी वस्त्र नही पहनते, नग्न ही रहते है। जब वस्त्र ही नही पहने जाते तो आभूषण पहनने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। यह बात सभी समझते हैं कि मनुष्य मकान और कपड़ों के बिना भी जीवित रह सकता। मगर तुमने कभी सुना है कि आहार के बिना भी कोई प्राणी जीवित रह सकता है ? वास्तव में जीवन कायम रखने के लिए आहार की अनिवार्य आवश्यकता है और इसी कारण प्राण की व्याख्या करते हुए अन्नमयप्राण कहा गया है।

जब शरीर आत्मा से भिन्न है, इस प्रकार का भेदज्ञान होता है और जब वैराग्य की उत्पत्ति होती है, तब शारीरिक परतन्त्रता दूर करने के लिए और आत्मा को शरीर-बंधन से मुक्त करने के लिए धर्मात्मा पुरुष आहार का त्याग करते हैं। आहार के इस त्याग से जीव को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी से किया है।

आहार का त्याग करना सरल नही है। शरीर-आत्मा का भेदज्ञान, स्व-पर की पहिचान तथा उत्कृष्ट वैराग्य जब उत्पन्न होता है, तभी आहार का त्याग किया जा सकता है। इस प्रकार आहार का त्याग करने वाला जीवन की आशा ही त्याग देता है।

जीवन की आशा त्याग देने से होने वाला लाभ, शास्त्र मे आये हुए एक कथन का उल्लेख करके समझाता हू। भृगु पुरोहित के दोनो पुत्रो ने अपने पिता को जीव की स्थिति बतलाते हुए कहा था -

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हारा हरंति इति कहं पमाए ॥

यह मेरा है, यह मेरा नही है, यह काम मुझे करना है, यह काम मुझे नही करना है, इस प्रकार की घटना ससार मे दिन-रात चलती रहती है। जीवन छोटा और काम बहुत हैं। ऐसी स्थिति मे कोई भी पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार अपना काम पूरा नहीकर सकता। आज दिन तक ऐसा नही हुआ कि किसी ने ससार के सब काम

पूरे कर दिये हों और वह कृतकृत्य हो गया हो। ऐसा हो भी नहीं सकता। प्रत्येक जीव को यही तृष्णा लगी रहती है कि मैंने अमुक-अमुक काम तो कर लिए हैं मगर अब अमुक काम करने शेष हैं! इस तृष्णा की पूर्ति कभी होती ही नहीं। उदाहरणार्थ—कंठ के आभूषण तैयार हुए कि हाथ के आभूषणों की बात चलने लगती है और हाथ के आभूषण भी कदाचित् तैयार हो गए तो पैरों के गहने तैयार करने की इच्छा हो जाती है। इसी प्रकार चांदी के आभूषण हों तो सोने के और सोने के हों तो हीरा-माणिक के जेवर गढवाने की लालसा बढती ही जाती है। इस तरह संसार में तृष्णा का कहीं अन्त नहीं आता, वह तो उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। परन्तु जब आत्मा में शरीर-आत्मा का भेदविज्ञान प्रकट होता है, तब आत्मा इन सब वस्तुओं का त्याग कर देता है और तृष्णा को जीतकर संतोषामृत का पान करता है। आत्मा जब संतुष्ट बनती है तभी उसे शांति का अनुभव होता है, अन्यथा यह आत्मा तृष्णा नदी में बहता और गोते खाता हुआ दुःख उठाता है। पर भेदज्ञानी आत्मा संसार की बहुमूल्य समझी जाने वाली वस्तुओं को भी तुच्छ समझकर उनका त्याग कर देता है।

पुरोहित-पुत्र कहते हैं—पिताजी, इस प्रकार सांसारिक कार्य तो बहुत हैं और उन कार्यों के लिए हाय-हाय भी बहुत करनी पडती है। परन्तु जिसके आधार पर यह सब काम किये जाते हैं वह आयुष्य भी प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। जब आयुष्य ही क्षीण हो जाता है तो सांसारिक कार्य पूर्ण किस प्रकार होंगे? कोई नहीं जानता, आयु कब पूर्ण

हो जायेगी ? महान् पुरुषो को भी पता नही होता कि कल क्या होने वाला है ? फिर भी ससार मे प्राणीमात्र को सासारिक कार्यों को हाय-हाय लगी रहती है। कहने का आशय यह है ससार-सबधी लालसा बढती ही चली जाती है और जो बढती ही चली जाती है, वह पूर्ण कैसे हो सकती है ? लालसा की पूर्ति तो तभी सभव है, जब उसकी मर्यादा बाध ली जाये और उस मर्यादा के अनुसार आशा पूरी करने के लिए आयुष्य भी हो लालसा की वृद्धि करते रहने से वह पूरी नही हो सकती। आशा की पूर्ति तो लालसा का त्याग करने से ही होती है। आहार का त्याग करने वाला आशा-लालसा का त्याग कर देता है। वस्तुत जो व्यक्ति आशा-लालसा का त्याग करने के लिए ही आहार का त्याग करता है, उसी व्यक्ति का आहार-त्याग उचित कहा जा सकता है।

इस प्रकार आशा का त्याग करने के लिए, जो व्यक्ति आहार का त्याग करता है, उसे आहार-त्याग करने से किस फल की प्राप्ति होती है, इस विषय मे गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा—आशालता का उच्छेद करने के लिए आहार का त्याग करने वाला सर्वप्रथम तो जीवन-जीने की लालसा त्याग देता है। वह विचारता है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार भेदविज्ञान पैदा होने से वह आहारत्याग के साथ जीवित रहने की आशा का भी त्याग कर देता है। वह अनशनव्रत स्वीकार कर लेता है।

अनशनव्रत दो प्रकार का है—इत्वरिक अनशन और

यावज्जीवन अनशन। यावज्जीवन अनशन तो कोई विरला ही करता है, परन्तु इत्वरिक अनशन का अभ्यासी पुरुष यावज्जीवन अनशन करने का साहस कर लेता है। इत्वरिक अनशन करना एक प्रकार से यावज्जीवन अनशन करने का अभ्यास करना ही है।

कुछ लोगो का कहना है—'जैन आहार का त्याग करते हैं, यह भी एक प्रकार की हिंसा है। आहार का त्याग करना या मरना दोनो बाते समान हैं। आहार के बिना शरीर टिक नही सकता। कडकडाती भूख लगने पर अगर भोजन नही खाया जाता तो उस समय शरीर का रक्त मास खाया जाता है। इस प्रकार आहार का त्याग करना आत्महत्या करने के समान है।

गीता के एक श्लोक का अर्थ करते हुए भी कुछ लोग इसी प्रकार की मान्यता प्रकट करते हैं। मगर ऐसा कहने वाले लोग भूल करते है। आहार-त्याग करना अथवा उपवास करना जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक है। अनेक लोग इस समय भी उपवास का महत्व समझ कर उसे प्राकृतिक औषध के रूप मे स्वीकार करते हैं। उपवास करने से शरीर का रक्त-मास नही खाया जाता। उपवास करने से शरीर कृश अवश्य होता है, मगर उससे शरीर को किसी प्रकार की हानि नही पहुचती। शरीर कृश होने से शारीरिक शक्ति का ह्रास नही हो जाता। आजकल वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा दूध सुखा लिया जाता है और उसका ठोस पदार्थ बना लिया जाता है। उसे पानी मे मिलाने से फिर वह दूध बन जाता है। जैसे उस दूध मे की शक्ति नष्ट नही होती उसी प्रकार उपवास करने से शरीर के कृश हो

जाने पर भी उसकी शक्ति का नाश नही होता । इसके विपरित यदि उपवास विधिपूर्वक किया जाये और उपवास समाप्त होने पर शीघ्र ही आहार की वृद्धि न की जाये तो शरीर की कृशता के दूर हो जाने के साथ ही साथ शरीर के रोग भी समूल नष्ट हो जाएंगे । यह बात कपोलकल्पित नही, अनुभूत है । जिसे इस कथन मे संदेह हो वह अपना वजन करके कम से कम एक दिन का उपवास कर देखे और दूसरे दिन फिर वजन करे । उसे विश्वास हो जायेगा कि उपवास करने से किसी भी प्रकार शारीरिक शक्ति क्षीण नही होती ।

उपवास से शरीर कृश हो जाता है और रोग से भी शरीर कृश हो जाता है । मगर दोनो प्रकार की कृशता में बहुत अन्तर है । लोग उपवास के अभ्यासी नही, दवा के अभ्यासी है और इसी कारण उन्हे उपवास करने से शरीर के निर्बल, निस्तेज और कृश हो जाने की भ्रान्ति बनी हुई है । वास्तव मे उपवास तो शरीर को स्वस्थ बनाने की एक अमोघ प्राकृतिक औषध है । अगर इस प्राकृतिक औषध का महीने मे छह बार सेवन किया जाये तो शरीर मे किसी प्रकार का रोग ही न रहने पाए और न डाक्टर की शरण मे जाना पडे । मगर जब हम उपवास करने का उपदेश देते हैं तो तुम हमारे कथन की उपेक्षा करते हो और जब बीमार पडते हो और डाक्टर ६–७ दिन के लिए लघन–उपवास करने की सलाह देता है तब इच्छा या अनिच्छा से भी तुम्हे उपवास करने के लिए मजबूर होना पडता है । अगर प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के नियमो का बराबर पालन करे और स्वेच्छापूर्वक प्रतिमास ४–६ उपवास करने की

आदत डालें तो शरीर रोगी न बने और और न डाक्टर की शरण लेना पड़े ।

सिर्फ शरीर को स्वस्थ रखने के उद्देश्य से किये जाने वाले उपवास परिपूर्ण नहीं कहे जा सकते । ऐसे उपवास से शारीरिक लाभ होता है परन्तु सच्चा उपवास तो वही है जो आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए किया गया हो । उपवास की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'उप समीपे वसतीति उपवास: ।' अर्थात आत्मा को परमात्मा के समीप पहुचाने के लिए आत्मध्यान करना और आत्मचिन्तन करने के लिए आहार का त्याग करके जीने की आशा का भी त्याग कर देना ही सच्चा उपवास है । उपवास तो परमात्मा के पास पहुचने का एक मार्ग है । इस प्रकार सच्चा उपवास करने से शरीर-स्वास्थ्य का आनुषगिक लाभ तो होगा ही, परन्तु उपवास का असली प्रयोजन-परमात्मा के निकट पहुचना भी सिद्ध होगा । जैसे पनिहारी अपने घर के लिए घड़े मे पानी भर लाती है और इस कारण वह शकुनवती भी कहलाती है, उसी प्रकार परमात्मा के शरण मे जाने के लिए किये गए उपवास से आत्मिक लाभ के साथ शारीरिक लाभ भी होता है ।

उपवास करने से परमात्मा के शरण मे किस प्रकार जा सकते हैं तथा परमात्मा के शरण में जाने के लिए आत्मा को क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध मे गीता में कहा है:—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्त्तते ॥

अर्थात् निराहर रहने से विषयरूपी पक्षी तो उड

जाता है परन्तु विषयों की वासना नही मिटती। विषयों की जो वासना उपवास करने पर भी शेष रह जाती है, उस वासना का उच्छेद करने के लिए परमात्मा का शरण ग्रहण करना आवश्यक है। उपवास करने से विषय तो दूर हो जाते हैं परन्तु विघ्नरूप जो वासना बाकी रह जाती है वह परमात्मा के शरण मे जाकर दूर की जा सकती है। तपश्चरण द्वारा विषयेच्छा भी समूल नष्ट की जा सकती है और इसीलिए बाह्य तथा आभ्यन्तर तपश्चरण किया जाता है। बाह्य तपश्चरण से विषय निवृत्त हो जाते हैं और आभ्यन्तर तप द्वारा अर्थात् परमात्मा का शरण ग्रहण करने से विषयो की वासना भी मिट जाती है और चित्त की शुद्धि भी हो जाती है।

आज के लोग दवा के ऐसे अभ्यासी बन गए हैं कि दवा के नाम पर वे अखाद्य और असेव्य पदार्थ भी खा जाते और सेवन करते हैं। इस प्रकार की भ्रष्ट दवा से बचने के लिए तथा अन्त करण को शुद्ध करने के लिए उपवास करना शारीरिक और आत्मिक विकास की दृष्टि मे अत्यावश्यक है। तपश्चरण करने वाला भ्रष्ट दवा के सेवन से बच सकता है और अपने अन्तःकरण को भी शुद्ध कर सकता है।

कोई-कोई लोग उपवास के नाम पर खान पान में ही मशगूल रहते हैं। कल उपवास करना है, ऐसा विचार करके कुछ लोग हलुवा आदि गरिष्ठ पदार्थों से पहले ही पेट भर लेते हैं। जैनशास्त्रो का कथन है कि उपवास की यह विधि नही है। धारणा और पारणा के दिन एक ही बार भोजन करने से चतुर्थभक्त उपवास होता है। अर्थात् धारणा के

दिन एक बार का भोजन त्यागने से, पारणा के दिन एक बार का भोजन त्यागने से और उपवास के दिन दो बार का भोजन त्यागने से ही चतुर्थभक्त उपवास कहलाता है। खान पान की लालसा रोककर विधिपूर्वक उपवास करने वाला अनेक गुना लाभ प्राप्त करता है।

हम तुम सब लोगो को सुख का ही मार्ग बतलाते है और कहते है कि सुख कुछ बाहर से नही आता। सुख कहा से आता है, इस सम्बन्ध मे शास्त्र मे कहा है—

सुखस्य दु खस्य न कोऽपि दाता, परो ददात.ति कुबुद्धिरेषा ॥

अर्थात्—अविवेकी लोग ही कहते हैं कि दूसरे ने हमें सुख या दु ख दिया है। ज्ञानीजनो का कहना है कि दूसरा न सुख दे सकता है और न दु.ख ही दे सकता है। तुम भी शायद यह समझते हो कि दूसरो ने हमे अमुक दुःख दिया है, परन्तु अगर तुम अपना मन शान्त और पवित्र रखो तो कदापि नही कह सकोगे कि कोई दूसरा हमे सुख-दु ख देता है। मन को शान्त और पवित्र रखने से दु ख पैदा ही नही होता। अतएव अपना मन शान्त और पवित्र बनाने के लिए परमात्मा तथा तपश्चरण का शरण ग्रहण करो। अपनी आत्मा ही सुख-दु ख का कर्त्ता और हर्त्ता है, ऐसा मानने से दु ख भी सुख मे परिणत हो जाता है। केतुमती ने अजना को मातृगृह भेज दिया था और मायके वालों ने भी अपने घर न रखकर जगल मे भेज दिया था। परन्तु अजना ने जगल में भी यही माना कि सास ने मुझ पर कितनी बडी कृपा की कि मुझे जगल मे भेज दिया और मुझे जगल मे महात्मा के दर्शन का लाभ हुआ! इस प्रकार अजना ने अपने दु ख को भी सुख रूप मे परिणत कर लिया। क्या

तुम भी सकट के समय शान्ति धारण करते हो ? तुम अजना का नाम स्मरण करते हो, परन्तु अजना का नाम स्मरण किसलिए करते हो इसका भी विचार करो और मन को शान्त तथा पवित्र रखने का प्रयत्न करो ।

यहा (मोरबी) के दीवान साहब कहते थे कि चार महीनो तक व्याख्यान सुनने के बाद भी हम लोग तो जैसे के तैसे ही रहेंगे । क्या दीवान साहब का कथन सही है ? तुम कैसे भी रहो, इस विषय मे मुझे किसी प्रकार का दुर्भाव नही लाना चाहिए । मुझे यह भी विचार नही करना चाहिए कि मैंने इतना उपदेश दिया मगर परिणाम कुछ भी न आया । मुझे तो यह विचारना चाहिए कि मैं जो कुछ करता हू, अपने कर्मों की निर्जरा करने के लिए ही करता हूं । दूसरा कोई सुधरे या न सुधरे, इस झझट मे मुझे नही पडना चाहिए । इस प्रकार विचार कर मुझे तो ऐसा प्रयत्न करना है कि मेरी आत्मा को सुख-शाति मिले ! शास्त्र मे दो प्रकार के निमित्त कारण बतलाये हैं पुष्ट और अपुष्ट । जो निमित्त कारण केवल सबध जोडते हैं वे पुष्ट कहलाते हैं और जो सम्बन्ध जोडते भी है और तोडते भी हैं, वे अपुष्ट निमित्तकारण कहलाते हैं । पुष्ट निमित्तकारण सबध जोडता है, तोडता नही है । जैसे फूल तेल को फुलेल तो बना देता है मगर उसके चिकनेपन को नष्ट नही करता । अत तेल फुलेल होने पर भी पहले की भाति जल सकता है । अपुष्ट कारण चाक को घुमाने वाले डडे के समान होता है । वह घडा बनाता भी है और घड़े को नष्ट भी कर सकता है ।

साधु दूसरो के दिल को जोडने वाला होना चाहिए,

तोडने वाला नही । अर्थात साधु को किसी का दिल नही दुखाना चाहिए । साधु दूसरे का सुधार भले चाहे, मगर उसका दिल दुखाकर नही, त्यागधर्म का उपदेश देकर, उसे समझा-बुझाकर उसके जीवनसुधार का प्रयत्न करना चाहिए। साधु जो कुछ करे, कर्म की निर्जरा के लिए करे । इसी मे स्व-पर का लाभ है । त्याग एक ऐसी वस्तु है कि जिससे हानि होने का कुछ भी भय नही है । त्याग से कल्याण ही होता है । त्यागमार्ग कल्याण का मार्ग है ।



छत्तीसवां बोल

कषायप्रत्याख्यान



शास्त्र कहता है—आत्मन् ! तुझमें अनन्त सामर्थ्य विद्यमान है। तू उसका उपयोग नही करता, यह तेरी भूल है। तू अपने शक्ति-सामर्थ्य को काम मे ले। आत्मा के सामर्थ्य को विकसित करने के लिए त्याग करने की आवश्यकता रहती है। त्याग के विषय में ही यहा विचार चल रहा है। गौतम स्वामी अब कषाय के त्याग के विषय में प्रश्न करते हैं—

मूलपाठ

प्रश्न—कषायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—कसायपच्चक्खाणेण वीयरागभावं जणयइ, वीयरागभावपडिवन्ने वि यणं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! कषाय का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर--कषाय के त्याग से वीतराग भाव उत्पन्न होता है और वीतराग भाव को प्राप्त जीव के लिए दुःख और सुख समान बन जाते हैं।

व्याख्यान

कषाय-त्याग के विषय में विचार करने से पहले यह विचारणीय है कि आहारप्रत्याख्यान के बाद कषायप्रत्याख्यान के विषय में प्रश्न क्यों किया गया है ? आहार-प्रत्याख्यान के साथ कषायप्रत्याख्यान का क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि संभोगप्रत्याख्यान, उपधिप्रत्याख्यान और आहारप्रत्याख्यान तभी सफल होते हैं, जब कषाय का त्याग कर दिया जाय। कषाय का त्याग किये बिना ऊपर के सभी त्याग सफल सिद्ध नहीं होते। संभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग भी कषाय का त्याग करने के उद्देश्य से ही किया जाता है।

संभोग में रहने से किसी को कुछ कहने और सुनने का प्रसंग आ जाता है। इससे बचने के लिए संभोग का त्याग किया जाता है। उपधि रखने से सदैव यह भय बना रहता है कि कोई उसे ले न जाये, इस भय से मुक्त होने के लिए उपधित्याग किया जाता है। आहार के लिए अनेक प्रकार के क्रूर कर्म भी करने पडते हैं और अनेक प्रकार की उपाधियां भी वहोरनी पडती हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिए आहार का त्याग किया जाता है। परन्तु जब तक कषाय का त्याग नहीं किया जाता तब तक यह सब त्याग निष्फल है अथवा अल्प फलदायी ही सिद्ध होता है।

कषाय का त्याग करने पर भी अगर संभोग, उपधि

और आहार आदि का त्याग सफल होता तो कुटुम्बक्लेश के कारण घर का त्याग कर देने वाले लोग भी सभोग के त्यागी कहलाते । इसी प्रकार बहुत से लोगो के पास किसी प्रकार की उपधि नही होती तो क्या वे उपधि के त्यागी माने जा सकते हैं ? क्या उन्हे साधुओ की श्रेणी मे रख-कर वदन-नमस्कार किया जा सकता है ? नही । पशु निरुपधि होने पर भी उपधि के त्यागी नही कहलाते हैं, क्योकि उन्होने ज्ञानपूर्वक उपधि का त्याग नही किया है। इसी प्रकार दुष्काल के समय बहुत से लोग अन्न के अभाव मे मर जाते हैं । क्या उन्हे आहार का त्यागी कहा जा सकता है ? नही । क्योकि उनके पास आहार नही है और उन्हे अनिच्छापूर्वक आहार का त्याग करना पडता है। अगर उन्हे आहार उपलब्ध होता तो वे स्वेच्छापूर्वक उसका त्याग करने के लिए तैयार नही थे । कहने का आशय यह है कि सभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग कषाय का त्याग करने के लिए ही किया जाता है । कषाय के त्यागी बने विना सभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग सफल नही हो सकता ।

कषाय का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है कि कषाय का त्याग करने से सभोग, उपधि और आहार का त्याग सफल होता है तथा जीवन मे वीतरागभावना उत्पन्न होती है ।

कषाय के त्याग से किस प्रकार वीतरागभावना उत्पन्न होती है, इस विषय पर विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि कषाय क्या है और किसलिए

उसका त्याग किया जाता है ?

जिससे ससार की वृद्धि होती है वह कषाय है। अर्थात् राग और द्वेप, जो कर्मवीज हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ जो ससारवृद्धि के कारण है, उन्हें कषाय कहते हैं। जिन मलीन परिणामो द्वारा नरक आदि की प्राप्ति या वृद्धि होती है, वह मलीन परिणाम भी कपाय है। सक्षेप मे, जिस चित्तवृत्ति द्वारा ससार की वृद्धि हो वह कषाय है।

शास्त्रकारों ने कपाय का स्वरूप वतलाते हुए कहा है-

कोहो य माणो य अनिग्गहीया,
माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

अर्थात्-पुनर्जन्म की जड को सीचने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषाय हैं। क्रोध और मान का निग्रह करना कठिन है और माया तथा लोभवृत्ति वढती जाने वाली है अर्थात् माया तथा लोभ का कही अन्त नही है। यह हमेशा वढते ही चले जाते है। यह कषाय ससारवृद्धि करने वाले हैं, अत त्याज्य ही हैं।

कपाय की वृद्धि होने के कारण नरक आदि नीच गतियो मे तथा ससारचक्र मे परिभ्रमण करना पडता है। कषाय जीवात्मा को कर्मवधन से विशेष वद्ध करती है। कपाय के कारण कर्मवधन से छुटकारा नही मिलता। राग-द्वेप से कर्म का वध होता है और कपाय से कर्मवधन मजबूत होता है। ससार चक्र मे से छूटने के लिए, पुनर्भव के फदे से मुक्त होने के लिए तथा कर्मवधन को ढीला करने

के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है।

कषाय की तीव्रता के कारण ही नरक आदि नीच गतियो में जाना पडता है। नरक कही बाहर से नहीं आता। वह तो अपने ही परिणामो में है। कितने ही लोग दुःख माथे पर आ जाने के समय हाय-तोबा मचाने लगते हैं। वे यह नही सोचते कि दुःख कहा से और कैसे आया है? दुःख न बाहर से आते है और न आये ही है। वे तो अपने ही मलीन परिणामों की उपज हैं। मलीन परिणामों का त्याग करना ससार पर विजय प्राप्त करने का मार्ग है। साथ ही मलीन परिणामो के अधीन होना ससार के अधीन होने के समान है। अतएव जल्दी से जल्दी कषाय का त्याग करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय में यह बात अकित कर रखनी चाहिए कि—'कषाय की बदौलत ही हमारा स्वाधीन आत्मा पराधीनता में पडा है। आत्मा को स्वाधीन बनाने के कषायशत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहिए।'

जो स्थान और कारण कषाय उत्पन्न करने वाला है वही स्थान और कारण कषाय को जीतने वाला भी है। यह बात स्पष्ट करने के लिए श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे आया हुआ एक उदाहरण तुम्हे सुनाता हूं।

एक बार एक क्षत्रिय ने दूसरे क्षत्रिय को जान से मार डाला। मृत क्षत्रिय की पत्नी उस समय गर्भवती थी। वह क्षत्रिय-पत्नी विचार करने लगी - मेरे पति मे थोड़ी बहुत कायरता थी, तभी तो उनकी अकालमृत्यु हुई। वे वीर होते तो अकाल मे मृत्यु न होती। क्षत्रियपत्नी की इस वीर भावना का प्रभाव उसके गर्भस्थ पुत्र पर पड़ा।

आगे चल कर वह पुत्र वीर क्षत्रिय बना ।

माता अपने बालक को जैसा चाहे वैसा बना सकती है और चाहे तो कायर भी बना सकती है । साधारणतया सिंह का बालक सिंह ही बन सकता है और सूअर का बालक सूअर ही बनता है । उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता परन्तु मनुष्य को इच्छानुसार वीर या कायर बनाया जा सकता है ।

क्षत्रियपत्नी ने अपने बालक को वीरोचित्त शिक्षा देकर वीर क्षत्रिय बनाया । क्षत्रियपुत्र वीर होने के कारण राजा का कृपापात्र बन गया ।

एक दिन राजा ने क्षत्रियपुत्र की वीरता की परीक्षा लेने का विचार किया । राजा ने सोचा—शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए क्षत्रियपुत्र को भेजने से एक पथ दो काज होंगे । एक तो शत्रुवश मे आ जायेगा, दूसरे क्षत्रिय-पुत्र की वीरता की परीक्षा भी हो जायगी ।

इस प्रकार विचार कर राजा ने क्षत्रियपुत्र को शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए सेना के साथ भेज दिया । क्षत्रियपुत्र वीर था । वह तैयार होकर शत्रु को जीतने के लिए रवाना हुआ । उसने शत्रु की सेना को अपनी वीरता का परिचय दिया, परास्त किया और शत्रु राजा को जीवित ही कैद करके राजा के सामने उपस्थित किया । राजा क्षत्रियपुत्र का पराक्रम देख बहुत ही प्रसन्न हुआ । उसने उचित पुरस्कार देकर उसका सत्कार किया । सारे गाँव मे क्षत्रियपुत्र की वीरता की प्रशसा होने लगी । जनता ने भी उसका सम्मान किया । क्षत्रियपुत्र प्रसन्न होता हुआ अपने घर जाने के लिए निकला । रास्ते में वह विचार करने

लगा—आज मेरी माता मेरी पराक्रमगाथा सुनकर अवश्य प्रसन्न होगी। घर पहुचते ही वह सीधा माता को प्रणाम करने और उसका आशीर्वाद लेने गया। पर जब वह माता के पास पहुचा तो उसने देखा—माता रुष्ट है और पीठ देकर बैठी है। माता को रुष्ट और क्रुद्ध देखकर पुत्र विचार करने लगा मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध बन गया है कि माता रुष्ट और क्रुद्ध हुई है ?

आजकल का पुत्र होता तो माता को मनचाहा सुना देता। परन्तु उस क्षत्रियपुत्र को तो पहले से ही वीरोचित्त शिक्षा दी गई थी कि -

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

अर्थात् -माता देवतुल्य है, पिता देवतुल्य है और आचार्य देवतुल्य है। अतएव माता, पिता और आचार्य की आज्ञा की अवज्ञा नही करनी चाहिए।

यह सुशिक्षा मिलने के कारण क्षत्रियपुत्र ने नम्रतापूर्वक माता से कहा - माँ, मुझ से ऐसा क्या अपराध बन गया है कि आप मुझ पर इतनी क्रुद्ध हैं ? मेरा अपराध मुझे बताइए, जिससे मैं उसके लिए आपसे क्षमायाचना कर सकू।

माता बोली—जिसका पितृहन्ता शत्रु मौजूद है उसने यदि दूसरे शत्रु को जीता भी तो इससे क्या हुआ ?

क्षत्रियपुत्र ने चकित होकर पूछा—क्या मेरे पिता का घात करने वाला शत्रु अभी तक जीवित है ?

माता—हा, वह अभी तक जीवित है ?

क्षत्रियपुत्र—ऐसा है तो अभी तक मुझे बताया क्यो नही ?

माता—मैं तुम्हारे पराक्रम की जाच कर रही थी।

अब मुझे विश्वास हो गया है कि तू वीरपुत्र है। जब तू दूसरे शत्रु को परास्त कर चुका है तब अपने पिता का घात करने वाले शत्रु को भी अवश्य परास्त कर सकेगा। तेरा सामर्थ्य देखे बिना शत्रु के साथ भिड जाने की बात मैं कैसे कहती ?

क्षत्रियपुत्र माता का कथन सुन और उत्तेजित हो कहने लगा--माताजी ! मैं अभी शत्रु को पराजित करने जाता हू। अपने पिता के वैर का बदला लिये बिना मैं हर्गिज नहीं लौटूगा। इतना कह कर वह चल दिया।

दूसरी ओर क्षत्रियपुत्र के पिता की हत्या करने वाले क्षत्रिय ने सुना-जिसे मैंने मार डाला था, उसका वीर क्षत्रियपुत्र क्रुद्ध होकर अपने पिता का वैर भजाने के लिए मेरे साथ लडाई करने आ रहा है। यह सुनकर उस क्षत्रिय ने विचार किया—वह वीर बडा वीर है और उसके शरण मे चला जाना ही हितकर है। इसी मे मेरा कल्याण है। इस तरह विचार करके वह क्षत्रियपुत्र के सामने गया और उसके अधीन हो गया। क्षत्रियपुत्र उस पितृघातक शत्रु को लेकर अपनी माता के पास आया। उसने माता से कहा इसी क्षत्रिय ने मेरे पिता की हत्या की है। इसे पकड़ कर तुम्हारे पास ले आया हू। अब जो तुम कहो वही दड इसे दिया जाय।

माता ने अपने पुत्र से कहा—इसी से पूछ देख कि इसके अपराध का इसे क्या दड मिलना चाहिए ?

पुत्र ने शत्रु से पूछा—बोलो अपने पिता के वैर का बदला तुमसे किस प्रकार लिया जाये ?

शत्रु ने उत्तर दिया—तुम अपने पिता के वैर का बदला उसी प्रकार लो, जिस प्रकार शरण मे आये हुए मनुष्य से

लिया जाता है।

क्षत्रियपुत्र की माता सच्ची क्षत्रियाणी थी। उसका हृदय तुच्छ नही विशाल था। माता ने पुत्र से कहा—बेटा, अब इसे शत्रु नही भाई समझ।

जब वह शरण मे आ गया है, तो शरणागत से बदला लेना सर्वथा अनुचित है। शरण मे आया हुआ कितना ही बडा अपराधी क्यो न हो, फिर भी भाई के समान ही है। अतएव यह तेरा शत्रु नही, भाई के समान ही है। मैं अभी भोजन बनाती हू। तुम दोनो भाई साथ बैठ कर आनन्द-पूर्वक जीमो। तुम सगे भाइयो की तरह साथ-साथ जीमो और प्रेमपूर्वक रहो। मैं यही देखना चाहती हू।

माता का कथन सुनकर पुत्र ने कहा—माताजी ! तुम पितृघातक शत्रु को भी भाई बनाने की कहती हो, सो तो ठीक है, परन्तु मेरे हृदय मे जो क्रोधाग्नि जल रही है, उसे मैं किस प्रकार शान्त करू ?

माता ने उत्तर दिया—पुत्र ! किसी मनुष्य पर क्रोध उतार कर क्रोध शान्त करने मे कोई वीरता नही है। क्रोध पर ही क्रोध उतार कर क्रोध शान्त करना अथवा क्रोध पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची वीरता है। भगवान् महावीर ने तो कहा है—'उवसमेण हणे कोह।' अर्थात् उपशम-शान्ति से क्रोध को जीतना चाहिए। इसी प्रकार बौद्धशास्त्र मे भी कहा है—

न हि वेरेण वेराणि समन्तीध कुदाचन।
अवेरेण वेराणि एस धम्मो सनन्तनो॥

अर्थात् इस ससार मे वैर से वैर कदापि शान्त नही

होता । अवैर-प्रेम से ही वैर शान्त होता है । प्रेम से वैर शान्त करना ही सनातन धर्म है ।

असली खूबी तो शान्तिक्षमा से क्रोध को शान्त करने में ही है । क्रोध भयकर शत्रु है । इस शत्रु को क्षमा से जीतना ही सच्ची वीरता है । नमीराज ने भी इन्द्र से कहा था

जो सहस्सं सहस्साण संगामे दुज्जए जिणे ।
एगे जिणेज्ज अप्पाण एस सो परमो जयो ॥

—उत्तराध्ययन, ९

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष क्रोध को अक्रोध से जीतता है, वही सच्चा वीर है । इसी प्रकार जो कषाय पर विजय प्राप्त करता है, वही सच्चा वीर है । कषायो पर विजय प्राप्त करने मे ही वीरता है ।

माता का आदेश पाकर पुत्र ने प्रसन्नतापूर्वक अपने पितृहन्ता शत्रु को गले लगाया । दोनो ने सगे भाइयो की तरह साथ साथ भोजन किया ।

कहने का आशय यह है कि जो स्थान कषाय उत्पन्न करने का है, वही स्थान कषाय जीतने का भी है वे वास्तव मे वीर पुरुष हैं जो अपने शत्रुओ को भी मित्र बना लेते हैं । सच्ची वीरता तो इसी मे है कि क्रोध को अक्रोध–शान्ति–क्षमा से जीता जाये और शत्रुओ को भी मित्र बना लिया जाये । शत्रुता जब मित्रता के रूप में परिणत हो जाती होगी तब कैसा अनिर्वचनीय आनन्द आता होगा !

यह तो शास्त्र की बात हुई । इतिहास मे भी ऐसे उल्लेख देखने–जानने को मिलते हैं । उदयपुर के पृथ्वीराजजी

और उनके काका सूरजमलजी दिन भर एक दूसरे के साथ युद्ध करते थे और शाम के समय दोनों एक साथ बैठ कर भोजन करते थे और फिर युद्ध के लगे हुए एक दूसरे के घावों पर पट्टी बांधते थे। परन्तु आजकल तो लोगो के मन इतने अधिक सकुचित तथा मलीन हो गये हैं कि साधारण-सी बात में भी क्लेश करने लगते हैं।

कषाय को जीतने का सरल मार्ग यह है कि वैरी को भी अपना हितैषी समझ लिया जाये। शत्रु भी मित्र की भाँति हमारा उपकार करता है, ऐसा समझकर उसके प्रति सद्भाव प्रकट करने चाहिए। पैर में चुभे हुए कांटे को निकालने के लिए सुई चुभोनी पड़ती है या डाक्टर ऑपरेशन करता है तो क्या उन पर नाराजगी प्रकट करनी चाहिए ? नहीं। लोग यही मानते हैं कि डाक्टर हमारा हित करता है। जिस प्रकार डाक्टर पीडा पहुचाने पर भी हितैषी माना जाता है उसी प्रकार तुम्हारा वैरी भी तुम्हारा हित करता है। ऐसा मानो और उसके प्रति वैरभाव न रखो तो तुम अवश्य ही कषाय को जीत सकोगे। कषाय को जीतने से आत्मकल्याण होगा।

कषाय को जीतने से क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है—कषाय को जीतने से जीवात्मा वीतरागभाव प्राप्त करता है। अतएव जो जितने अश में कषाय को जीतता है वह उतने ही अश में वीतरागभाव उत्पन्न करता है। हा, यह स्मरण रखना चाहिए कि विवेकपूर्वक कषाय को जीतने से ही फल की प्राप्ति होती है। कषाय जीतने के बहाने जीवन मे कायरता न आ जाए, इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

कायर कषाय को नही जीत सकता । 'कमजोर गुस्सा बहुत' लोकोक्ति तो प्रसिद्ध ही है । शक्ति होने पर भी क्षमा धारण करने मे ही वीरता है । शक्तिहीन क्षमा कायरता का रूप धारण कर लेती है । इसीलिए कहा गया है –'दाणं दरिद्दस्स खमा पभुस्स ।' अर्थात दरिद्रावस्था मे दिया गया दान और प्रभुता होने पर की गई क्षमा विशेष महत्वपूर्ण है । अशक्ति के कारण क्रोध को दबा रखना और मन ही मन दुर्भाव रखना तथा खोटे सकल्प-विकल्प करना कषाय जीतने का सच्चा मार्ग नही है ।

कितने ही लोग कषाय को न जीतने पर भी कह देते है कि हमने कषाय जीत ली है और हमारे भीतर वीतराग-भाव विद्यमान है । ऐसा कहने वालो की परीक्षा करने की, शास्त्र मे एक युक्ति बतलाई है । वह युक्ति यह है कि जिन्होने कषाय पर विजय प्राप्त कर ली होती है, उनके लिए सुख और दुःख एक सरीखे हो जाते है । कषायविजयी का धर्म बतलाते हुए मृगा माता ने मृगापुत्र से कहा था. –

लाभालाभ सुह दुक्ख जीवियं मरण तहा ।
समं निदापसंसासु तहा माणावमाणओ ॥

अर्थात् – लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा, प्रशसा, तथा मान-अपमान वगैरह मे जो समभाव रखता है, वही सच्चा कषाय-विजयी मुनि है ।

जिस प्रकार साधुओ को समानभाव रखने का उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार श्रमणोपासको भी यह उपदेश जीवन मे उतारना है ।

कहने का आशय यह है कि श्रमणोपासको को भी

श्रमणों के समान सुख और दुःख मे, लाभ और अलाभ में तथा निन्दा और प्रशंसा मे समभाव–समानवृत्ति रखने का अभ्यास करना चाहिए। समानवृत्ति कषाय-विजय की चाबी है। सामायिक आदि छह आवश्यक भी कषाय पर विजय प्राप्त करने के लिए ही प्रतिदिन किये जाते हैं। तुम श्रमणोपासक हो अर्थात् समभाव के उपासक हो। अतएव समानभाव का अभ्यास करो और कषाय जीतने का प्रयत्न करो। इसी मे तुम्हारा कल्याण है।

कषाय को जीतने से वीतरागभाव प्रगट होता है। वीतरागमार्ग जिन भगवान् का मार्ग है। जैन का अर्थ भी 'विजेता' होता है। रागद्वेष और कषाय पर विजय प्राप्त करने वाला ही सच्चा जैन है और वही वीतराग के मार्ग पर चलने वाला है। जो नाम से जैन है उसे काम से भी बनना चाहिए। जिस मनुष्य के जीवन मे सच्चा जैनत्व प्रकट होता है, वह अपने कषाययुक्त जीवन को निष्कषाय बना लेता है और अन्त मे सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होता है। कषायो पर विजय प्राप्त करने मे सच्चा जैनत्व छिपा है। यह जैनत्व ही जैन-जीवन है और जैन–जीवन जीने मे ही कल्याण है।



सैंतीसवां बोल

योगप्रयाख्यान



जीवात्मा के गुणो का विकास क्रमपूर्वक होता है, शास्त्र का वर्णन भी क्रमपूर्वक है। जब आत्मा अपने गुणो का विकास करके तेरहवे गुणस्थान तक पहुच जाता है, तब आत्मा मे कषाय नही रहता किन्तु योग बना रहता है। ईर्यापथिकि की क्रिया तेरहवे गुणस्थान में होती है, यद्यपि वह सूक्ष्म होती है। जो योग तेरहवें गुणस्थान में भी रहता है, वह क्या है ? और उस योग का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? इस सम्बन्ध मे गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं —

मूलपाठ

प्रश्न — जोगपच्चाक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर — जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ अजोगी ण जीवे नव कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥३७॥

शब्दार्थ

प्रश्न — भगवन् ! योग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है।

उत्तर–योग (मन, वचन और काय के व्यापार) का त्याग करने से जीव अयोगी (मन, वचन, काय के व्यापार से रहित) होता है, और ऐसा अयोगी जीव नवीन कर्मों का बध नही करता और पहले बाधे हुए कर्मो कर्मों को सर्वथा दूर कर देता है।

व्याख्यान

इस सारगर्भित सूत्र पर विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि जीव और कर्म का आपस मे क्या सम्बन्ध है? और इस सम्बन्ध का विच्छेद करके जीव किस प्रकार निष्कर्म बन सकता है? योग कर्मबध का प्रधान कारण है अतः यह विचार कर लेना आवश्यक है।

कुछ लोगो का कहना है कि जब जीव और कर्म का प्रबध अनादिकाल से है तो फिर जीव कर्मबधन से किस प्रकार विमुक्त हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्म अनादिकाल से नही है। कर्म बदलते रहते हैं, अतः कर्मों का धारावाहिक प्रवाह ही अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे नदी का धारा-प्रवाह चल रहा है। इस जलधारा मे पानी बद्ध होकर नही रहता, बदलता रहता है। फिर भीतर-ऊपर पानी आता–जाता रहने के कारण धारा प्रवाह भग नही होता। इसी प्रकार कर्म भी जाते-आते रहते है, फिर भी कर्मों का प्रवाह भग नही होता, और इसी कारण कर्म अनादिकालीन कहलाते हैं। परन्तु वास्तव मे कोई भी एक कर्म अनादिकालीन नही होता। कर्मों के इस चलते हुए प्रवाह को अगर रोक दिया जाये तो कर्मों का आगमन रुक जाता है। जैसे ऊपर से आने

वाले नदी के पानी को रोक दिया जाये तो नदी का धारा-प्रवाह बन्द हो जाता है, उसी प्रकार यदि आते हुए कर्मों को रोक दिया जाये तो कर्मों का धारावाहिक प्रवाह भी बन्द हो जाता है और कर्म क्षीण भी हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मों के आस्रव को बन्द करने से कर्मों का धारा-प्रवाह भी बन्द हो जाता है और कर्मों का अन्त हो जाने से जीवात्मा कर्मरहित बन जाता है।

शास्त्र कहते हैं—आते कर्मप्रवाह को रोक देने से जीव कर्मरहित बन जाता है। जीवात्मा को कर्मरहित बनाने के लिए पहले सम्यक्त्व द्वारा मिथ्यात्व को रोकने की आवश्यकता है, अव्रत को व्रत-प्रत्याख्यान द्वारा रोकने की आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रमाद को अप्रमाद से तथा कषायो को क्षमा आदि से रोक देना आवश्यक है। कषायो को रोक दिया जाये तो सिर्फ योग ही शेष रह जाता है। इस योग का निरोध करने से जीव कर्मरहित बन जाता है।

आज तात्त्विकज्ञान की बहुत ही कमी दिखाई देती है। मगर जीवन मे तात्त्विकज्ञान की खास आवश्यकता है। आज बहुत से लोगो को तो चौदह गुणस्थानो के नाम तक नही आते। किन्तु जीव और कर्म का सम्बन्ध जानने के लिए तत्त्वज्ञान की और उस तत्त्वज्ञान को जीवन मे सक्रिय रूप देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

जीव को कर्मरहित बनाने के लिए कषाय का सर्वथा क्षय करना आवश्यक है। परन्तु कषाय का सर्वथा क्षय तो बारहवें गुणस्थान में होता है और उसके बाद जीवात्मा तेरहवें गुणस्थान मे जाता है। बारहवें गुणस्थान की स्थिति

अन्तमुहूर्त की है और तेरहवे गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त्त की और उत्कृष्ट कुछ कम करोड पूर्व की है। इस तेरहवे गुणस्थान मे पहुचने पर भी योग बाकी रह जाता है। अतएव गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा कि योग का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—जो जीव योग का त्याग करता है, वह अयोगी होता है। जीव अयोगी हुए बाद नवीन कर्म नही बाधता और पुराने कर्मों का नाश करता है।

योग के त्याग पर विचार करें इससे पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि योग क्या है और योग का त्याग किसलिए आवश्यक है?

शास्त्रीय भाषा मे योग का लक्षण कहा है—

कायवाड्मनःकर्म योगः।

अर्थात्—मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहते हैं।

'योग' शब्द युजि योगे धातु से निष्पन्न हुआ है। ग्रथो मे योग के पाच भेद बतलाये गये हैं—१-क्षिप्तवृत्ति, २-मूढवृत्ति, ३-विक्षिप्तवृत्ति, ४-एकाग्रवृत्ति, और ५-निरोधवृत्ति।

जिसमे रागद्वेष के कारण चचलता रहती है और जिसमे रजोगुण की प्रधानता रहती है, उसमें क्षिप्तवृत्ति रहती है।

जो ऊपर से शान्त मालूम होता है पर वास्तव में

शान्त नही है उसे मूढ कहते है । इस प्रकार जिसमें आलस्य, निद्रा आदि की तथा तमोगुण की प्रधानता रहती है, उसमे मूढवृत्ति होती है ।

जिस अवस्था में सतोगुण का प्रकाश तो हो परन्तु उस प्रकाश पर रजोगुण और तमोगुण की छाया बार-बार पडती रहती हो, वह विक्षिप्त अवस्था कहलाती है ।

इस प्रकार क्षिप्तवृत्ति, मूढवृत्ति और विक्षिप्तवृत्ति द्वारा आत्मा का विकास नही होता । आत्मा का विकास करने के लिए आत्मा को एकाग्रवृत्ति और निरोधवृत्ति का अभ्यास करने की आवश्यकता है ।

एकाग्रवृत्ति कैसी होती है इसे समझाने के लिए दीपक का उदाहरण दिया गया है । निश्चल दीपक की शिखा स्थिर होने के कारण डगमगाती नजर नही आती । परन्तु वह शिखा प्रकाश की अपेक्षा स्थिर दिखाई देने पर भी पुद्गल की दृष्टि से तो अस्थिर ही है । उस शिखा के परमाणु निरन्तर बदलते रहते हैं । दीपक का तेल समाप्त हो जाता है, यही शिखा के बदलते रहने का प्रमाण है । ज्ञानीजनो का कथन है कि एकाग्रावस्था मे शिखा की भांति स्थिरता जान पड़ती है तथापि उस अवस्था मे भी थोडी चचलता रहती ही है । एकाग्रावस्था मे थोडी-बहुत जो चचलता रहती है, वह निरोधवृत्ति से ही दूर हो सकती है । निरोधवृत्ति मे समाधिभाव रहता है । इस प्रकार एकाग्रवृत्ति और निरोधवृत्ति आत्मा को निश्चल बनाती है और इन दो वृत्तियो द्वारा मन, वचन तथा काय का व्यापार बद किया जाता है । तभी आत्मा समाधिभाव प्राप्त

कर सकता है ।

तेरहवे गुणस्थान तक एकाग्रवृत्ति रहती है । पाँचवीं निरुद्धावस्था या निरोधवृत्ति चौदहवें गुणस्थान मे पहुचने के बाद आती है । यह वृत्ति थोडे समय तक ही रहती है । श्रीभगवतीसूत्र और उववाईसूत्र मे धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के नाम से गभीर विचार किया गया है ।

कहने का आशय यह है कि जब आत्मा अपने गुणों का विकास करके तेरहवें गुणस्थान से चौदहवे गुणस्थान मे पहुचता है, तब उस अवस्था में आत्मा यदि मन, वचन तथा काय के योग का त्याग कर दे तो आत्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया – योग का त्याग करने से आत्मा अयोगी बनता है और अयोगी होने के बाद वह पुराने कर्मों का नाश करता है तथा नवीन कर्मों का बध नही करता इस प्रकार आत्मा जब अयोगी बनता है तब ईर्यापथिक क्रिया द्वारा लगने वाले कर्म भी बद हो जाते हैं और भवोपग्राही चार कर्म अर्थात् आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीयकर्म भी नष्ट हो जाते हैं । इन चार कर्मों के नष्ट होते ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है ।

यह तो योगनिरोध अथवा योग का त्याग करने से होने वाले लाभ की बात हुई । मगर यह विचार करना आवश्यक है कि हमे करना क्या चाहिए ? योग का निरोध करने की शक्ति न हो तो क्षिप्तवृत्ति, मूढवृत्ति तथा विक्षिप्तवृत्ति को तो दूर करने का क्रमशः प्रयत्न करना ही चाहिए ।

कई लोग विक्षिप्तावस्था में आनन्द मानते है और नाटक, सिनेमा देखकर अपने जीवन को धन्य मानते हैं। परन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि नाटक-सिनेमा आदि मे वास्तविक आनन्द नही है। यह तो विक्षिप्त अवस्था है। कितने ही पढे-लिखे लोग भी विक्षिप्तावस्था मे लीन रहते हैं। धन आदि के उपार्जन मे धर्मकर्म को भी भूल जाते है। अगर शिक्षित लोग भी आत्मधर्म को न समझें तो उनका शिक्षण किस काम का ? सच्ची विद्या तो वही है जिसके द्वारा मनुष्य बधन से मुक्त हो जाये। शिक्षा का सच्चा फल तो आत्मा को उन्नत बनाने में तथा एकाग्रता और निरुद्धावस्था प्राप्त करना ही है। चचल चित्त का निरोध करने मे शिक्षा का सदुपयोग किया जाये तो ठीक है, वर्ना शिक्षा से कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता।

मनुष्य और पशु का अन्तर तो स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु कई बार मनुष्य, पशु से भी अधिक पतित बन जाता है। जो मनुष्य सिर्फ खान–पान मे ही रचा–पचा रहता है और जरा भी धर्मकर्म नही करता, वह मनुष्य पशु से भी अधिक पतित कहा जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि हम मिष्ट तथा विशिष्ट भोजन करने के कारण मनुष्य हैं! इस कथन के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि भोजन तो पशु भी करता है, पर उसमे सार–असार का विवेक नही होता। मनुष्यसमाज विवेकज्ञान के कारण ही पशुओ और पक्षियों से ऊचा है। मनुष्य मिष्ट और विशिष्ट भोजन करके फूला नही समाता परन्तु वह जो भोजन करता है उस भोजन के निर्माण का

विज्ञान उसमें नहीं है। मधुमक्खियों में मधु उत्पन्न करने का जो विज्ञान है, वह मनुष्यों में कहाँ है ? मधुमक्खियां फूलो मे से रस ले-लेकर जैसा मधु तैयार करती है, वैसा मधु क्या मनुष्य तैयार कर सकता है ? मधुमक्खियां मधु पैदा करना भी जानती हैं और मधु का संग्रह करना भी जानती हैं। सर्वप्रथम मधुमक्खियाँ छत्ता बनाती हैं और उसमें बराबर के खाने बनाकर थोडा-सा मोम लगाती है और फिर उसमें मधु भरती हैं। मधुमक्खियों की यह कला मनुष्य के विज्ञान को भी लज्जित कर देती है। मधुमक्खियां छत्ता बनाने मे कुशल कारीगर के समान कला का उपयोग करती हैं और अपनी कुशल कारीगरी का परिचय देती हैं। इसके अतिरिक्त वे मिल-जुल कर काम करती हैं। उनकी कार्यव्यवस्था बडी सुन्दर होती है। मधुमक्खियों की एकता, सुघडता, कार्यव्यवस्था और तन्मयता आदि गुण मनुष्य-समाज को सीखने योग्य हैं।

कहने का आशय यह है कि मनुष्य को प्रत्येक काम विवेकपूर्वक करना चाहिए। जो मनुष्य विवेकज्ञान का उपयोग न करके सिर्फ खाने पीने में, नाटक-सिनेमा देखने मे तथा सासारिक सुख भोगने मे ही अपने जीवन की इतिश्री समझ बैठता है, उसमे और पशु मे कुछ अन्तर नहीं। मनुष्यों और पशुओ मे धर्म तथा विवेकज्ञान का ही अन्तर है। अगर मनुष्यो मे विवेकज्ञान न हो और धर्मबुद्धि न हो तो उनमे और पशुओ में कुछ अन्तर नही। विवेकहीन मनुष्य की अपेक्षा तो मधुमक्खियां चतुर हैं। कहना चाहिए कि विवेकहीन पुरुष से उद्यमशील मधुमक्खियां अनेक गुणा अच्छी हैं। इन मक्खियो के उद्योगमय जीवन से एक शिक्षा

तो अवश्य ग्रहण करने योग्य है। यह शिक्षा जीवन को उद्यमशील बनाने की है। कहा भी है: —

माखी होए मध कीधुं, न खाधुं न दान दीधुं।
लूटनारे लूटी लीधुं रे, पामर प्राणी चेते तो चेतावुं तोने रे॥

मधुमक्खियां मेहनत करके मधु तैयार करती है और उसका संग्रह करती हैं। वे न स्वयं मधु खाती हैं और न किसी को देती ही हैं। फिर क्या उनका बनाया मधु पड़ा रहता है? नही। लुटेरे लोग आते हैं और उनके परिश्रम-पूर्वक तैयार किये मधु को लूट ले जाते है।

बहुत से लोग प्रसन्नता के साथ मधु खाते हैं परन्तु उन्हे यह पता नही होता कि मधु आता कहा से है? वे तो मधुमक्खियो के परिश्रम से संगृहीत मधु लूट कर अपने शरीर को हृष्टपुष्ट बनाते है। किन्तु जिस प्रकार वे दूसरों की चीज लूटकर खाते है, उसी प्रकार दूसरे लोग उन्हें नही लूट ले जाएंगे, इसका क्या विश्वास है? कहा भी है—

काल वैताल की धाक तिहुं लोक मे,
देव दानव घरे रोल घाले।

अर्थात् कराल काल सब के मस्तक पर घूम रहा है। इस भयंकर काल के पंजे मे से कोई छूट नही सकता। इस प्रकार जब सभी लोग काल के गाल मे फसे हैं तो फिर अभिमान किस बात का करते हैं? अभिमान करने से आखिर पश्चात्ताप करने का ही अवसर आता है यह बात ध्यान मे रखकर अभिमान का त्याग करना चाहिए और मानवशरीर का सदुपयोग करना चाहिए।

मानव-जीवन अस्थिर है। आयु जल की हिलोर के समान चचल है। कवि ने ठीक कहा है कि—

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग आयुष्य ए तो जलना तरंग।
पुरन्दरीचाप अनग रग, शुं राचीए त्यां क्षणिक प्रसंग॥

जीवन की ऐसी अस्थिरता मे मनुष्य का अभिमान करना मूर्खता ही है। मनुष्य अभिमान करके बहुत बार अपनी मूर्खता का प्रदर्शन करता है। मान लो किसी मेढक को साप ने पकड लिया है। मेढक का आधा मुख साप के मुख मे है और आधा बाहर है। फिर भी वह मेढक अपना मुह फाडकर मक्खियो का पकडना चाहता है। अगर तुम मेढक को ऐसा करते देखो तो उसे मूर्ख की पदवी देते देर नही करोगे। लेकिन तुम स्वय कराल काल-सर्प के मुह में फसे हो, फिर भी अभिमान करते हो ! यह मूर्खता नही तो क्या है ? मनुष्य को विवेकज्ञान मिला है। वह सार-असार, हित-अहित का विचार कर सकता है। अतएव तुम अपने विवेक का सदुपयोग करो। इसी मे कल्याण है।



अड़तीसवां बोल

शरीरप्रत्याख्यान

योग का प्रत्याख्यान करने से होने वाले लाभ का विचार किया जा चुका है। यहाँ शरीर-प्रत्याख्यान के विषय मे विचार करना है। गौतम स्वामी शरीर-प्रत्याख्यान के विषय मे भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न – सरीरपच्चक्खाणेण भंते ! जीवे किं जणयइ?

उत्तर सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धातिसयगुणकित्तण निव्वत्तेइ, सिद्धातिसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न भगवन् ! शरीर के प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है।

उत्तर—शरीर के प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव सिद्ध के अतिशय (उच्च) गुणभाव को प्राप्त करता है और सिद्ध

के अतिशय गुण से सम्पन्न होकर वह जीवलोक के अग्रभाग मे जाकर परम सुख प्राप्त करता है। अर्थात् सिद्ध (समस्त कर्मों से मुक्त) हो ज ता है।

व्याख्यान

यहां एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। वह यह है कि जब योग के त्याग के विषय मे विचार किया जा चुका है और वहा स्पष्ट कर दिया गया है कि योग मे मन, वचन और काय इन तीनो का समावेश होता है तो फिर यहा शरीर के प्रत्याख्यान के सम्बन्ध मे अलग प्रश्न किस उद्देश्य से किया गया है ? इस विचारणीय प्रश्न का स्पष्ट उत्तर तो कोई महापुरुष ही दे सकता है। मैं अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता हू।

मेरी समझ मे, जान पडता है ज्ञानीजनो ने शरीर और काययोग में अन्तर देखा है। इस बात का प्रमाण यह है कि शास्त्र मे जहा दस प्राणो का उल्लेख किया गया है वहां इन्द्रियबल को प्राण तथा कायबल को भी प्राण माना गया है। परन्तु जब कायबल को प्राण कह दिया गया तो फिर इन्द्रियवल को अलग प्राण मानने की क्या आवश्यकता थी ? कायबल और इन्द्रियबल की गणना अलग-अलग की गई है इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानीजनो ने इन्द्रिय-वल मे और कायबल मे अवश्य ही कोई अन्तर देखा तथा जाना है।

इन्द्रिया दो प्रकार की होती हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावे-न्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय होने पर भी अगर भावेन्द्रिय न हो तो

द्रव्येन्द्रिय निरर्थक होती है। इस प्रकार ज्ञानीजनों ने इन्द्रियो मे तथा काय में भिन्नता देखी है और इसी कारण योगप्रत्याख्यान के साथ ही शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में अलग प्रश्न किया है।

अब यह देखना है कि ज्ञानीजन इन्द्रियदमन करने का जो कथन करते हैं सो इसका अर्थ क्या है ? इन्द्रिय-दमन करना अर्थात् क्या इन्द्रियो को नष्ट कर देना ? 'इन्द्रिय-दमन करो' का अर्थ इन्द्रियो को नष्ट कर दो; ऐसा नहीं है। इन्द्रियो को दुष्प्रवृत्ति मे से पृथक् करके सत्प्रवृत्ति मे नियोजित करना इन्द्रियदमन का अर्थ है। जैसे घोडे को दमन करने के लिये कहा जाता है। मगर इसका अर्थ यह नही कि घोडे के पैर काट दिये जाएं। इसका अर्थ यह होता है कि घोडे को यह सिखाया जाये कि वह खराब चाल न चले। इसी प्रकार इन्द्रियो के दमन का अर्थ इन्द्रियो का नाश कर देना नही, वरन् इन्द्रियो को खराब मार्ग पर जाने से रोककर सत्प्रवृत्ति मे नियोजित करना है।

कहने का आशय यह है कि शरीर और काययोग में ज्ञानियो ने थोडा अन्तर देखा है और इसी कारण योग-प्रत्याख्यान के प्रश्न के बाद शरीरप्रत्याख्यान के विषय में प्रश्न किया गया है।

शरीर की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'शीर्यते इति शरीरम्।' अर्थात् जो प्रतिक्षण शीर्ण होता जाये, वह शरीर है। प्रतिक्षण पलटते रहना शरीर का स्वभाव है। आज के वैज्ञानिकों का भी कहना है कि बारह वर्ष में शरीर के समस्त परमाणु पलट जाते है। आज के वैज्ञानिक तो

बारह वर्ष में शरीर के परमाणुओ का पलट जाना कहते हैं, मगर ज्ञानीजन तो कहते हैं कि शरीर के परमाणु प्रतिक्षण पलटते रहते हैं। शरीर का यह परिवर्तन दो प्रकार से होता है - अनुकूल और प्रतिकूल। उदाहरणार्थ--एक ही प्रकार का भोजन कभी अनुकूल गुण पैदा करता है और कभी-कभी प्रतिकूल गुण उत्पन्न करता है। अगर भोजन करने में सावधानी रखी जाये तो भोजन शरीर को अनुकूल गुण देता है--लाभ पहुचाता है, अन्यथा वही भोजन शरीर को हानिकारक हो जाता है। एक अनुभवी का कथन है कि भूख के कारण लोग इतने नही मरते, जितने अतिभोजन, अनिष्ट भोजन तथा अभक्ष्य भोजन के कारण मरते हैं। कितने ही लोग तप-उपवास तो कर लेते हैं परन्तु बाद में भोजन पर सयम रखना उनके लिए कठिन हो जाता है। भोजन के विषय में विवेक तथा सयम रखने वाले तथा रसास्वाद सम्बन्धी लोलुपता को जीतने वाले विरले ही दिखाई देते हैं। कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते है जो तप करने के बाद भोजन करने में सावधानी नही रखते और जब परिणाम अच्छा नही आता तो कहते है कि तपश्चर्या से हानि हुई है। किन्तु यह बात हमेशा हृदय मे जमा रखनी चाहिए कि तपश्चर्या से त्रिकाल मे भी कभी हानि नहीं हो सकती। शरीर को जो हानि होती है, वह तपश्चर्या से नही, भोजन सम्बन्धी असावधानी के कारण ही होती है।

शरीर और काय मे अन्तर है और इसी कारण इन दोनो के विषय मे अलग-अलग प्रश्न किया गया है। काय शक्तिविशेष को कहते हैं और इन्द्रिया तथा मन जिसमे रहता है अथवा जिसका व्यवहार इन्द्रियो और मन द्वारा चलता

है वह शरीर है। कितने ही लोग शरीर को क्षेत्र भी कहते हैं ज्ञानीजन कहते हैं—जब आत्मा शरीरहीन हो जाता है तब शरीर के साथ रहने वाले विकार भी नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानीजन शरीर का प्रत्याख्यान करने के लिए कहते है। परन्तु यह विचार करना आवश्यक है कि शरीर का त्याग किस प्रकार करना चाहिए ? शरीर त्याग करने का अभिप्राय यहा यह नही है कि फासी लगाकर शरीर त्याग दिया जाये। ऐसा करने से तो आत्महत्या हो जायेगी। फासी लगा कर मर जाना शरीरप्रत्याख्यान करना नही है। प्रत्याख्यान शब्द प्रति+आ उपसर्ग लगाकर ख्या धातु मे बना है। इस शब्द का अर्थ यह है कि किसी वस्तु का इस प्रकार त्याग करना कि त्यागी हुई वस्तु के प्रति फिर ममता ही न रह जाए। उदाहरणार्थ–धन का त्याग दो प्रकार मे होता है। एक तो दान देने से धन का त्याग होता है, दूसरे किसी को उधार देने मे भी त्याग होता है। दोनो प्रकार के इस त्याग मे बहुत अन्तर है। दान मे धन का जो त्याग किया गया है उसमे धन के प्रति ममत्व नही रहता, मगर उधार दिये धन के प्रति ममता बनी रहती है। दान आदि सत्कार्य मे व्यय किये हुए धन के प्रति ममत्व न रहने के कारण धन का वह सच्चा त्याग है। उधार दिये हुए धन के पीछे और अधिक धन पाने की ममत्वबुद्धि रहती है। अतः वह सच्चा त्याग नही है। यह तो स्पष्टतः धनमोह है। जहा मोह-ममत्व होता है वहा त्याग या प्रत्याख्यान नही हो सकता। अत शरीर सम्बन्धी मोह-ममता का त्याग करना ही शरीरप्रत्याख्यान कहलाता है। आखिरकार सभी को शरीर का त्याग करना पड़ता है। शरीर अस्थिर है।

वह हमेशा टिका नही रहता। परन्तु जो आत्मा शरीर की अस्थिरता समझकर शरीर पर से मोह-ममता उतार देता है- शरीर का त्याग कर देता है वह निर्मोही शरीरत्यागी आत्मा; विदेही बनकर सिद्धत्व के गुण प्राप्त करता है और सिद्ध भगवान् की कोटि मे पहुच जाता है। निर्मोही बनकर शरीर का त्याग करने से सिद्धि प्राप्त होती है। शरीर-त्याग से जीव मुक्ति प्राप्त करने का अपूर्व लाभ पा लेता है।

जब शरीर के त्याग के विषय मे प्रश्न चल रहा है तो यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि शरीर क्या है ? और उसके कितने प्रकार हैं ?

जिसका स्वभाव ही जीर्णशीर्ण होने का है, वह शरीर है। शरीर के पांच प्रकार हैं—(१) औदारिकशरीर (२) वैक्रिय शरीर (३) आहारक शरीर (४) तैजस शरीर (५) कार्मण शरीर। संक्षेप मे शरीर दो प्रकार का है—सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। सूक्ष्म मे अर्थात् कार्मण शरीर में सभी सस्कार विद्यमान रहते हैं। जैसे एक सजीव बीज में सारा वृक्ष विद्यमान रहता है। बीज तो वृक्ष से पृथक् होकर नीचे गिर जाता है, फिर भी उस बीज मे वृक्ष के सब सस्कार रहते ही हैं। वह बीज पृथ्वी, पानी आदि का सयोग मिलते ही विकसित हो जाता है और वह छोटा-सा बीज ही क्रमशः वृक्ष का रूप धारण करता है। इसी प्रकार ममता-पूर्वक शरीर का त्याग करने पर भी सूक्ष्म कार्मण शरीर आत्मा के साथ रहता है और उसमे जीव के सभी संस्कार विद्यमान रहते हैं और संयोग मिलते ही वे सस्कार शारी-रिक रूप धारण कर लेते हैं। जैसे वट वृक्ष का बीज प्रमाण

में तो बहुत ही छोटा होता है परन्तु उस छोटे-से बीज में ही विशालकाय वट वृक्ष के समस्त सस्कार विद्यमान रहते हैं। बाह्य दृष्टि से तो बीज मे वट वृक्ष का स्वरूप दिखाई नही देता परन्तु पृथ्वी-पानी आदि का सयोग प्राप्त होते ही वह छोटा-सा बीज वट वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार कार्मण शरीर मे भी जीव के सब सस्कार मौजूद रहते है।

अगर कोई पूछे कि कार्मण शरीर कहा है और उसमें जीव के सब सस्कार कहा रहते है ? ऐसा पूछने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि जब अष्टस्पर्शी बड के बीज मे रहे हुए वृक्ष के सस्कार दिखाई नही देते तो फिर चतुस्पर्शी कार्मण शरीर मे जीव के सस्कार कैसे देखे जा सकते है ? अतएव कार्मण शरीर को प्रत्यक्ष देखने का दुराग्रह अनुचित है। इसके सिवाय, अपनी स्थूल दृष्टि से सूक्ष्म कार्मण शरीर तो दिखाई भी नही दे सकता।

कहा जा सकता है कि जब पुरातन कर्मसस्कार हमारे साथ ही हैं तो फिर उन कर्मसस्कारो को नष्ट करने का पुरुषार्थ करने क्या लाभ ? इसका उत्तर यह है कि सक्रमण हो सकता है। जैसे वृक्ष मे सुधार हो सकता है, उसी प्रकार कर्मसस्कार भी बदले जा सकते हैं। पुण्य–पाप कर्म मे भी सक्रमण हो सकता है। कर्म की रस और प्रकृति आदि का भी घात हो सकता है। बीज मे अच्छी शक्ति मौजूद होने पर भी असावधानी रखने के कारण वह शक्ति नष्ट हो जाती है अथवा खराब हो जाती है; और इसके विपरीत बीज मे अच्छी शक्ति न होने पर भी सावधानी के

कारण तथा प्रयत्न करने से बीज मे अच्छी उत्पादन शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार अच्छे कर्म भी प्रमाद तथा असावधानी के कारण खराब कर्म बन जाते हैं और सावधानी तथा सतर्कता के कारण खराब कर्म भी अच्छे कर्म बन जाते है। विज्ञान द्वारा वृक्षो का सुधार किस प्रकार हो सकना है, इस विषय मे तुमने शायद सुना होगा। सुना है, गोभी का शाक पहले कटुक होता था, परन्तु वैज्ञानिक रीति से उसमे सशोधन किया गया। तब कड़ुवा शाक भी मीठा बन गया। आम भी आजकल हरएक मौसम मे मिलता है। इसका क्या कारण है ? इसका कारण भी वैज्ञानिक सुधार ही है। शास्त्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु का उपक्रम होता है। वह उपक्रम दो प्रकार का है—परिक्रम अर्थात् सुधार और दूसरा वस्तुविनाश। यह दोनो प्रकार का उपक्रम द्विपद, चतुष्पद तथा अपद इन तीनो का होता है। वृक्ष अपद है अत उसका भी उपक्रम होता है।

भारतवर्ष मे आज वस्तुविनाश की ओर जितना लक्ष्य दिया जाता है, उतना परिक्रम-सुधार की ओर नही। इसके विपरीत विदेशी विद्वान विज्ञान द्वारा वस्तु का परिक्रम करते ही रहते हैं। सुना है, अमेरिका मे ले जाई गई भारतीय गाय प्रतिदिन १६० रतल दूध देती है। मगर भारत मे, भारत ही की गाय इतना दूध क्यो नही देती ? इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीय लोगो का ध्यान वस्तु के परिक्रम की ओर गया ही नही है। आज विदेशियो ने जो वैज्ञानिक उन्नति की है, उसका मुख्य कारण यह है कि परिक्रम की ओर उनका लक्ष्य है। भारतीय अगर वैज्ञानिक ढग से वस्तु का परिक्रम करें तो भारत भी उन्नत बन सकता है।

कहने का आशय यह है कि अन्य वस्तुओं की तरह कर्म का भी उपक्रम हो सकता है। अगर कर्म का उपक्रम न होता तो कोई मोक्ष में ही नहीं पहुच सकता। कर्म नष्ट किये जा सकते हैं और इसलिए भगवान् ने कहा है—चौदहवें गुणस्थान मे पहुचकर आत्मा अशरीर बन कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

कुछ लोगो का कहना है कि सिद्ध होने के बाद आत्मा शून्यरूप हो जाता है। अर्थात् सिद्ध होने के पश्चात् आत्मा सिद्धगति मे शून्य सरीखा हो जाता है। परन्तु यह बात भ्रमपूर्ण है। सिद्ध होने पर आत्मा पूर्णज्ञानी बन जाता है, और इन्द्रिय तथा शरीर न होने पर भी वह सिद्ध होकर रहता है। सिद्ध का स्वरूप कैसा होता है; यह बात श्री-आचारांगसूत्र मे कही है:—

से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरसे, न परिमडले, न कण्हे, न नीले, न लोहिए न हलिद्दे, न सुक्किले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थे, न पुरिसे, न अन्नहा परिन्ने सन्ने। उवमा न विज्जइ। अरूवी सत्ता अपयस्य पयं नत्थि॥

अर्थात्—आत्मा लम्बा नही, छोटा नही, गोल नही, तिकोना नही, चौकोर नही, मडलाकर नही, काला नही, नीला नही, लाल नही, पीला नही, सफेद नही, सुगंधित नही, दुर्गंधित नही, तिक्त नही, कटुक नही, कसैला नही, खट्टा नही, मीठा नही, कठोर नही, कोमल नही, भारी नही, हल्का नही, ठंडा नही, गर्म नही, रूखा नही, चुपड़ा नही,

रूक्ष नही, चिकना नही, स्त्री नही, पुरुष नही, नपुसक नही। वह ज्ञाता है, विज्ञाता है। उसकी कोई उपमा नही है। वह अरूपी सत्ता है। वह अनिर्वचनीय है शब्दातीत है।

भावार्थ यह है कि जिसमे वर्ण, रस, गँध और स्पर्श की पर्याय नही होती, वह सिद्ध है। इससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वर्ण, रस, गध तथा स्पर्श का सम्बन्ध शरीर के ही साथ है। अशरीर हो जाने के बाद वर्ण आदि का सम्बन्ध नही रहता।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि सिद्धात्मा मे अगर वर्ण आदि कुछ भी नही है तो वह किस प्रकार के है? इस प्रश्नकर्त्ता से यह प्रश्न करना चाहिए कि जिस वस्तु में वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्श नही होते, वह वस्तु कैसी होती है? इस प्रश्न का जो उत्तर हो, वही उत्तर प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का समझना चाहिए।

उदयपुर मे एक वकील के साथ मेरा वार्तालाप हुआ था। वकील आत्मा को प्रत्यक्ष बताने के लिये कहते थे। मैंने उनसे कहा—'आप अग्रेजी पढे है? उन्होने उत्तर दिया 'हा, मैं अगरेजी पढा हू।' तब मैंने उनसे कहा—आप अपने मस्तिष्क मे से अग्रेजी निकालकर नही बता सकते तो फिर अरूपी आत्मा किस प्रकार बतलाया जा सकता है? शास्त्र मे आत्मा के विषय मे कहा है—

तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया।

अर्थात्—आत्मा की सिद्धि के लिए तर्क काम नही आते और बुद्धि की भी आत्मा तक पहुच नही है।

आत्मा बुद्धिगम्य नही हैं, इसी कारण उसके विषय मे 'नेति नेति' कहा गया है। असल मे पूर्ण वस्तु का वर्णन हो ही नही सकता। आज आत्मा का जो वर्णन मिलता है, वह अपूर्ण है। तिजोरी बडी होती है और चाबी छोटी सी। फिर भी इस छोटी-सी चाबी से तिजोरी खोली जा सकती है और उसमे रखा हुआ माल लिया जा सकता है, इसी प्रकार शास्त्र मे आत्मा रूपी तिजोरी को चाबी रूप जो भी थोड़ा-सा वर्णन मिलता है, उस वर्णन रूपी चाबी से आत्मा रूपी तिजोरी को खोलो तो मालूम होगा कि आत्मा कैसा है ? और उसमे कैसी-कैसी शक्तिया छिपी हुई हैं ?

कहने का आशय यह है कि शरीर परवस्तु है और इसीलिए उसका प्रत्याख्यान किया जाता है। शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है। यह भेदज्ञान हो जाये तो तुम भी राजा प्रदेशी की तरह अपना कल्याण कर सकते हो। प्रदेशी राजा भी आत्मा का स्वरूप नही जानता था। वह शरीर को ही आत्मा मान बैठा था और शरीरसुख को ही वास्तविक सुख समझता था। इस विपरीत मान्यता के कारण वह उन्मार्गगामी हो गया था। परन्तु चित्त प्रधान प्रदेशी राजा का मार्गदर्शक बना और उसे सन्मार्ग पर लाया। राजा प्रदेशी जब सन्मार्ग पर आरूढ हुआ अथवा यो कहो कि जब उसे आत्मा और शरीर की भिन्नता का ज्ञान हुआ तब उसने नरक को भी स्वर्ग बना लिया। मिथ्याभिमान के कारण अनेक जीव ससार सागर मे गोते खा रहे हैं। मगर जब धर्मनौका का आश्रय मिलता है, तब धर्मनौका की सहायता से पतित आत्मा भी, ससार-सागर को पार

कर जाता है। प्रदेशी राजा भी ससार-सागर में गोते खा रहा था। परन्तु जब भगवान् केशीकुमार ने उसे धर्मनौका बताई और राजा ने उस नौका का आश्रय लिया, तो वह अधर्मी कहलाने वाला राजा भी धर्म-नौका का नाविक बन गया और ससारसागर को पार करने मे समर्थ हुआ।

तुम भी ससार-सागर मे गोते खा रहे हो। अगर धर्मनौका का आश्रय लोगे तो एक दिन तुम भी ससार सागर पार कर सकोगे।

गीता मे कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र के विषय मे उल्लेख किया गया है। गीता का रहस्य गम्भीर है। कुरुक्षेत्र का सामान्य अर्थ खराब क्षेत्र होता है। अर्थात् यह शरीर मल-मूत्र से भरा होने के कारण कुरुक्षेत्र है। इस कुरुक्षेत्र को धमक्षेत्र बनाना चाहिए। अर्थात् आत्मा के उद्धार मे शरीर का उपयोग करना चाहिए। कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाने के लिए हमेशा युद्ध करना पडता है। जो शरीर का गुलाम नही है, ऐसा आध्यात्मिक योद्धा इस कुरुक्षेत्र मे कैसे-कैसे आत्मिक साधनो से जीवनसग्राम मे अग्रसर होता है, इसके विषय मे श्री उत्तराध्ययन के नौवें अध्याय से कहा है:—

सद्धं नगरं किच्चा तवसंवरमग्गलं।
खंती निउणपागारं तिगुत्तं दुप्पधंसयं॥
धणु परक्कमं किच्चा जीवं च इरियं सया।
धिइ च केयणं किच्चा सच्चेण पलिमंथए॥
तवनारायजुत्तेण भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसगामो भवाओ परिमुच्चए॥
उत्तरा० ९, २०-२१-२२

नमि राजर्षि देवेन्द्र को वतला रहे हैं कि जीवन-संग्राम किस प्रकार खेलना चाहिए ! श्रद्धा रूपी नगर, सवर-सयम रूपी आगल, क्षमा रूपी सुन्दर प्राकार, तीन गुप्ति रूपी दुर्जय किला, पराक्रम रूपी घनुष, इर्यासमिति रूपी डोरी और धैर्य रूपी केतन वनाकर सत्य के द्वारा परिमथन करना चाहिए । क्योकि तपश्चर्या रूपी बाणो से युक्त मुनिराज कर्म रूपी वख्तर को भेदन करके सग्राम में विजयी होते है और ससार के वन्धनो से मुक्त हो जाते हैं ।

ऊपर वर्णित आध्यात्मिक शस्त्रो द्वारा अगर कर्म-शत्रुओ के साथ युद्ध किया जाये तो आध्यात्मिक शस्त्रो के सामने पाशविक शस्त्र निष्फल सावित होते हैं । इसमे तनिक भी सदेह नही है । आध्यात्मिक शक्ति के समक्ष पाशविक शक्ति सदैव परास्त होती है । आध्यात्मिक शक्ति देवी सपदा है और पाशविक शक्ति दानवी सपदा है । दैत्य हमेशा ही देवो से पराजित हुए हैं, ऐसा पौराणिक कथाओ मे सुना जाता है । इसका रहस्य यही है कि दानवी शक्ति दैविक-आध्यात्मिक शक्ति के सामने परास्त हो जाती है । तुम भी आध्यात्मिक शस्त्रो द्वारा पाशविक शस्त्रो को पराजित करो । इसी मे तुम्हारा कल्याण है अहिंसा क्षमा, तपश्चर्या आदि आध्यात्मिक शस्त्र हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मत्सर आदि पाशविक शस्त्र है । आध्यात्मिक शस्त्र शक्ति-मैया (माता) के आयुव हैं और पाशविक शस्त्र पाशविक शक्ति के आयुघ हैं । तुम आध्यात्मिक शस्त्र हाथ मे लेकर जीवन-सग्राम मे कर्म-शत्रुओ के साथ युद्ध खेलो और उन्हें परास्त करो । इसमे कल्याण है ।

जीर्ण-शीर्ण हो जाने के कारण शरीर नाशवान् है और

आत्मा अजरामर होने के कारण अविनाशी है। आत्मा देही है, शरीर देह है। आत्मा देह रूपी गृह में निवास करता है। आत्मा शरीर का त्याग करना चाहे तो कर सकता है। शरीर में आसक्त रहने के कारण ही आत्मा को अनेक प्रकार के दु ख सहन करने पडते हैं। शरीर और आत्मा मे क्या अन्तर है, यह बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा थाः—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात् हे अर्जुन! तू शरीर को ही सर्वस्व मान बैठा है, परन्तु यह शरीर तो वस्त्र के समान है। जैसे फटे-पुराने वस्त्र को उतार कर नवीन वस्त्र धारण करने में आनन्द माना जाता है, उसी प्रकार आत्मा (देही) भी शरीर रूपी वस्त्र का त्याग करके नवीन शरीर-वस्त्र धारण कर लेता है।

तुम लोग शरीररूपी वस्त्र त्याग करते समय रुदन करते हो या प्रसन्न होते हो? अगर तुम्हे यह ज्ञान हो जाये कि मैं आत्मा मरता नही, वरन् शरीररूपी वस्त्र बदल रहा हू, तो शरीर त्याग करते समय तुम्हे जरा भी दु.ख नही होगा। जैसे ससार की और सम्पदाए आती-जाती रहती हैं उसी प्रकार शरीर भी बदलता रहता है। देह का नाश होता है, देही का नाश नही होता। देह का

लालन-पालन चाहे जैसे किया जाये, आखिर उसका नाश अवश्य होता है । 'देह का नाश होता है, देही का नहीं' यह बात ध्यान मे रखकर अनेक भक्तो ने तथा महात्माओ ने असह्य सकट सहन करके भी आनन्द का अनुभव किया था । अगर आत्मा को अपनी अजर-अमरता का भान हो जाये तो उसका कल्याण हुए बिना नही रह सकता ।



उनचालीसवां बोल

सहायप्रत्याख्यान

शरीर-प्रत्याख्यान के विषय मे विचार किया जा चुका है । शरीर का त्याग करने केलिएआत्मा को परावलम्बन का त्याग करके स्वावलम्बी बनना चाहिए । अब इसी विषय मे विचार करना है । स्वावलम्बी बनने के लिये और परावलम्बन का परित्याग करने के लिए दूसरे की सहायता का त्याग करना आवश्यक है । दूसरे की सहायता का त्याग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ? इस विषय मे गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं —

मूलपाठ

प्रश्न—सहायपच्चक्खाणेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सहायपच्चक्खाणेण एगीभाव जणयइ एगीभावभूए वि य ण जीवे एगग्ग भावेमाणे अप्पझझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुंतुमे सजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सहायता का त्याग करने से जीव

को क्या लाभ होता है ?

उत्तर – सहायता का त्याग करने से जीवात्मा एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव को प्राप्त जीव अल्पकषायी, अल्पक्लेशी तथा अल्पभाषी होकर सयम, सवर तथा समाधि मे अधिक दृढ होता है ।

व्याख्यान

सहाय का साधारण अर्थ है--मदद । किसी आत्मा मे जब दूसरे के बल पर आश्रित न रहने की और अपने ही बल पर खडे रहने की भावना उत्पन्न होती है तब वह आत्मा दूसरे की सहायता का त्याग करके स्वाश्रयी बनता है।

इस सूत्र मे परावलम्बन का त्याग करके स्वावलम्बी बनने की शिक्षा दी गई है । यह शिक्षा साधु और श्रावक को ही ग्रहण करने योग्य नही वरन् आत्मकल्याण के प्रत्येक अभिलाषी के लिए यह समझने और ग्रहण करने योग्य है ।

भगवान् ने साधुओ के लिए कहा है--साधुओ को सदैव यह भावना करनी चाहिए कि मैं अपने ही बल पर आश्रित रहूगा, दूसरो की सहायता नही लू गा ।' साधुओ को यह भावना ही नही करना चाहिए बल्कि शक्ति का सचय करके भावना को सफल बनाने का भी प्रयत्न करना चाहिए । कल्याण के इच्छुक साधु अपनी शक्ति देखकर दूसरो की सहायता का त्याग करते है और स्वावलम्बी बनते हैं ।

दूसरो की सहायता का त्याग करने से और स्वावलम्बी बनने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय

में गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फर्माया–सहायता का त्याग करने से पहला लाभ तो एकाग्र भावना उत्पन्न होना है अर्थात् सहायत्याग से मन सकल्प-विकल्प का त्याग करके एकाग्र बन जाता है। स्वावलम्बी बन जाने से यह सकल्प-विकल्प मन मे उत्पन्न नही होता कि कोई मुझे सहायता देगा या नही ? इस प्रकार मन एकाग्र सकल्प विकल्पहीन बनने से सहायता का त्यागी अपने आपको एकाकी-अकेला–अनुभव करने लगता है। तब वह दूसरो के साथ अधिक सभापण नही करता और 'अमुक काम करना है, अमुक काम नही करना है' इस प्रकार की झझटो से छुटकारा पा लेता है। किसी प्रकार के बाहरी झझट मे न पडने के कारण सहायत्यागी को किसी के साथ रगडा-झगडा (क्लेश) नही करना पडता। रगडे-झगडे न होने मे उसमे कषायभाव पैदा नही होता। इस प्रकार सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनने से जीवात्मा एकाग्रचित्त, एकाकी, अल्पभाषी, अल्प–क्लेशी तथा अल्पकषायी बनता है और सयम, सवर तथा समाधि मे अधिक दृढ होता है। इस तरह एक सहायता के त्याग से आत्मा को अनेक लाभ होते हैं।

यह मूल सूत्र पर विचार किया गया। अब यह विचार करना है कि इस सूत्र से हमे क्या सार लेना चाहिए ?

इस सूत्र का प्रधान स्वर यह है कि स्वावलम्बी बनो, परावलम्बी नही, स्वतन्त्र बनो, परतन्त्र नही। आज लोग स्वतन्त्रता–स्वतन्त्रता चिल्लाते है, मगर स्वतन्त्र बनने के सच्चे मार्ग पर नही चलते। स्वतन्त्र बनने के लिए सर्व

प्रथम स्वावलम्बी बनना आवश्यक है। स्वावलम्बी बने बिना कोई देश या समाज स्वतन्त्र नही बन सकता। आत्मा को भी कर्मबन्धनों से मुक्त करके स्वतन्त्र बनाने के लिए पर की सहायता त्याग कर स्वावलम्बी बनना आवश्यक है। जो मनुष्य स्वावलम्बी नही होता उसे पद-पद पर आपत्तियो का सामना करना पडता है।

आज जितने सुखसाधन बढे हैं, उतने ही परतन्त्रता के बन्धन बढ गये है। आज जो साधन सुखसाधन कहलाते है, वे वास्तव मे सुखदायी नही है। वे परतन्त्रता के बन्धन है। परतन्त्रता के इन बन्धनो को ढीला करने के लिए तथा कर्मबद्ध आत्मा को स्वाधीन बनाने के लिए दूसरो की सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनने की आवश्यकता है। सुखसाधनो की जो जितनी सहायता लेता है वह उतना ही परतन्त्र बनता है। उदाहरणार्थ—मान लो, किसी जगह जल्दी पहुचने के लिए रेलवे का साधन मौजूद है। तो क्या इस साधन के कारण तुम परतन्त्र नही बने हो ? क्या रेल कभी तुम्हारी प्रतीक्षा करती है ? इसके विपरीत तुम्हे रेल की प्रतीक्षा करनी पडती है। अतएव रेल तुम्हारे अधीन नही, वरन् तुम्ही रेल के अधीन हो। यही तो परतन्त्रता है ! जो लोग रेल का त्याग कर देते हैं वे रेल के अधीन नही हैं। इसी प्रकार ज्यो ज्यो और सुखसाधन बढे हैं त्यो-त्यो परतन्त्रता के बन्धन बढे हैं।

परतन्त्रता मे मानसिक स्थिति डावाडोल रहती है। स्वतन्त्र अवस्था मे ही मन एकाग्र रह सकता है। अतः जो एकाग्रता के उपासक है, उन्हे दूसरो की सहायता का त्याग

करना ही चाहिए। दूसरो की सहायता लेने वाला पर–तन्त्रता के कारण तथा अपनी निर्बलता के कारण सहायता लेता है। अगर अपनी निर्बलता दूर कर दी जाये तो फिर किसी की सहायता लिए बिना भी काम चल सकता है। दूसरो से जितनी सहायता ली जायेगी, उतनी ही परतन्त्रता बढेगी और एकाग्रता घटेगी। एकाग्रता भग होने से आत्मा के अनेक गुणो का नाश हो जाता है। अगर वृक्ष को बार-बार उखाड कर एक जगह से दूसरी जगह रोपा जाये तो क्या वह फल–फूल दे सकेगा ? नही। इसका प्रधान कारण यह है कि उस वृक्ष मे एकाग्रता का गुण नही रह पाता। पालीयाद मे बार-बार भूकम्प के धक्के लगने से लोग भय-भीत हो गये हैं और उनकी एकाग्रता भग हो गई है। जहा आधार मे ही चचलता हो वहा आधेय में एकाग्रता कैसे आ सकती है ? जैसे वृक्ष को बार बार एक जगह से दूसरी जगह उखाड–उखाड कर रोपने से उसका फल–फूल देने का गुण नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सकल्प-विकल्प से बार–बार मन को चचल करने से आत्मा की गुण-शक्ति घटती जाती है। जब तक मन की चचलता दूर नहीं होती, तब तक आत्मा मे सद्‌गुणो की स्थिरता भी नही रह सकती।

कुछ लोगों का कहना है कि शास्त्र मे जिन चमत्कारो का वर्णन निकला है, वे चमत्कार आज क्यो नही दिखाई देते ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र मे वर्णित चमत्कार तो सच्चे ही हैं मगर अपनी मन की चचलता के कारण वे आज दिखाई नही दे सकते। आज लोगो के मन

मे कैसी चचलता आ गई है, इस बात का जरा विचार तो करो । तुम (श्रोता) लोग अभी यहा बैठे हो, पर तुममें से किसका मन कहा घूम रहा है, यह कौन कह सकता है ? मन में इतनी अधिक चचलता होने का कारण दूसरो की सहायता लेना ही है ।

तुम समझते हो कि हम रेल, तार, टेलीफोन वायुयान आदि वैज्ञानिक सुख-साधनो की सहायता मिलने के कारण सुखी हैं । मगर इन सब सुख–साधनो के कारण तुम्हारे मन मे कितनी और किस प्रकार की चचलता बढ गई है, यह विचार तो करो । इन सुख–साधनो के कारण तुम अपने को सुखी मानते हो, परन्तु जिनके पास यह साधन नही है और जिन्होने स्वेच्छापूर्वक इन साधनो की सहायता लेने का त्याग कर दिया है, वे साधु क्या दु.खी हैं ? साधु सुखसाधनों की सहायता नही लेते । जो सच्चे साधु है और जो यह मानते है कि भगवान् ने हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही हमे ऐसे साधनो की सहायता न लेने की आज्ञा दी है, वे साधु अपने आपको सब से ज्यादा सुखी मानते हैं ।

कदाचित किसी साधु के मन मे यह धारणा हो कि आजकल चमत्कार को नमस्कार किया जाता है । अतएव हमारे पास किसी प्रकार की लब्धि हो तो अच्छा है । हम उस लब्धि का प्रयोग करके चमत्कार दिखा सकेंगे । इस प्रकार विचार करने वाले साधु को सोचना चाहिए कि जब भगवान् ने हमे दूसरो की सहायता लेने का निषेध किया है तो फिर हम लब्धि का प्रयोग करके चमत्कार दिखला ही कैसे सकते हैं ? साधुओ को लब्धि का उपयोग चम–

त्कार दिखाने में नही करना चाहिए । इतना ही नहीं, वरन् किसी दूसरे की सहायता भी नही लेनी चाहिए ।

मैंने एक पुस्तक में पढा था—एक आ.मी ने दूसरे से कहा—मुझे लब्धि प्राप्त हुई है और मैं उससे चमत्कार दिखा सकता हू । दूसरे ने उत्तर दिया—कुछ चमत्कार दिखाओ तो मालूम हो कि तुम्हे कैसी लब्धि प्राप्त हुई है। लब्धि वाले मनुष्य ने रास्ता चलते एक मदोन्मत्त हाथी को योग-शक्ति द्वारा जडवत् बना दिया । यह दृश्य देख कर दूसरा आदमी चकित रह गया । उसने एक तीसरे आदमी से यह आश्चर्यकथा कही । उसने दूसरे से कहा—बताओ तो सही, क्या आश्चर्य देखा है ? तब दूसरे आदमी ने कहा—अमुक आदमी ने अपनी योग-शक्ति के द्वारा रास्ता चलते मदोन्मत्त हाथी को जडवत् बना दिया । यह सुन कर तीसरे आदमी ने कहा इसमे इतना आश्चर्य करने की कौन-सी बात है ? यह काम तो एक दवा से भी हो सकता है । योगी ने योगसाधना करके भी अगर ऐसा चमत्कार दिखलाया तो योगसाधना का फल ही क्या हुआ ? हाथी को जडवत् बना देना कोई योग का चमत्कार नही है । दवा से भी यह काम हो सकता है और ऐसी मेरे पास भी है । तुम यह दवा ले जाओ और किसी मदोन्मत्त हाथी को पूछ पर थोडी-सी लगा देना । फिर देखना इस दवा का क्या असर होता है । दूसरे आदमी ने उस दवा का हाथी पर प्रयोग कर देखा । उसे विश्वास हो गया कि हाथी को जडवत् बना देने की क्रिया तो दवा के द्वारा भी हो सकती है ।

तीसरे आदमी ने उससे कहा—दवा के प्रयोग से मदोन्मत्त हाथी भी जडवत् बन सकता है, यह विश्वास तुम्हे हो

गया न ? अगर यही कार्य योगसाधना द्वारा किया जाये तो योग की सिद्धि क्या रही ? सच्चा योग तो मन को एकाग्र करके काबू मे कर रखना है। अगर मन काबू मे नही रहता तो समझना चाहिए कि वह योग ही सच्चा नही है। जो अपना मन एकाग्र करके काबू मे रखता है, उस योगी के लिए ससार मे ऐसा कोई कार्य नही, जो अशक्य हो। ऐसी कोई वस्तु नही जो उसके अधीन न हो, सच्चा योगी वही है जो साधनो का त्याग कर देता है। साधुओ ने ससार की सहायता का त्याग करके स्वतन्त्र बनने के लिए ही ससार का त्याग किया है। मन को एकाग्र करने के लिए तथा आत्मा को त्रिविध ताप से बचाने के लिए पर की सहायता का त्याग करना आवश्यक है।

आजकल साधुओ को भी जमाने की हवा लग गई है। इसी कारण उनमे यथोचित निश्चलता और निस्पृहता नजर नही आती। चित्त की चचलता का कारण जमाना बदलना बतलाया जाता है, पर जमाना किसने बदल दिया है, इस बात का विचार नही किया जाता। दोष, चाहे जमाने को दिया जाये, चाहे कि-ी और के सिर मढा जाये परन्तु साधुओ के लिए श्रेयस्कर यही है कि वे दूसरो की सहायता का त्याग करे।

यह बात दूसरी है कि कभी सच्ची बात भी दबा दी जाती है और झूठी बात को भी महत्व मिल जाता है, मगर सच्चाई अन्त मे सच्चाई ही सिद्ध होती है। अतः जमाने की किसी बुराई को जीवन में स्थान न देते हुए, दूसरो की सहायता त्याग कर, मन की चचलता दूर करके,

एकाग्र भावना प्रगट करनी चाहिए। जब तक दूसरो की सहायता लेने की भावना रहेगी तब तक मन की चचलता बढती ही रहेगी। इसके विपरीत, सहायता लेने का जितना त्याग किया जायेगा और जितने परिमाण मे स्वावलबी होने का प्रयत्न किया जायेगा, उतना और उसी परिमाण मे आत्मा स्वतन्त्र और स्वाधीन बनेगा। ज्ञानीजनो का कथन है कि साधनो का जितना त्याग किया जायेगा, त्याग उतना ही सफल होगा। सुख-साधनो का त्याग करने से बधन ढीले होगे और जीवन मे निस्पृहता आएगी इससे विपरीत सुख-साधन मे जितनी वृद्धि की जायेगी, उतने ही परिमाण मे बधन दृढ होगे। परिणाम स्वरूप जीवन मे परतन्त्रता का प्रवेश होगा।

आज एक दूसरे पर जो आपेक्ष किये जाते है, उसका प्रधान कारण भी साधनो की वृद्धि है। सुख-साधनो की वृद्धि के साथ ससार मे क्लेश की भी वृद्धि हुई है। लोगो को समाचार-पत्र पढन का इतना चस्का है कि कुछ लोग भोजन किये बिना चाहे रह जाएगे, पर समाचार-पत्र पढे बिना नही रह सकते। समाचार-पत्र पढने से कलह बढा है या घटा है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट ही है कि समाचार-पत्रो के द्वारा कलह मे वृद्धि हुई है और चचलता भी बढ गई है।

मन की एकाग्रता अत्यावश्यक है। मन एकाग्र किये बिना शान्ति नही मिल सकती। अगर एक रात नींद न आये तो तबीयत कितनी खराब हो जाती है? निद्रा लेना मन की एकाग्रता का विकृत उदाहरण है। मगर निद्रा की

कितनी आवश्यकता है इस बात का विचार करो। जो व्यक्ति चचलता छोडकर निद्रा लेता है और इस प्रकार थोडे समय के लिए तथा विकृत रूप से भी मन को एकाग्र रखता है, वह शरीर को स्वस्थ रख सकता है। जो मनुष्य काम-काज मे ही लगा रहता है और यथासमय निद्रा नही लेता वह बीमार पड जाता है। जब विकृत रूप मे भी मन को एकाग्र रखने से इतना अधिक लाभ होता है तो फिर सम्यक् प्रकार से मन को एकाग्र बनाने से कितना लाभ होता होगा।

मन की एकाग्रता से आत्मा को अपूर्व लाभ होता है। लोग यह समझते है कि आनन्द कही बाहर से आता है, पर वास्तव मे आनन्द बाहर की वस्तुओ मे नही है। आत्मा में ही अखूट आनद भरा हुआ है। आत्मा अपने में से ही आनन्द उपलब्ध करता है। मन को एकाग्र रखने से आत्मा मे आनन्द का स्रोत बहने लगता है। किसी भी वस्तु मे जो आनन्द दिखाई देता है, वह आनन्द इसी कारण आनन्द रूप मालूम होता है कि आत्मा मे आनन्द भरा हुआ है। दुनिया की तमाम वस्तुए आत्मा के लिए ही हैं। आत्मा न हो तो इन वस्तुओ को कोई टके सेर भी न पूछे। वस्तुओ का मूल्य आकने वाला आत्मा ही है और इसीलिए कहा गया है-

न सर्वस्य कामाय प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति।'

उपनिषद्कार कहते हैं वस्तु को कोई वस्तु प्रिय नहीं है, आत्मा को ही वस्तु प्रिय लगती है। हीरा, माणिक, मोती वगैरह जो भी पदार्थ प्रिय मालूम होते है सो सब

आत्मा को ही प्रिय मालूम होते हैं। परन्तु आजकल तो ससार में उत्क्रम चल रहा है। जिस आत्मा को सभी वस्तुए प्रिय लगती हैं वही आत्मा आज भुलाया जा रहा है और आत्मा की शक्तियो के विषय मे कोई विचार ही नही किया जाता। आत्मा मे ऐसी महान् शक्ति विद्यमान है कि उसे परतन्त्र रहने की आवश्यकता ही नही है। परन्तु आज आत्मा अपने भीतर विद्यमान महान् शक्ति को भूलकर परतत्र बन रहा है।

कहा जा सकता है कि आजकल का तोतारटत ज्ञान भी आत्मा की परतत्रता का कारण है। इस ज्ञान की बदौलत आत्मा दूसरो की सहायता अधिक लेने लगा है और नतीजा यह हुआ है कि वह परतन्त्रता की बेडो मे बध गया है। जगल मे रहने वाले पशुओ-पक्षियो को देखो। मालूम होगा कि वे मनुष्यो के समान दूसरो की सहायता नही लेते है। कहा जा सकता है कि अज्ञान होने के कारण वे दूसरो की सहायता नही लेते हैं। इसके उतर मे कहा जा सकता है कि मनुष्य समाज मे जो ज्ञान है वह क्या परतत्रता बढाने के लिए है? सच्चा ज्ञान तो वही है जो आत्मा को बधनो से मुक्त करता है। बधनो से मुक्त न करने वाला ज्ञान वास्तव मे ज्ञान ही नही है। ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

'सा विद्या या विमुक्तये।

अर्थात् सच्ची विद्या वही है जो बधनो से मुक्त करती है।

तुम लोग आज दूसरो की बहुत सहायता लेते हो, इस कारण तुम मे भिखारीपन आ गया है। भिखारी को सुख कहा? जब उसे कोई वस्तु नही मिलती तो वह दुखी होता है। शास्त्रकार भिखारी की प्रशसा नही करते।

शास्त्र तो दूसरों की सहायता लेने वाले को भिखारी कहता है। सच्चा साहूकार वह है जो दूसरों से मिलने वाली सुलभ सहायता का भी परित्याग कर देता है।

स्वतंत्रता चाहने और स्वतंत्रता पाने में बहुत अन्तर है। आज लोग स्वतंत्रता चाहते हैं परन्तु उसे पाने के लिए प्रयत्न नहीं करते। स्वतंत्रता पाने के लिए स्वतंत्रता के मार्ग पर चलना आवश्यक है। स्वावलंबी बनना स्वतंत्रता प्राप्त करने का मुख्य मार्ग है। दूसरों की सहायता की लेश-मात्र भी अपेक्षा न रखना ही स्वावलम्बन है।

प्रत्येक स्त्री या पुरुष स्वावलम्बन के मार्ग पर चल सकता है। स्वावलम्बन का राजमार्ग सभी के लिए खुला है। राजीमती स्त्री होने पर भी स्वावलम्बन के राजमार्ग पर चल कर आत्मा को स्वतंत्र बना सकी थी। यही नहीं, वरन् रथनेमि जैसे कर्त्तव्यभ्रष्ट योगी को भी स्वावलम्बन की शिक्षा देकर उसने आत्म-स्वतंत्रता के पथ पर अग्रसर किया था।

स्वतंत्र व्यक्ति ही दूसरों को स्वतंत्रता का संदेश दे सकता है। परावलंबी पुरुष स्वतंत्रता का संदेश नहीं सुना सकता। स्वतंत्रता-देवी का प्रधान द्वार स्वावलंबन है। स्वावलंबी बने बिना स्वतंत्र बनना संभव नहीं। इसीलिए भगवान् महावीर ने आत्मा को कर्म-बंधनों से मुक्त करने, स्वतंत्र बनाने के लिए स्वावलंबन का आदर्श पाठ जगत के समक्ष उपस्थित किया था। इस स्वावलंबन के आदर्श का अनुसरण करने में ही देश, समाज तथा धर्म का अभ्युत्थान तथा कल्याण है।



चालीसवां बोल

भक्तप्रत्याख्यान

शास्त्र मे आत्मकल्याण के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं। उनमे से एक मार्ग दूसरो की सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनना भी है। जो स्वावलम्बी बनना चाहता है वह शरीर के अधीन भी रहना पसन्द नही करता। जब स्वावलम्बी आत्मा शरीर की अधीनता भी पसन्द नही करता तब यह स्वाभाविक ही है कि वह शरीर को पुष्ट करने वाले भोजन का त्याग कर दे। प्राणान्त तक भोजन का त्याग करना अर्थात् अनशन धारण करना साधारण जनता को दुष्कर प्रतीत होगा परन्तु स्वावलम्बी आत्मा के लिए ऐसा करना दुष्कर नही सुकर होता है। भोजन का त्याग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न—भत्तपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—भत्तपच्चक्खाणेण अणेगाइं भवसयाइ निरूंभइ।४०।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! भोजन का प्रत्याख्यान करने से अर्थात् अनशन करके सथारा लेने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—भोजन का प्रत्याख्यान करने से जीव सैकडो भवो को काट डालता है अर्थात् जीव अल्पससारी बनता है।

व्याख्यान

भक्त का सीधा-सादा अर्थ है -भात । 'भाथा' या 'भातु' शब्द भी इसी से बना है। भत्त या भक्त का अर्थ भोजन है। यहा भोजन के विषय मे ही प्रश्नोत्तर है। आहार के त्याग की बात सुनकर किसी को शका हो सकती है कि जैनधर्म तो दयाधर्म कहलाता है, फिर इस दयाधर्म मे भोजन के त्याग की बात कहना कहा तक उचित है ? आहार का त्याग करना तो प्राणो का त्याग करना है। आहारत्याग द्वारा प्राणत्याग के लिए कहना अनुचित ही है। इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार का कथन है कि दूसरे की सहायता का त्याग करने वाला ही आहार का त्याग कर सकता है। जो पुरुष आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न समझता है और इस भेदज्ञान के कारण जिसने शरीर की सहायता का भी त्याग कर दिया है, वही भोजम का त्याग कर सकता है। शास्त्र मे कहा है - अपच्छिममरण अर्थात् जब मरण समीप आ जाये तब सथारा अर्थात् अनशनव्रत धारण किया जा सकता है।

मरण दो प्रकार से होता है—आयु के क्षय से और उपसर्ग से। मृत्यु किसी भी प्रकार मे हो मगर कुत्ते की मौत मरना उचित नही। वीरतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन करना चाहिए। वीरतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन करने वाला भोजन के प्रत्याख्यान द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। भोजन का त्याग करके जो मृत्यु को जीतता है, उसी का अपच्छिममरण होता है।

यहां भक्तप्रत्याख्यान का अर्थ सम्पूर्ण अनशन करना है। भगवान् ने कहा कि भोजन का त्याग करने वाला ससार का छेद करता है। शास्त्र में भोजन के प्रत्याख्यान के विषय मे जो कुछ कहा गया है, वह निर्दयता का व्यवहार करने के लिए नही वरन् आत्मा के कल्याण के लिए ही कहा गया है। जो व्यक्ति परकीय सहायता का त्याग करता है वही भोजन का त्याग कर सकता है। इस प्रकार आहार का त्याग न करना और आहार-पानी न मिलने के कारण विलाप करते-करते मरना, बारह प्रकार के बालमरणो मे से एक बालमरण है। इस प्रकार का मरण, भोजन-पान के त्याग से होने वाला पण्डितमरण नही कहा जा सकता। हा, असमय मे भोजन का त्याग नहीं किया जा सकता। यह तो सब काम कर चुकने के बाद किया जाने वाला काम है। अतएव यह विचार रखना अत्यावश्क है कि सथारा कब करना और कराना चाहिए।

सथारा करने का प्रयोजन क्या है ? इस विषय में शास्त्र में बहुत विचार किया गया है। शास्त्र मे यह प्रश्न किया गया है कि हे भगवन्! मरते समय क्या भूखा रहना

उचित है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—यह स्थूलदृष्टि का कथन है । सूक्ष्मदृष्टि से तो मरते समय अनशन करना ही योग्य है । इस प्रकार कहकर भगवान् नें, सथारा क्यो और कब लिया जाता है, यह बात स्पष्ट करने के लिए मङ्क चोर का उदाहरण दिया है । वह इस प्रकार हैः—

शखपुर मे एक चालाक चोर रहता था । वह इस चालाकी से लोगो के घर चोरी करता था कि यह पता लगाना तक कठिन हो जाता था कि चोरी कब और किस प्रकार हुई है ? चोरी के कारण प्रजा परेशान हो गई । प्रजा ने वहुत प्रयत्न किया मगर चोर का पता नही लगा । किसी के घर का ताला टूटा नही, दीवार मे सेध लगी नही, फिर भी घर मे चोरी हो गई । इस चतुर चोर की चालाकी से प्रजा थक गई । आखिरकार प्रजा इकट्ठी होकर राजा के पास पहुची । शखपुर की प्रजा छोटी-छोटी वातो के लिए राजा के पास नही पहुचती थी । अतएव राजा समझ गया कि आज प्रजा पर कोई वडी मुसीबत आई दिखाई देती है । इसी कारण लोग मेरे पास आये हैं ।

राजा ने प्रजाजनो से पूछा--तुम्हे क्या कष्ट है, स्पष्ट कहो ।

प्रजा नें चोर द्वारा चारो ओर फैलाये हुए हाहाकार का वृत्तान्त आदि से अन्त तक कह सुनाया । राजा चोर की चालाकी की वात सुनकर आश्चर्यचकित हो कहने लगा—यह चोर वास्तव मे कोई महान् चोर है । खोज करके जल्दी ही उसे पकडना चाहिए । चोर को पकड़कर मै प्रजा

का दुःख दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न करूगा। अगर मैं सच्चा राजा हू तो अपने प्राणो को होम करके भी सात ही दिन मे चोर को पकड लू गा। इस प्रकार कहकर राजा ने प्रजा को आश्वासन दिया।

आज ऐसे प्रजाप्रेमी नरेश बहुत कम नजर आते है जो प्रजा के दु.ख को अपना दु ख समझकर उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। प्रजाप्रिय राजा, प्रजा की रक्षा के लिए अपने प्राण भी निछावर कर देता है।

राजा ने चोर को पकडने की प्रतिज्ञा की है यह बात चारो ओर नगर भर मे फैल गई। मङ्कक चोर ने भी राजा की प्रतिज्ञा की बात सुनी। वह विचार करने लगा—राजा ने प्राण का भोग देकर भी मुझे पकडने की प्रतिज्ञा की है। अब मेरा बचना कठिन है। फिर भी मुझे तो राजा के पजे से बचने का ही प्रयत्न करना चाहिए। वीर पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह पराजित भले ही हो जाये मगर पुरुषार्थ का त्याग न करे। मुझे सावधानी के साथ काम करना चाहिए और पुरुषार्थ नही त्यागना चाहिए। पुरुषार्थ छोडकर बैठ रहना कायरता है।

चोर का पता लगाने के लिए राजा भेष बदलकर शहर मे निकला। इधर चोर भी अपना भेष बदलकर यह देखने के लिए निकला कि देखे, राजा क्या करता है? चोर पैर मे पट्टी बाधकर, हाथ मे लाठी लेकर, बीमार दरिद्र की तरह शहर मे घूमने निकला। राजा ने मङ्कक चोर को इस भेष मे देखा। मङ्कक चोर की आख देखते ही राजा मन मे समझ गया कि चोर यही है। परन्तु जब तक प्रमाण

द्वारा अपराध साबित न हो जाये तब तक उसे दण्ड नही दिया जा सकता । दोनो एक दूसरे के सामने आये और आपस मे पूछने लगे—'तुम कौन हो ?' किसी ने अपना परिचय नही दिया । अन्त मे चोर ने कहा——मैं कौन हू, यह जानने की तुम्हे क्या आवश्यकता है ? तुम अपना काम करो, मैं अपना काम करता हू । चोर के इस कथन का आशय राजा ने यह समझा कि चोर ठीक ही कह रहा है कि 'मैं चोर हू । चोरी करने जाता हू । तुम राजा हो तो मुझे पकड लो ।'

इस प्रकार विचार कर राजा वहा से चलता बना । जाते-जाते राजा ने यह भी निश्चय कर लिया कि चोर सामने के पहाड मे रहता है और इस रास्ते से शहर मे आता है ।

दूसरे दिन राजा ने भिखारी का भेष बनाया । वह उसी रास्ते पर चुपचाप बैठ गया, जिस रास्ते से चोर आया-जाया करता था। चोर भी भेष बदलकर शहर मे आया। रात अन्धेरी थी । भिखारी के भेप मे पडे हुए राजा पर उसकी निगाह न पडी । अत चोर के पैर मे राजा की ठोकर लग गई । ठोकर लगते ही वह चिल्ला उठा । चोर ने पूछा — तू कौन है ?

राजा ने कहा —'मैं गरीब भिखारी हूं । रहने को कही जगह नही । इसलिए यहा पडा हू ।'

चोर बडा ही चालाक था । समझ गया, यही राजा है । उसने सोचा——किसी भी उपाय से राजा को नष्ट किया जा सके तो फिर कोई आफत ही न रहे ।

चोर बोला—क्या इस तरह रास्ते में पड़े रहने से तेरा दुख दूर हो जायेगा ?

राजा—इस तरह पडे रहने से दुख दूर नही होगा। दुख तो तुम्हारे जैसे की सगति से दूर हो सकता है।

चोर—तू मेरे साथ चल। मै तेरा दु.ख दूर करूगा।

राजा ने चोर के साथ जाना कबूल किया। राजा साथ हो लिया। दोनो एक-दूसरे को मार डालने की घात मे थे, इस कारण दोनो ही सावधान थे।

चोर ने चोरी की। धन आदि की दो पेटियां भरी। फिर राजा से कहा—एक पेटी तू उठा ले। पर देखना, भाग मत जाना।

राजा—नही, मैं भागूगा क्यो ?

चोर—तो ठीक है। चल। आगे चल। मैं तेरे पीछे-पीछे चलता हू।

राजा—तुम्हे कहा जाना है, सो मुझे मालूम नही। अतएव आगे तुम चलो। मैं पीछे-पीछे चलूंगा।

चोर—ठीक है, तू पीछे ही चलना। मगर तू कही भाग न जाय, इसलिए तुझे रस्सी से बाध लेता हूं।

चोर ने राजा को रस्सी से बाध लिया। चोर आगे-आगे चलने लगा। राजा चोर नही था। फिर भी मङ्कक चोर ने राजा को चोर की तरह बाध लिया।

राजा को साथ लेकर चोर घर आया। मङ्कक चोर ने अपनी लडकी को पास बुलाकर कहा—मैं एक आदमी को

साथ लाया हू । वह मेरे व्यवसाय मे विघ्न डालता है । किसी उपाय से उसे मार डालना है ।

पुत्री ने कहा - आपकी आज्ञा के अनुसार सब काम हो जायगा ।

लडकी तब राजा के पास पहुची । बोली--भोजन तैयार है । जीमने चलो ।

राजा ने मन ही मन मे कहा--भोजन करना तो चाहिए, मगर भोजन करते समय सावधान रहना होगा । इस समय मैं चोर के घर मे हूं ।

राजा ने लडकी से कहा--पहले तुम जीम लो । तुम्हारे जीमने के बाद मैं भोजन करूगा । मैं भिखारी हू, फिर भी इतनी सभ्यता जानता हू । जब तक घर वाले न जीम लें, मैं कैसे जीम सकता हू ।

राजा की बात सुनकर लडकी समझ गई-यह भिखारी नही है । दरअसल भिखारी होता तो ऐसा न कहता, वरन् खाने बैठ जाता ।

चोर की कन्या ने राजा से कहा—अगर तुम सभ्य हो तो भोजन से पहले स्नान करना चाहिए ।

राजा---अगर यह नियम है तो इसका पालन करना मेरा कर्त्तव्य है ।

चोरकन्या राजा को स्नान कराने के लिए कुए पर ले गई । चोरकन्या का यह नियम था कि वह जिसे स्नान कराने कुए पर ले जाती, उसके पैर पकड कर कुए मे फेंक देती थी । राजा को कुए मे डालने के लिए उसने राजा के

पैर पकडे । पर राजा के सुलक्षण युक्त पैर देखकर वह सोचने लगी—यह तो कोई महापुरुष है । पैर के चिह्नों से मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर का हाल मालूम हो जाता है । इस कथन के अनुसार चोरकन्या ने राजा के लक्षणयुक्त पैर देखकर विचार किया—यह कोई महान् पुरुष है । ऐसे महान् पुरुष को पिताजी मार डालना चाहते हैं, यह उचित नही है ।

चोरकन्या कहने लगी मेरे पिता अत्यन्त क्रूर हैं । वे तुम्हे मार डालना चाहते हैं । मैं तुम्हारे लक्षणयुक्त पैर देखकर समझ गई हू कि तुम राजा हो । मैं तुमसे यही कहना चाहती हू कि अगर अपने प्राण बचाना चाहते हो तो इस रास्ते से जल्दी भाग जाओ । वर्ना तुम्हारे प्राणो की खैर नही ।

राजा ने चोरकन्या की बात मान ली । वह उसके बताये मार्ग से भाग निकला । राजा जब दूर जा पहुचा तो चोरकन्या ने मडूक को आवाज दी । कहा—वह भिखारी तो भाग गया ।

भिखारी के भागने का समाचार पाते ही मडूक की आखें लाल हो गईं । कक नामक पत्थर से बनाई गई तीखी तलवार लेकर वह राजा के पीछे दौडा । तलवार इतनी तीखी थी कि जिस चीज पर उसका प्रहार हुआ, तत्काल उसके टुकडे-टुकडे हो जाते थे ।

चोर ने दूर से ही राजा पर तलवार का प्रहार किया । मगर वह प्रहार पत्थर के खभे पर जा लगा । खभा टुकडे-टुकडे होकर गिर पडा । राजा बडी कठिनाई मे बच सका ।

चोर समझ गया-राजा बच गया है और खंभा टुकडे-टुकड़े हो गया है।

चोर निराश होकर घर लौट आया। उसने अपनी कन्या से कहा--राजा धोखा देकर भाग गया। वह अपने घर की छिपी बाते जान गया है। अब हमे बहुत होशियारी के साथ रहना चाहिए।

चोरकन्या ने कहा--पिताजी! जान पड़ता है, अब आपके पापो का घड़ा भर गया है।

मड्रूक ने क्रुद्ध होकर कहा--क्यो अपशकुन की बात मुंह से निकालती है?

चोरकन्या--पाप का अन्त होने मे बुराई क्या है, पिताजी!

लडकी की बात मड्रूक को बहुत बुरी लगी। फिर भी वह मौन रहा।

दूसरे दिन चोर व्यापारी बनकर शखपुर के बाजार में क्रय-विक्रय करने आया। इधर राजा भी वेष बदल कर चोर की फिराक मे शहर में घूमने लगा। घूमता-घूमता राजा उसी दुकान पर आ पहुचा, जहा चोर व्यापारी के रूप मे क्रय-विक्रय कर रहा था। राजा, चोर व्यापारी को देखते ही पहचान गया। राजा ने पूछा--'तुम क्या बेचने आये हो?' तुम्हारे पास क्या है?

चोर- हमारे पास सभी कुछ है। तुम्हे क्या चाहिए?

राजा--भाई, मुझे और कुछ नही चाहिए। सिर्फ तुम्हारी आवश्यकता है।

चोर—मेरा क्या काम है ?

राजा—तुम चोर हो, इसीलिए तुम्हारी जरूरत है।

चोर—मैं साहूकार हू । कौन मुझे चोर कहता है ?

राजा तुम्हारे चोर या साहूकार का अभी निर्णय हो जायगा । तुम्हारे चोर होने की खातिरी मैंनें तो पहले से ही कर रखी है ।

आखिरकार राजा ने चोर को पकड़ लिया । चोर विचार करने लगा—मुझे पकडने वाला कोई मामूली आदमी नही है । राजा ने मुझे पकडा है। मुझे सख्त सजा मिलेगी।

राजा बोला—अब तुम पकडे जा चुके हो । कहो अब तुम्हे क्या करना है ?

चोर बोला– जो आप कहे, वही करने को तैयार हूं।

राजा—सब से पहले तुम अपनी कन्या का मेरे साथ विवाह कर दो ।

चोर—ठीक है । यह कह कर उसने प्रसन्नतापूर्वक अपनी कन्या राजा को ब्याह दी ।

राजा ने चोरकन्या से कहा—तुमने मेरे शरीर की रक्षा की थी । अब यह शरीर मैं तुम्हारे सिपुर्द करता हू ।

चोरकन्या बोली—नाथ, आप उदार हैं, इसी से ऐसा कहते है । मैं तो वास्तव मे चोर की कन्या हूं । मैं आपके सन्मान के योग्य नही । आपने मेरा सन्मान करके मुझ पर उपकार किया है ।

राजा—अब तुम्हे किसी प्रकार की चिन्ता नही करनी

चाहिए । तुम्हारे पिता अब मेरे ससुर है । मैं उनका भी सन्मान करूंगा और गौरव बढाऊंगा ।

राजा ने मडूक चोर को प्रधान मन्त्री बना दिया । जब यह बात नगर मे फैली तो सभी लोग राजा को धिक्कारने लगे । राजा इसके लिए तैयार था । वह जानता था कि पहलेपहल लोग मेरे इस कार्य से अप्रसन्न होगे । मगर जब इसका नतीजा सुनेगे तो प्रसन्न हुए बिना नही रहेगे ।

राजा चोर-प्रधान को धमकाकर या समझा-बुझाकर चोरी के रत्न निकलवाता रहता था । उसके पास अभी कितने रत्न है, यह बात राजा चोरकन्या अर्थात् अपनी पत्नी से मालूम कर लेता और फिर उन्हे किसी उपाय से निकलवा लेता । इस प्रकार कभी धमकी देकर और कभी फुसलाकर राजा ने चोर-प्रधान के पास से सभी रत्न निकलवा लिए । जब उसके पास कुछ भी शेष न रहा तब राजा ने नगर-जनो को बुलाया और कहा - यह प्रधान नही, चोर है । चोर से सब रत्न निकलवाने के उद्देश्य से ही मैंने इसे प्रधान बनाया था । अब इसके पास कुछ बाकी नही रहा । अतएव चोरी करने के अपराध मे इसे फासी की सजा दी जाती है ।

चोरी गये सब रत्न राजा ने वापस कर दिये । प्रजाजन राजा की बुद्धिमत्ता और चतुराई की प्रशसा करने लगे । राजा-प्रजा मे प्रेम की वृद्धि हुई । राज्य का अच्छी तरह सचालन होने लगा ।

यह एक दृष्टान्त है । साधुजीवन पर यह दृष्टान्त दिया गया है । इस दृष्टान्त से क्या सार ग्रहण करना चाहिए,

यह विचारणीय है।

साधु के लिए कहा गया है कि यह शरीर मंडूक चोर के समान है। बुद्धि शरीररूपी चोर की कन्या है। शरीर यद्यपि चोर के समान है, फिर भी अनेक रत्न इसके कब्जे मे हैं। इस शरीर के बिना मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। हे मुनियो ! तुम्हारे शरीर मे रहा हुआ आत्मा राजा है। शरीर चोर है और वुद्धि चोरकन्या है। मनुष्य मे जैसी बुद्धि है, वैसी और प्राणियो में नही है। आत्मारूपी राजा शरीररूपी चोर के घर मे आया है। आत्मारूपी राजा खान-पान के प्रलोभन मे न पडकर बुद्धिरूपी चोरकन्या को पहले खिलाकर ही आप खाता है। अर्थात् शास्त्र मे खान–पान सम्बन्धी जो विधि बतलाई गई है, वुद्धि द्वारा उसका निर्णय करने के बाद ही खाता है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा निर्णय करके जो खाता है, वही आत्मारूपी राजा है। बुद्धिरूपी चोरकन्या आत्मा–राजा को पैर पकडकर कुए मे डाल देना चाहती है, पर आत्माराजा के लक्षणयुक्त चरण देखते ही वह उसे महान् समझकर बचा देती है। चरण का अर्थ पैर भी है और आचरण भी है। जब बुद्धि के हाथ चरण आता है और वह उसके अच्छे लक्षण देखती है, तब कहती है— ऐसे पुण्यात्मा को कूप मे पटकना ठीक नही। इस प्रकार बुद्धिरूपी चोर-कन्या आत्माराजा को मुक्त होने का मार्ग बतलाती है और आत्माराजा उस मार्ग पर चलकर मुक्त हो जाता है। जब आत्मा-राजा ससार के पदार्थों का ममत्व तजकर भाग जाता है तो काम, क्रोध, मान, लोभरूपी चोर वासनावृत्ति की तलवार हाथ में ले आत्मा के पीछे दौडता है। वासनावृत्ति रूपी तलवार बहुत तीखी है। यह तलवार

जिस पर पडती है, उसका जीवन नष्ट हो जाता है।

आत्मा राजा सावधान होने के कारण वासनावृत्ति रूपी तलवार के प्रहार से कुशलतापूर्वक बच गया और राज-महल मे आकर चोर को पकडने का उपाय सोचने लगा। गहरा विचार करने के वाद राजा, चोर को भर बाजार मे से पकड लाता है। चोर के पास से रत्न निकलवाने के लिए वह युक्ति से काम लेता है। वह सब से पहले बुद्धि-रूपी चोरकन्या के साथ लग्न-सम्बन्ध जोडता है और चोर को प्रधान बनाता है। तत्पश्चात् विविध उपायो द्वारा चोर के कब्जे मे जो रत्न थे, उन्हे अपने अधिकार मे करता है। राजा शरीर-चोर से रत्न निकलवाने के लिए ही उसे प्रधान बनाता है। चोर को प्रधान बनाने से प्रजा, राजा की निन्दा करने लगी थी उसी प्रकार कुछ लोग यह कहकर साधुओ की निन्दा करते है कि साधु हो जाने पर भी इन्हे खाने और कपडा पहनने की क्या आवश्यकता है? परन्तु साधु-आत्मा लोगो की निन्दा की परवाह न करके शरीर–चोर के कब्जे मे से ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूप रत्न लेने के लिए शरीर-चोर को आदर देते हैं। जब आत्मा को बुद्धि द्वारा मालूम होता है कि अब शरीर-चोर के पास एक भी रत्न शेष नही रहा तब साधु आत्मा शरीर-रूपी चोर को सथारा-रूपी शूली पर चढा देता है और आप स्वावलम्बी बन जाता है। स्वावलम्बी आत्मारूपी राजा ही प्रजा को स्वावलम्बी बना सकता है। जब तक नायक स्वय स्वावलम्बी नही बन जाता तब तक वह जनसमाज को कैसे स्वावलम्बी बना सकता है?

इस कथा का सार यह है कि महावीर भगवन् ने भत्त (भोजन) के त्याग के विषय में जो कुछ कहा है, वह निर्दयता से नही वरन् आत्मा के कल्याण के लिए कहा है। पर सथारा करने और कराने मे विवेक की खास आवश्यकता है। अगर सथारा करने-कराने मे विवेक से काम न लिया जाये तो जैनधर्म का उद्योत नही होता। जब ससार के पदार्थों पर ममता नही रहती और सासारिक पदार्थों की जरा भी सहायता नही ली जाती, तभी भोजन का त्याग करके सथारा लिया जा सकता है। आत्मा की पूर्व तैयारी के बिना सथारा लिया जाये तो मृत्यु पर विजय नही प्राप्त की जा सकती। यही नही, वरन् आत्मा का घात होता है। सथारा तो मृत्यु को जीतने का एक श्रेष्ठ साधन है। मृत्यु को आह्वान करना साधारण आत्मा का काम नही। जो आत्मा ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का बल पाकर बलिष्ठ और निर्भय बन चुका है, वही बलवान् आत्मा भोजन का त्याग करके मृत्यु का आह्वान कर सकता है। वही मृत्यु को जीत सकता है। शरीर का प्रत्याख्यान करने के साथ ही भोजन का प्रत्याख्यान किया जा सकता है।

भगवान् ने आत्मकल्याण करने के लिए जो कुछ कहा है, उसे नि:शक होकर सत्य समझो और उसी ध्रुवसत्य के अनुसरण का प्रयत्न करो। आत्मकल्याण के लिए सर्वप्रथम स्थूल पाप का त्याग करो। स्थूल पाप का थोड़ा-सा त्याग करने पर सूक्ष्म पाप का भी त्याग कर सकोगे। स्थूल पाप त्यागे बिना सूक्ष्म पाप का त्याग नही हो सकता। यह बात स्पष्ट होने पर भी कितने ही लोग स्थूल पाप का त्याग

एकतालीसवां बोल

सद्भाव-प्रत्याख्यान



आहार-त्याग से होने वाले लाभ के विषय में प्रश्न करने के बाद अब गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से सद्-भाव अर्थात् समस्त योगों का निरोध रूप क्रिया मात्र का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में प्रश्न करते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न--सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर--सब्भावपच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ, अनियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ, तजहा-वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं; तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्व दुक्खाणमन्तं करइ ॥४१॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सद्भाव का अर्थात् समस्त योगों को रोकने रूप क्रिया मात्र का त्याग करने से जोवात्मा को क्या

लाभ होता है ?

उत्तर—वृत्ति मात्र का त्याग करने से जीवात्मा अनिवृत्तिकरण पाता है और अनिवृत्तिकरण को प्राप्त अनगार केवली होकर बाकी बचे हुए चार (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) कर्मांशो को खपाता है और फिर सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होकर शान्त हो जाता है और सब दुखो का अन्त करता है ।

व्याख्यान

इस प्रश्न पर ऊहापोह करते हुए टीकाकार कहते है यह प्रत्याख्यान सभी प्रत्याख्यानो मे प्रधान है । यह प्रत्याख्यान अन्तिम अवस्था का है चरम सीमा का है । और प्रत्याख्यान तो एक बार करने के बाद फिर भी करने पडते हैं, परन्तु यह ऐसा प्रत्याख्यान है कि एक बार करने के बाद फिर कभी इसे करने की आवश्यकता ही नही होती। इसी कारण यह प्रत्याख्यान सब प्रत्याख्यानो मे प्रधान स्थान रखता है ।

इस प्रत्याख्यान का नाम सद्भाव-प्रत्याख्यान है । सद्भाव का प्रचलित सामान्य अर्थ 'अच्छा भाव' होता है। परन्तु यहा यह प्रचलित अर्थ नही लिया गया है । यहा सद्भाव का अर्थ 'परमार्थभूत' किया गया है । जिस प्रत्याख्यान को एक बार स्वीकार कर लेने पर फिर दूसरी बार कभी कोई प्रत्याख्यान नही लेना पडता, उस परमार्थभूत प्रत्याख्यान को सद्भावप्रत्याख्यान कहा है । गौतम स्वामी ने इस सद्भावप्रत्याख्यान के विषय मे ही प्रश्न किया है । सद्भाव–

प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में महावीर भगवान् ने कहा है—सद्भावप्रत्याख्यान करने से जीवात्मा अनिवृत्तिभाव प्राप्त करता है। जो अनिवृत्तिभाव प्राप्त करता है अर्थात् शुक्लध्यान की चौथी श्रेणी पाता है, वह शेष कर्मांशो अर्थात् वेदनीयकर्म, आयुकर्म, नामकर्म तथा गोत्रकर्म का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो तथा परिनिर्वाण को प्राप्त करके समस्त दुःखो का अन्त करता है। वह अन्तकृत बन जाता है।

यह मूल प्रश्न का उत्तर है। अब इस उत्तर के विषय मे विशेष विचार करने की आवश्यकता है। यह प्रश्न चौदहवे गुणस्थान से सम्बन्ध रखता है, अतएव बहुत गम्भीर है। परमार्थभूत-सदभाव-प्रत्याख्यान करने के बाद और कोई प्रत्याख्यान करना शेष नही रहता। यह अन्तिम दशा का प्रश्न है। उदाहरणार्थ—कोई पुरुष पहाड पर चढने लगा। चढते चढते वह अन्तिम शिखर तक पहुच गया। इस अन्तिम शिखर तक पहुच जाने वाले मनुष्य के विषय मे यही कहा जा सकता है कि उसे जहां तक चढना था, चढ चुका है। इस प्रकार शिखर पर चढने वाला जब छोटी-छोटी टेकरियो को लाघ चुका तभी वह वहा पहुच सका है। अब वह अन्तिम शिखर तक पहुच गया है। अब उसे कुछ लाघना बाकी नही रहा। इसी प्रकार सद्भावप्रत्याख्यान भी चरम सीमा का प्रत्याख्यान है। मान लो, कोई मनुष्य अनाज का ढेर तोलता है। तोलते-तोलते जब कुछ बाकी नही रहता, सब तुल जाता है तब तोल की अंतिम धारण को चरम धारण कहते हैं। इसी प्रकार जब एक के बाद दूसरा प्रत्याख्यान करते-करते त्याग चरम सीमा पर आता है तब सद्-

भाव का प्रत्याख्यान किया जाता है। यह सद्भावप्रत्याख्यान करने के बाद किसी भी प्रकार का त्याग करना शेष नहीं रहता। बस यही त्याग अन्तिम त्याग होता है।

भगवान् ने चौदह गुणस्थान बतलाये हैं। गुणस्थान अर्थात् आत्मिक गुणो का विकासक्रम। इन चौदह गुणस्थानों मे से पहला गुणस्थान (मिथ्यात्व) तो सभी को भोगना पडता है अथवा सभी ने भोगा है और बहुत-से भोग रहे हैं, क्योकि यह प्राथमिक भूमिका है। जीवात्मा जब इस प्राथमिक भूमिका का अतिक्रमण करता है तभी वह ऊर्ध्वगामी बनता है।

दूसरे गुणस्थान मे जाने के विषय में शास्त्र में कहा गया है कि जीव पहले गुणस्थान से सीधा दूसरे गुणस्थान मे नही जाता। पहला गुणस्थान छूटते ही जीव प्रायः चौथे गुणस्थान मे पहुचता है। वहा सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर सम्यक्त्व से गिरते समय दूसरे गुणस्थान में आता है। जैसे वमन होने के बाद मुह मे थोडी देर तक उस वस्तु का स्वाद रहता है, अथवा वृक्ष से गिरते समय फल थोडी देर तक बीच मे रहता है, इसी प्रकार की सास्वादन अवस्था है। (सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने के बाद और मिथ्यात्व-दशा में पहुचने से पहले की अवस्था को दूसरा सास्वादन गुणस्थान कहते हैं।)

तीसरा मिश्र गुणस्थान है। इस गुणस्थान मे आने वाला जीव भेदभाव नही मानता। वह सबको समान समझता है। यद्यपि यह गुणस्थान दूसरे गुणस्थान से नम्बर मे ऊचा है, परन्तु इस गुणस्थान मे मिश्र-सदिग्ध अवस्था

रहती है। शास्त्रकार मिश्र अवस्था को भी अज्ञानावस्था ही कहते हैं, क्योकि तीसरे गुणस्थान वाला जीव सत्य-असत्य का विवेक नही कर सकता। जो पीला सो सोना और जो सफेद सो दूध, ऐसा मानने से कभी धोखा खाने का अवसर आ जाता है। यह सच है कि सोना पीला होता है और दूध सफेद होता है, मगर सोना पीला होने के कारण सभी पीली वस्तुएं सोना नही कहला सकती। इसी प्रकार दूध सफेद होता है, एतावता सभी सफेद वस्तुए दूध नही कही जा सकती। तीसरे गुणस्थान मे जीव सब देवो, सब गुरुओं और सब धर्मों को समान समझता है, यही उसका अज्ञान है। सत्य और असत्य की परख न कर सकने का कारण उसका अज्ञान ही है। इसी अज्ञान के कारण तीसरे गुणस्थान की अवस्था अज्ञानावस्था कहलाती है।

जब आत्मा अपने गुण का थोडा-बहुत विकास करता है, तब वह चौथे गुणस्थान मे आता है। इस गुणस्थान मे आने पर उसे हेय और उपादेय का विवेक हो जाता है। जब आत्मा को यह विवेक हो जाता है कि कौनसी वस्तु हेय अर्थात् त्यागने योग्य है, कौनसी वस्तु उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है और कौन वस्तु उपेक्षा करने योग्य है, तभी शास्त्रकार उसे ज्ञानी कहते हैं। इस अवस्था मे सम्यक्त्वी जीव के ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षय नही हो जाता परन्तु दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने से वह वस्तुस्वरूप को यथातथ्य जानने लगता है। फिर भी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने से वह अपने ज्ञान को सक्रिय रूप नही दे सकता। सम्यग्दृष्टि जीव को देव, गुरु

और धर्म में कौन सत्य है और कौन असत्य है ऐसी विवेकबुद्धि तो उत्पन्न हो जाती है परन्तु चारित्रमोहनीय के उदय के कारण वह अपने ज्ञान के अनुसार आचरण नही कर सकता ।

प्रश्न किया जा सकता है कि सभी बातों का निर्णय अगर बुद्धि द्वारा ही होता है तो फिर श्रद्धा की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बुद्धि को सम रखना अर्थात् विवेकबुद्धि को प्रकट करना ही श्रद्धा है । श्री आचारांग सूत्र में भी कहा है:—

'समयं ति मन्नमाना एगया समया वा असमया वा समया होति त्ति उविहाए । असमयं ति मन्यमाना एगया समया वा असमया वा होति त्ति उविहाए ।'

भावार्थ किसी मनुष्य मे भले ही अधिक बुद्धि न हो, फिर भी उसकी थोड़ी-सी बुद्धि भी अगर निष्पक्ष अर्थात् सम हो तो उस मनुष्य के लिए सभी वस्तुएं सम बन जाती हैं। फिर भले ही कोई वस्तु विषम हो तो भी समबुद्धि वाले को सम वस्तु द्वारा मिलने वाला लाभ मिल ही जाता है। उदाहरणार्थ - कोई साधु महाराज किसी के घर गोचरी के लिए गए । उन्होने अपनी बुद्धि के अनुसार आहार-पानी के विषय मे निर्णय कर लिया । साधु महाराज समबुद्धिपूर्वक निर्दोष आहार-पानी लेते है। परन्तु कदाचित् आहार पानी दूषित होने पर भी साधु की समबुद्धि में वह निर्दोष मालूम हुआ हो और निर्दोष समझ कर ही उसे ग्रहण किया हो तो भी समबुद्धि के कारण साधु को दूषित आहार लेने का दोष नही लग सकता । यह ज्ञानी पुरुषो का कथन है । इसका कारण

यह है कि उस साधु में समभाव है और अपनी समबुद्धि से वह आहार को निर्दोष समझता है। अतएव उसे निर्दोष आहार का ही फल प्राप्त होता है। छद्मस्थ साधु अपनी बुद्धि के अनुसार ही किसी बात का निर्णय कर सकता है। वह आहार अगर सदोष है तो सर्वज्ञ की दृष्टि मे है, साधु की दृष्टि मे तो वह निर्दोष ही है। अतएव साधु को कोई दोष नही लग सकता।

इसके विपरीत, कोई साधु गोचरी के लिए गया। उसने सोचा—'यदि आहारपानी के विषय में पूछताछ करूगा और वह आहार-पानी दूषित ठहरेगा तो मैं उसे ले नही सकू गा। परिणाम यह होगा कि मैं आहारपानी से वचित रह जाऊ गा। अतएव पूछताछ न करना ही उचित है।' इस प्रकार विषम बुद्धि वाले साधु के लिए निर्दोष आहार भी दूषित होता है।

कहने का आशय यह है कि अगर अपना हृदय शुद्ध और बुद्धि सम हो तो विषम वस्तुओ का लाभ भी सम वस्तुओ जैसा और सम वस्तुओ जितना ही मिलता है। इ से विपरीत, हृदय अशुद्ध और बुद्धि विपरीत होगी तो सम वस्तुओ का परिणाम विषम वस्तुओ जैसा ही विपरीत होगा।

उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि अपनी बुद्धि सम रखनी चाहिए। प्रत्येक बात का समबुद्धिपूर्वक अर्थात् विवेक के साथ विचार करने से ही आत्मा को यथेष्ट लाभ मिलता है। ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि प्रत्येक बात तीन कारणो से की जाती है—एक आत्मोन्नति करने के लिए, दूसरे किसी के साथ व्यवहार करने के लिए और तीसरे वस्तुस्वरूप

समझने के लिए। ज्ञानी पुरुष आगे कहते हैं अगर वस्तु-स्वरूप समझना हो तो वह सात नयों द्वारा समझना चाहिए। सात नयों द्वारा और सप्तभंगी द्वारा ही वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप समझा जा सकता है। सात नयों द्वारा वस्तुस्वरूप किस प्रकार समझा जाता है, यह जानने के लिए विचार करो कि इस समय निगोद के जीव किस स्थिति में है? जीव निगोद अवस्था में भले हो, मगर किसी अपेक्षा से सिद्ध कहा जा सकता है और चौदहवें गुणस्थान में स्थित आत्मा को अपेक्षाभेद से सरागी भी कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का स्वरूप सात नयों द्वारा समझना चाहिए। आत्मकल्याण करने के लिए शब्दादिक नयों का अवलम्बन करना चाहिए और पारस्परिक व्यवहार के लिए शुद्ध व्यवहार से काम लेना चाहिए। साधारणतया आरोप और विकल्प से भी वस्तु का स्वरूप समझा जा सकता है, परन्तु वस्तु का आन्तरिक और बाह्य स्वरूप भलीभांति जानने के लिए सात नयों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सात नय, सप्तभंगी, निक्षेप आदि द्वारा वस्तुस्वरूप समझने का प्रयत्न करने पर भी वस्तुस्वरूप समझ में न आये तो हृदय में ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि वीतराग जिन भगवान् ने जो कुछ भी कहा है, वह सत्य ही है। इस प्रकार जिन भगवान् के वचन में श्रद्धा रखने से भगवान् की आज्ञा का आराधक बना जा सकता है।

कहने का आशय यह है कि आत्मकल्याण करने के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिए कि—'मुझ में अनन्त सामर्थ्य है। मगर उस सामर्थ्य पर कर्मों का आवरण आ जाने से वह प्रच्छन्न हो गई है। जब कर्म-आवरण दूर हो

जाएगे तो आत्मा के लिए कोई भी कार्य असभव नही रह जायेगा।' भक्तजन इस प्रकार विचार करके ही परमात्मा की प्रार्थना करते हैं कि– 'हे प्रभो ! तेरे नाम मे बहुत महिमा छिपी है। एक बार भी अगर तेरे नाम का शब्द-नय द्वारा उच्चारण किया जाये और तेरे नाम पर अविचल श्रद्धा हो तो मेरी सग्रहनय की शक्ति भी एवभूत बन सकती है।

सग्रहनय की शक्ति भी एवभूत बन सकती है, परन्तु उसके लिए प्रबल पुरुषार्थ और सक्रिय प्रयत्न करने की आवश्यकता है। क्रमशः प्रयत्न और पुरुषार्थ करने से आत्मा मे सग्रहनय की दृष्टि से रही हुई शक्ति भी एवभूत बन जाती है। कोई मनुष्य पहाड पर चढने के लिए छलाग मारना चहे तो वह नीचे गिरेगा, अगर सीढी दर सीढी चढेगा तो पहाड के अन्तिम शिखर तक पहुच जाएगा। इसी प्रकार क्रमपूर्वक आत्मा के गुणो का विकास करने से आत्मा चौदहवें गुणस्थान पर पहुच सकता है।

शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से सब आत्मा एक हैं। यद्यपि आत्माओ मे विकसित, अविकसित और अर्धविकसित ऐसे भेद हैं, परतु शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से सब आत्माए एक हैं। उदाहरणार्थ मिट्टी से घडा, सुराही आदि अनेक बर्तन बनते हैं परन्तु मिट्टी की दृष्टि से तो भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले बर्तन भी समान ही हैं। इसी प्रकार आत्मतत्त्व की दृष्टि से सब आत्माए एक हैं। मिट्टी के भिन्न-भिन्न पदार्थ भी सग्रह की दृष्टि से—मिट्टी रूप से–एक हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भिन्न-भिन्न होने पर भी सग्रहनय की दृष्टि से एक हैं। यही बात दृष्टि मे रखकर श्री स्थानागसूत्र में

कहा है—'एगे आया।' अर्थात् आत्मा एक है। वेदान्त में भी इसी बात की पुष्टि की गई है:—

वाचारम्भणो विकारं मृत्तीकवसताम्।

अर्थात् घडा, सुराही आदि जो वचन बोले जाते हैं, वे मिट्टी के विकार होने के कारण ही बोले जाते हैं। वास्तव मे तो यह सब भिन्न-भिन्न बर्तन मिट्टी से ही बने हैं।

इसी प्रकार सिद्ध और ससारी आदि भेद विकार के कारण हैं। शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से तो वास्तव में सब आत्मा समान ही हैं।

इस कथन के आधार पर हमे यह सोचना चाहिए कि हमे मिट्टी के समान ही रहना उचित है अथवा अपने जीवन को विशेष उन्नत बनाना चाहिए? जब तक मिट्टी से घट नही बनता तब तक वह मिट्टी म तक पर धारण नही की जाती। यही नही, घडा वनने से पहले मिट्टी पैरो तले रौदी जाती है। पर जब मिट्टी से घडा बन जाता हैं तव वही मस्तक पर धारण की जाती है। इसी प्रकार आत्मा जब तक सिद्ध, बुद्ध और मुक्त नही बनता तब तक वह ससार मे ही भटकता रहता है। परन्तु जैसे मिट्टी कुभार के हाथ मे पहुचकर घट का रूपधारण करती है, फिर मस्तक पर धारण करने योग्य बन जाती है, उसी प्रकार जव आत्मा, परमात्मा के शरण मे जाकर एवभूत बन जाता है अर्थात् त्याग चरम सीमा पर पहुच जाता है तथा सम्पूर्णता प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है, तभी वह ससार की भ्रमणाओं से छुटकारा पाता है और भवभ्रमण से मुक्त होकर कृतकृत्य बन जाता है। सिद्धा-

वस्था में पहुचने के लिए ही सद्भाव प्रत्याख्यान किया जाता जाता है। भगवान् ने कहा है—सद्भाव-प्रत्याख्यान करने से जीवात्मा शेष कर्मांशो का नाश करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करता है और समस्त दुःखों का अन्त करके चरम सीमा पर पहुचता है।

भगवान् ने जगत् के कल्याण के लिए जो कुछ कहा है उसे हृदय मे स्थापित करके जीवन को सार्थक करने का प्रयत्न करना चाहिए। भगवदवाणी को जीवन मे उतारने से ही आत्मकल्याण हो सकता है। विचार को आचार मे लाना कल्याण का मार्ग है।

सद्भावप्रत्याख्यान का अर्थ यथाभूत प्रत्याख्यान अर्थात् सच्चा त्याग है। सच्चा और अन्तिम त्याग तभी हो सकता है, जब ससार के समस्त बधनो का त्याग करके शैलेशी अवस्था अर्थात् चौदहवे गुणस्थान की भावावस्था प्राप्त कर ली जाये। सद्भावप्रत्याख्यान के प्रश्न को दूसरे शब्दो मे इस रूह मे रखा जा सकता है कि चौदहवा गुणस्थान प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है? चौदहवें गुणस्थान की स्थिति पाच लघु अक्षर अर्थात् अ, उ, इ, उ ऋ, लृ उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, उतने समय की है। यह अवस्था साव्यवहारिक सकर्ण नही है अर्थात् वाणी द्वारा नही कही जा सकती फिर भी गौतम स्वामी ने इस अवस्था के विषय में प्रश्न पूछा है। शास्त्र मे प्रारभिक अवस्था के विषय मे जैसे प्रश्न किया गया है उसी प्रकार अतिम अवस्था के विषय मे भी किया गया है इस प्रश्न से यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि मोक्ष के लिए चौदहवे गुणस्थान का भी त्याग करना पडता है। श्रीदश-

वैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन मे भी भगवान् से प्रश्न किया गया है कि—हे प्रभो ! जीव जब योग का निरोध करता है तब उसे क्या अवस्था प्राप्त होती है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फर्माया है:—

जया जोगे निरु भित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्म खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरश्रो ।।
जया कम्म खवित्ताण सिद्धिं गच्छइ नीरश्रो ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो भवइ सासश्रो ।।
दश ४-२४-२५

अर्थात्—जब जीवात्मा योग का निरोध करता है तब शैलेशी अवस्था प्राप्त करता है और उसके बाद कर्मों का क्षय करके लोक के अग्रभाग पर पहुचता तथा शाश्वत सिद्धि प्राप्त करता है । कर्मों का नाश होने पर जीवात्मा सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है ।

यही बात सद्भावप्रत्याख्यान सम्बन्धी इस प्रश्न के विषय मे समझनी चाहिए । कुछ लोग कहते है कि सद्भाव का अर्थ अच्छे भाव और प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है । तो क्या इस प्रश्न मे अच्छे भाव का त्याग करना कहा गया है ? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं—चौदहवें गुणस्थान की शैलेशी अवस्था व्यवहार मे स्वतः और निश्चय मे करने से प्राप्त होती है । प्रत्येक क्रिया कर्त्ता के करने से ही होती है । कर्त्ता द्वारा विना किये कोई क्रिया नही हो सकती । परन्तु कुछ क्रियाएं ऐसी होती हैं कि वे समझ मे आ जाती हैं और कुछ क्रियाए समझ मे नही आती । उदाहरणार्थ—पेट मे गया हुआ दूध रसभाग और खलभाग मे परिणत हो जाता है । यद्यपि यह परिणति आत्मा की शक्ति द्वारा ही होती है, परन्तु यह परिणति किस

प्रकार और कब हो गई, यह बात जल्दी समझ मे नही आती । यह तो निश्चित है कि आत्मा की शक्ति के बिना शरीर मे यह परिणमन हो ही नही सकता । अगर किसी मुर्दा शरीर मे किसी उपाय द्वारा दूध पहुंचा दिया जाये तो क्या वह रसभाग और खलभाग मे परिणत हो सकेगा ? नही । अतएव स्पष्ट है कि आत्मा की शक्ति के बिना शरीर मे किसी प्रकार की परिणमनक्रिया नही हो सकती, उसी प्रकार जीव जब तेरहवे गुणस्थान मे जाता है, तब सद्भाव-प्रत्याख्यान की स्थितिरूप परिणति भी व्यवहार से स्वत: ही होती है, परन्तु निश्चय से तो करने से ही होती है। यह प्रश्न भी अतिम अवस्था से सम्बन्ध रखता है। सद्भाव का प्रत्याख्यान आत्मा के कल्याण के लिए की जाने वाली अतिम क्रिया है । यह क्रिया कर चुकने पर फिर कोई भी क्रिया करना शेष नही रहता । यह बात हम लोग भले ही देख या जान सकते हो, परन्तु ज्ञानी महात्मा अवश्य देखते और जानते हैं ।

व्याकरण की दृष्टि से यह प्रश्न कर्त्ता को भी लागू पडता है कोई बात कर्त्ता के विषय मे होती है तो कोई भाव के विषय मे । व्याकरण मे कर्तृ प्रयोग और भावप्रयोग मे अन्तर बतलाया गया है, मगर यह अन्तर सब को समझ मे नही आ सकता । कर्तृ प्रयोग और भावप्रयोग का अन्तर बतलाने के लिए एक उदाहरण भी दिया गया है । जैसे—देवदत्त भोजन पकाता है । इस उदाहरण को दो प्रकार से कह सकते हैं । कर्तृ प्रयोग मे कहेगे—देवदत्त भोजन पकाता है । भावप्रयोग मे कहा जायगा—देवदत्त द्वारा भोजन पकाया जाता है । इस उदाहरण मे कहने का आशय तो एक ही है, किन्तु एक ही आशय दो प्रकार से कहा जा सकता है।

इसी प्रकार सद्भावप्रत्याख्यान के प्रश्न में भी कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग–दोनो का उपयोग हो सकता है। परन्तु यहाँ कर्तृप्रयोग का उपयोग किया गया है अर्थात् यह क्रिया भी आत्मा के करने से ही होती है। आत्मा न करे तो क्रिया हो कैसे ? यही बात बताने के लिए यह पूछा गया है कि सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? यहा कर्तृप्रयोग किया गया है, परन्तु यह क्रिया व्यवहार मे स्वत ही होती है।

कोई बात तुम्हारी समझ मे न आये तो मुझसे पूछ सकते हो। मैं समझाने का प्रयत्न करूगा। फिर भी अगर समझ मे न आये तो सूत्र-सिद्धान्त पर विश्वास रखकर यही मानना चाहिए कि भगवान् की प्ररूपणा सत्य ही है। हम छद्मस्थ होने के कारण अमुक सत्य बात नही समझ पाते, यह हमारा दोष है।



बयालीसवां बोल

प्रतिरूपता

सद्भावप्रत्याख्यान अन्तिम दशा का प्रश्न है। उसका विवेचन किया जा चुका है। यहाँ साधकदशा के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है। सभी प्रत्याख्यानो में व्यवहार मुख्य है, अतएव अब व्यवहार के विषय में प्रश्न किया जा रहा है। श्री गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—पडिरूवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पडिरूवयाए ण लाघवियं जणयइ, लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे पसत्थलिंगे, विसुद्धसम्मत्ते सत्त-समिइसमत्ते, सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु विससणिज्जरूवे अप्पडिलेहे जिइदिए विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ।४२।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! प्रतिरूपता (आदर्श—जिनकल्पी की बाह्य और आन्तरिक उपाधि से रहित दशा) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जीव प्रतिरूपता से लघुता (निश्चिन्तता) पाता है और लघुशील जीव अप्रमत्त होता है। प्रशस्त तथा प्राकृतिक लिंग (तथा रूप का गुणयुक्त द्रव्यलिंग) धारण करता है तथा निर्मल सम्यक्त्वी और समिति सहित बनता है और सब जीवो का विश्वासपात्र, जितेन्द्रिय तथा विपुल तपश्चर्या से युक्त भी बनता है।

व्याख्यान

इस प्रश्न पर विचार करने से पहले उसके शब्दार्थ पर विचार कर लेना उचित है। प्रतिरूपता' शब्द प्रति+रूपता इस प्रकार दो शब्दो के मेल से बना है। 'प्रति' का साधारण अर्थ अनुकरण करना होता है। यहा रूप का अनुकरण समझना चाहिए। अतएव इस प्रश्न का अर्थ यह हुआ कि स्थविरकल्पी मुनि का वेश धारण कर लेने से जीव को क्या लाभ होता है?

कल्प का अर्थ है—मर्यादा। मर्यादा भूमिका के अनुसार होती है। अर्थात् जो जैसा अधिकारी होता है, उसी के अनुसार उसकी मर्यादा होती है। अगर मर्यादा बधी न हो तो कर्त्ता का भी नाश होता है और कार्य का भी नाश होता है। इस कारण मर्यादा भूमिका के अनुसार ही बाँधी जाती है और मर्यादा का ही दूसरा नाम कल्प है। श्रीभगवतीसूत्र नामक पाँचवें अग मे साधुओ के लिए मुख्यतः पाच कल्प बतलाये गये हैं—(१) स्थितकल्प (२) अस्थितकल्प (३) स्थविरकल्प (४) जिनकल्प और (५) कल्पातीत।

इन पाँच कल्पो का वर्णन अन्य अनेक सूत्रो मे तथा ग्रंथो में किया गया है। कल्पसूत्र तो कल्प बतलाने के लिए

ही है। अधिक समय तक सूत्र का पाठ किया जा सके, इसलिए उस सूत्र मे दूसरी बातो का भी वर्णन किया गया है, फिर कल्पसूत्र मुख्य रूप से कल्प बताने के लिए ही है। कल्प बताकर साधुओं से कहा गया है कि जैसी स्थिति और जैसी शक्ति हो, वैसे ही कल्प का पालन करो। ऐसा न हो कि शक्ति न होने पर भी कल्पातीत बन जाओ। शक्ति के अनुसार ही कल्प-मर्यादा का पालन करना चाहिए। शक्ति के अभाव में कल्पातीत नही बना जा सकता।

भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के साधुओं के लिए स्थितकल्प बतलाया गया है। जसे एक शेषकाल पूर्ण हो जाने के बाद उसी स्थान पर साधु को रुकना चाहिए या नही ? इस विषय मे कहा गया है कि भगवान् ऋषभ-देव और भगवान् महावीर के शासन के साधु एक शेषकाल पूर्ण हो चुकने पर उसी स्थान पर नही रुक सकते। उसी स्थान पर अधिक ठहरना उनके लिए मर्यादा-विरुद्ध है। अगर इस प्रकार की कोई मर्यादा न बांधी गई होती तो बार-बार क्लेश होता और मर्यादा पालने वाले साधुओ का स्थान मर्यादा न पालने वाले साधु ले लेते। इस अव्यवस्था को हटाने के निमित्त साधुओ के लिए यह मर्यादा बतलाई गई है कि वे एक स्थान पर एक शेषकाल से अधिक न रुके। इसी प्रकार चातुर्मास के लिए भी मर्यादा बाधी गई है। शास्त्र मे उत्तम, मध्यम और जघन्य, इस प्रकार तीन तरह के चातुर्मास कहे गये हैं। चातुर्मास-कल्प के विषय में बतलाया गया है कि साधु चातुर्मास के जितने दिन एक स्थान पर रहा हो, उसके दुगुने दिन दूसरो जगह व्यतीत करने के बाद ही उस स्थान पर आ सकता है। इससे पहले उस

स्थान पर नही आ सकता ।

कुछ लोगो का कहना है कि कल्पमर्यादा में क्या धरा है ? पर ऐसा कहने वालो को समझना चाहिए कि महापुरुषो ने जो कल्पमर्यादा बताई है, वह सहेतुक होने के कारण व्यर्थ नही है । मर्यादा बाधना व्यर्थ है, ऐसा कहने वाले मर्यादा का पालन न कर सकने के कारण उसे व्यर्थ कहते है । वास्तव में मर्यादा बाधना व्यर्थ नही है । मर्यादा बांधने में तो महान् उद्देश्य और आशय छिपा है ।

जैसे शेषकाल और चातुर्मास की मर्यादा बाधी गई है, उसी प्रकार वस्त्र, पात्र, भोजन, स्थान आदि की भी मर्यादा बतलाई है । यह मर्यादा भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के साधुओ के लिए ही है । शेष तीर्थंकरो के साधुओ के लिए ऐसी मर्यादा नही है । इस कथन पर शका हो सकती है कि ऐसा होने का क्या कारण है ? यह तो एक प्रकार का पक्षपात जान पडता है । इस शका का समाधान यह है कि महापुरुषो ने किसी के साथ पक्षपात नही किया है । उन्होने अपने ज्ञान मे देखकर आवश्यकता के अनुसार ही परिवर्तन किया है । आवश्यकता के अनुसार ही मर्यादा बाधना उचित है, यह बात एक लौकिक उदाहरण द्वारा समझाता हूं ।

एक सेठ के दो पुत्र थे । दोनों का विवाह हो गया था । एक पुत्रवधू सोच-समझकर काम करती और अपने काम की मर्यादा भी रखती है, मगर दूसरी ऊटपटाग काम करती है और किसी प्रकार की मर्यादा भी नही रखती है। इस दूसरी पुत्रवधू की अव्यवस्थित कार्यप्रणाली देखकर सेठ ने उसके लिए ऐसी मर्यादा बाध दी की वह अमुक रकम

से अधिक खर्च नही कर सकती । पहली पुत्रवधू पहले से ही सोच-समझकर मर्यादापूर्वक काम करती थी, अतएव उसे यह छूट दी गई कि वह इच्छानुसार खर्च कर सकती है । सेठ ने इस प्रकार मर्यादा बांधकर क्या कुछ अनुचित किया ? सेठ को एक पुत्रवधू के लिए मर्यादा बाधना आवश्यक प्रतीत हुआ तो उसने मर्यादा बांध दी और दूसरी के लिए मर्यादा बाधना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ तो मर्यादा नही बाधी। सेठ के हृदय मे किसी के प्रति पक्षपात नही है फिर भी अगर उसे कोई पक्षपाती कहता है तो कहने वाले की भूल है।

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने और भगवान् पार्श्वनाथ ने एक ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है, परन्तु दोनो ने अपने-अपने साधुओ के लिए आवश्यकतानुसार कल्पमर्यादा बाधी थी । भगवान् पार्श्वनाथ के साधुओ को अस्थितकल्पी कहा गया है और भगवान् महावीर के साधु स्थितकल्पी कहलाते हैं । भगवान् पार्श्वनाथ ने और भगवान् महावीर ने काल आदि का विचार करके ही कल्पमर्यादा बांधी थी। मर्यादा बाधने मे पक्षपात करने का कोई कारण न था ।

भगवान् ने जो मर्यादा बाधी है, उसका शक्ति के अनुसार अवश्य पालन करना चाहिए । अपने में शक्ति हो और वन मे बिना वस्त्र धारण किये रहा जा सकता हो तो ऐसी अवस्था मे जिनकल्पी रहना उचित है । अगर शक्ति न हो तो स्थविरकल्प का पालन करना चाहिए । स्थविरकल्प का सामान्य अर्थ यह है कि साधु स्वय सयम में स्थिर रहे और दूसरो को भी सयम मे स्थिर रखे। स्थविरकल्पी का आचार-विचार और आहार-विहार ही ऐसा होना चाहिए कि जिसमें वह स्वय सयम मे स्थिर रह सके और दूसरों

को भी सयम में स्थिर रख सके।

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी मे क्या अन्तर है ? यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न करता हू। कल्पना कीजिए, एक गाय बछडा वाली है और दूसरी विना बछडे की है। कदाचित् वाघ दोनो पर हमला करे तो विना बछडे की गाय तो पूछ ऊची उठाकर भाग जाती है, मगर बछडा वाली गाय को तो अपनी और अपने बछडे की रक्षा करनी पडती है। वह गाय वाघ से अपने बछडे की रक्षा करती है और जब वाघ दूर चला जाता है तो बछडे को मुह के आगे करके चलती है। बछडे को साथ ले चलने के कारण गाय की गति धीमी हो जाना स्वाभाविक है। ऐसा होने पर भी यह ससार केवल बछडा वाली या केवल विना बछडे की गायो से ही नही चल सकता। ससार मे दोनो प्रकार की गायों की आवश्यकता है। इसी प्रकार साधु तो जिनकल्पी भी हैं और स्थविरकल्पी भी है, मगर दोनो प्रकार प्रकार के इन साधुओ मे एक जिनकल्पी सिर्फ अपनी ही आत्मा का कल्याण करते है और दूसरे स्थविरकल्पी अपने साथ दूसरो का भी कल्याण करते है। जिनमे शक्ति होती है वे वन में जाकर नग्न रह सकते हैं और अछिद्रपाणी हो तो कर-पात्र मे किसी एक गृहस्थ के घर से आहार लेकर आहार कर सकते है। इस प्रकार से आत्मकल्याण करने वालो के लिये मोक्ष भी समीप ही है। परन्तु जिनमे इतनी शक्ति नही होती वे स्थविरकल्पी होकर आत्मकल्याण के साथ संसार का भी सुधार करते हुए विचरते हैं। अतएव जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी को मोक्ष प्राप्त करने मे विलम्ब होना स्वाभाविक है। जिनकल्पी और स्थविरकल्पी

दोनो का ध्येय तो एक ही मोक्षप्राप्ति होता है परन्तु दोनो की मोक्ष जाने की गति मे अन्तर होता है। जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी की मोक्ष जाने की गति धीमी होती है।

शास्त्र मे स्थविरकल्पी की दस मर्यादाएँ बतलाई गई हैं। इन सब मर्यादाओ के वर्णन करने का यहा अवकाश नही है, अतएव सक्षेप मे यही कहता हू कि स्थविरकल्पी साधु दस प्रकार की मर्यादाओ का समुचितरूप से पालन करता हुआ स्व-पर का कल्याण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

साधु तो जिनकल्पी भी होता है और स्थविरकल्पी भी होता है, ऐसी अवस्था मे अगर कोई जिनकल्पी को ही साधु माने और स्थविरकल्पी को साधु न माने तो वह विराधक है। इसी प्रकार अगर स्थविरकल्पी को ही साधु माने और जिनकल्पी को साधु न माने तो भी विराधक है। दोनो प्रकार के साधुओ को साधु मानने की उदारता रखनी चाहिए, तुच्छता नही रखना चाहिए। भगवान् ने जिनकल्पी और स्थविरकल्पी - दोनो को साधु कहा है। भगवान् ने कहा है कि स्थविरकल्पी साधु के बिना सघ की सेवा नही हो सकती। स्थविरकल्पी साधु पर सघ की सेवा का भार है। अतएव स्थविरकल्पी साधु को ऐसा व्यवहार रखना चाहिए जिससे सघ की सेवा भलीभाति हो सके। यद्यपि सघ का भार स्थविरकल्पी साधु पर है परन्तु उस भार को वहन करने के लिए श्रावको का सहकार होना भी आवश्यक है। अगर कोई साधु उन्मार्ग पर जाता हो तो उसे सन्मार्ग बतलाना श्रावक का कर्त्तव्य है। अगर साधु बिगडेगा तो ससार बिगड जाएगा और यदि साधु सुधरेगा तो ससार सुधरेगा। ससार

का कल्याण करने का काम साधुओ के हाथ मे है। परन्तु साधुओ का सुधार करने के लिए श्रावको को भी अपना सुधार करना पडेगा। जब तक श्रावक स्वय नही सुधरेगे तब तक साधुओ पर उनकी छाप नही पडेगी जनसमाज का कल्याण करना सरल काम नही है। इसके लिए साधुओ को सुधरना पडेगा और साधुओ का सुधार करने के लिए सर्वप्रथम श्रावको को सुधरना होगा। सक्षेप मे, जीवनसुधार करने मे ही सब का कल्याण है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का सुधार करके अपना और पराया कल्याण करे, यही मेरी मगलकामना है।

भगवान् ने कहा है प्रतिरूपता से अर्थात् स्थविर–कल्पी का आदर्श वेष धारण करने से जाव मे हल्कापन–लघुता आ जाती है। आत्मा उपाधि से अपने-आपको शक्ति-शाली मानता है, परन्तु ज्ञानीजनो का कथन है कि उपाधि से आत्मा शक्तिशाली नही होता वरन् भारी बनता है। जीवात्मा जब प्रतिरूपता धारण करता है तब उसमे लघुता आ जाती है और उसका भारीपन मिट जाता है। इसी कारण चक्रवर्त्ती राजाओ ने छह खण्ड का राज्य छोडकर और बन्ना-शालिभद्र जैसे ऋद्धिशालियो ने अपनी ऋद्धि का त्याग करके इस साधुवेष को अपनाया था। साधुवेष धारण करने से आत्मा मे लघुता आने के कारण ही समृद्ध लोग अपनी ऋद्धि-सिद्धि का त्याग किया करते थे।

साधुवेष मे ऐसा क्या चमत्कार है ? यह बात अगर तुम लोग भलीभाति न समझ सको तो कम से कम इतना तो अवश्य मानो कि 'महाजनो येन गत सा पन्था.।' अर्थात् महान् पुरुष जिस मार्ग पर चले हैं, उसी सन्मार्ग पर हमे

भी चलना चाहिए। साधुवेष धारण करने से क्या लाभ होता है, इस विषय मे इस तरह विचार करो कि कोई मनुष्य अन्तरग मे चाहे जैसा साधु हो, लेकिन अगर उसने साधु का वेष धारण नही किया है तो तुम उसे साधु नही मानोगे और न वन्दना ही करोगे। यह ठीक है कि केवल साधुवेष धारण करने से ही कोई साधु नही हो जाता, परन्तु निश्चय का काम निश्चय में होता है और व्यवहार का काम व्यवहार मे होता है। व्यवहार में लिग का होना आवश्यक माना गया है। इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा है कि स्थविरकल्पी साधु का लिग धारण करने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने साधुवेष धारण करने का एक लाभ तो यह बतलाया गया है कि साधुवेष धारण करने से जीवात्मा मे लघुता आती है।

साधुवेष मे कैसी शक्ति है, इस विषय मे मुझे निजी अनुभव हुआ है। जब मैंने साधुदीक्षा ली तब शीतकाल था और जोरो की सर्दी पडती थी। दीक्षा लेने से पहले के दिन रात्रि के समय ऐसी सर्दी लगी थी कि खूब कपडे ओढने पर भी वह कम नही हुई। उस समय मेरे मौमेरे भाई ने मुझसे कहा कल दीक्षा लेनी है और आज कडाके की सर्दी लग रही है! तो फिर दीक्षा लेने के बाद सर्दी कैसे सहन कर सकोगे? मैंने उत्तर दिया—'कल की बात कल देखी जाएगी। आज तो मुझे बहुत सर्दी लग रही है, मानो मेरी परीक्षा लेने आई है।'

दूसरे दिन मैंने दीक्षा ली। उस रात को नदी के किनारे बने हुए एक मन्दिर मे हमने निवास किया। मन्दिर का

द्वार नदी के सन्मुख था और नदी की तरफ से सांय-सांय करता हुआ पवन आ रहा था। मेरे शरीर पर सिर्फ गाती पछेवडी थी और ओढने के लिए एक चादर था। ओढने के इतने साधन होने पर भी मुझे ठड नही लगी और रात्रि में ऐसी गाढी निद्रा आई कि पता ही नही चला कि रात्रि कब व्यतीत हो गई है। हालांकि इस रात्रि मे भी पहली रात्रि जितनी ही सर्दी थी। थोड़े-से वस्त्रो का उपयोग करने पर भी मुझे सर्दी न लगने के कारण पर विचार करने पर मुझे यह विचार आया कि कल मैं साधुवेष में नही था, इसी कारण बहुत-से कपड ओढने पर भी सर्दी कम नही मालूम हुई और आज मैं साधुवेष मे हूं, अत इतने कम वस्त्र ओढने पर भी सर्दी नही लगी। यह साधुवेष की ही महिमा है। जब मैंने दीक्षा ली थी तब मेरी उम्र अधिक नही थी, फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मेरे सिर पर का बोझा हल्का हो गया है। जब छोटी उम्र मे भी साधुवेष धारण करने से लघुता का अनुभव हुआ तो फिर छह खड की ऋद्धि का परित्याग करके दीक्षा लेने वालो को कैसी लघुता का अनुभव होता होगा ! इस प्रकार साधुवेष धारण न करने से जीव पर ससार का बोझा लदा रहता है परन्तु साधुवेष धारण कर लेने पर वह हल्का-लघु बन जाता है।

साधुवेष धारण करने से मनुष्य हल्का हो जाता है, इस बात का प्रमाण बतलाते हुये भगवान् कहते हैं--जब आत्मा हल्का होता है तब वह प्रमादरहित बन जाता है। यद्यपि प्रमत्त अवस्था षष्ठ गुणस्थान तक बनी रहती है परन्तु यहा जो प्रमादरहित होने का कथन किया गया है, उसका अर्थ यह है कि आत्मा साधुलिंग धारण करते ही मद, विषय,

कषाय आदि प्रमादों से पृथक् हो जाता है। साधुलिंग धारण करने से जीवात्मा प्रमाद का सेवन करते हिचकता है और कदाचित् प्रमाद का सेवन करता भी है तो साधुवेष का ध्यान आते ही वह उसका त्याग कर देता है। उदाहरणार्थ— प्रसन्नचन्द्र ऋषि ने सातवे नरक मे जाने योग्य सकल्प किया था, परन्तु जब उन्होने अपने मस्तक पर हाथ फेरा तब 'मैं साधु हू' ऐसा खयाल आते ही वह अपनी मूल स्थिति पर आ गए। वह राजर्षि भी आखिर सुविहित वेष के ही प्रभाव से मूल स्थिति पर आ सके। साधुवेष ने ही उन्हे नरक में जाने से बचाया। इस प्रकार साधुवेष धारण करने से आत्मा लघुता प्राप्त करता है। यद्यपि भगवान् ने यह तो स्पष्ट कहा है कि अगर कोई व्यक्ति साधु का वेष धारण करके भी अपने परिणामो को पवित्र नही रखता तो उसकी मति के अनुसार ही गति होती है, परन्तु साधुवेष बहुत बार आत्मा को स्थिर करने में सहायक बनता है और इसी कारण यह कहा गया है कि साधुवेष धारण करने से आत्मा को लघुता प्राप्त होती है और लघुताशील जीव अप्रमादी बनता है। यद्यपि साधुवेष धारण करते ही प्रमाद सर्वथा नही छूट जाता परन्तु वेष प्रमाद से मुक्त होने के मार्ग पर ले जाता है और किसी अवसर पर तो आत्मा को पतित होने से भी बचा लेता है। साधुवेष प्रमादरूपी शस्त्र-अस्त्र के आघातो से बचने के लिए बख्तर का काम देता है।

कुछ लोग आध्यात्मिकता के नाम पर साधुवेष आदि की उपेक्षा करते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। भगवान् ने अपने कल्याण के लिए ही साधुवेष धारण का उपदेश दिया है। साधुवेष धारण करने से होने वाले लाभ तो अनुभव-

लिंग से प्रथम तो सुविहित साधु माना जाता है, दूसरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भी रखा होती है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका जीवो की रक्षा के लिये ही रखी जाती है। इस प्रकार साधुलिंग प्रशस्त है। साधुओ के पास जो भी वस्तु हो वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र का रक्षा के लिए ही होनी चाहिए। जो चीज ज्ञान, दर्शन और चारित्र की घातक हो, ऐसी एक भी वस्तु साधु अपने पास नही रख सकता और न उसे रखनी ही चाहिए।

सुना है, वाकानेर के महाराजा साहब एक वार अपने समाज के नागजी स्वामी के पास आये। उन्होने पूछा—'महाराजश्री ! आपके पास क्या-क्या उपकरण हैं ?

नागजी स्वामी ने अपने सब उपकरण बतला दिये। स्वामीजी के उपकरण देखकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए, और कहने लगे—'साधु के पास जितनी चीजें होनी चाहिए, उतनी ही आपके पास हैं।'

कहने का आशय यह है कि साधुलिंग प्रशस्त है। अतएव साधु के पास गुण उत्पन्न करने वाली चीजें ही रह सकती है, अवगुण उत्पन्न करने वाली नही। साधु के पास ऐसी ही वस्तु रह सकती हैं कि कोई भी और कभी भी उन्हे देखना चाहे तो साधु को दिखलाने मे सकोच न हो। उदाहरणार्थ -अगर किसी साधु के पास दर्पण या कघा हो तो उसे दिखलाने मे साधु को सकोच होगा और ऐसी चीज देखकर लोग साधु का उपहास करेंगे। दर्पण या कघा रखना साधु के लिए वर्ज्य है। इसके विपरीत अगर साधु के पास शास्त्र हो तो शास्त्र बतलाने मे साधु को सकोच नही होगा। शास्त्र तो साधुता का चिन्ह और भूषण है। पूज्य

श्री श्रीलालजी महाराज कहते थे कि शास्त्र तो जैन साधु का सिंगार है।

प्रशस्त लिंग धारण करने से आत्मा मे विशुद्धता आती है और वह विशुद्धता बढती जाती है। प्रशस्त साधुलिंग से सम्यक्त्व आदि गुणो की वृद्धि होती है और इन गुणो मे आत्मा स्थिर होता है। सुविहित वेष वही साधु धारण कर सकता है, जिसमे सम्यक्त्व आदि गुण होते हैं। साधुवेष से इन गुणो की रक्षा और वृद्धि होती है।

स्थविरकल्पी का वेष धारण करने से दूसरा लाभ क्या होता है, यह बतलाते हुए भगवान् ने कहा कि आपत्तिकाल मे साधुवेष अध्यवसाय को निश्चल रखता है। आपत्तिकाल मे साधुवेष से अध्यवसाय मे किस प्रकार निश्चलता रहती है, इस विषय पर विचार करते हुए मेरा स्वानुभव यहा स्मरण मे आ जाता है:—

घोडनदी मे एक श्राविका सामायिक में बैठी थी। सामायिक के समय उसे बिच्छू ने डंक मार दिया। बिच्छू के डक मारने पर भी वह श्राविका तब तक चुप चाप बैठी रही जब तक सामायिक पूर्ण न हो गई। सामायिक पूर्ण होते ही वह चीख मार कर रोने लगी। लोगो ने रोने का कारण पूछा तो श्राविका ने कहा 'मुझे बिच्छू ने काट लिया है, और उसकी असह्य पीड़ा के कारण रोये बिना नही रहा जाता।'

यह सुनकर लोगो ने कहा—'जब बिच्छू ने डंक मारा था तब तुम चुप कैसे बैठी रही ?'

श्राविका बोली—'उस समय मैं सामायिक में थी। सामायिक मे कैसे रो सकती हू!'

गम्य हैं, बुद्धिगम्य नही है; इसलिए भगवान् ने कहा है कि साधुवेष धारण करने से ही आत्मा को लघुता का अनुभव होता है।

कहने का आशय यह है कि साधुवेष धारण करने से जीवात्मा द्रव्य से और भाव से हल्का बन जाता है। द्रव्य से तो उपकरण आदि के भार से हल्का हो जाता है और भाव से प्रमादभार से हल्का हो जाता है। शास्त्र में साधु के लिए जितने भडोपकरण आदि रखने का विधान किया गया है, उससे अधिक भडोपकरण आदि साधु अपने पास नही रख सकता और इसी कारण साधु द्रव्य से उपकरण आदि के भार से हल्का बन जाता है। साधु के पास ऐसी कोई वस्तु नही होनी चाहिए, जिसके विषय में पूछने पर साधु उत्तर न दे सके। साधु के पास जो भी कोई वस्तु हो वह सयम मे सहायक और उपयोगी होनी चाहिए। कोई भी निरुपयोगी वस्तु साधु के पास नही होनी चाहिए। जिस वस्तु के द्वारा इन्द्रियो के विषयो का पोषण हो और साधुता का ह्रास हो ऐसी वस्तु साधु नही रख सकता। साधु तो सयम मे सहायक और साधुता की पोषक वस्तु ही रख सकता है और वह भी शास्त्रविहित परिमाण में ही। इस प्रकार साधु द्रव्य से अनेक उपकरणो की उपाधि से मुक्त होकर हल्का हो जाता है और भाव से क्रोध आदि कषायो का परित्याग करके हल्का हो जाता है। साधुलिंग को धारण करने वाला कोई व्यक्ति कदाचित् क्रोध करने लगे तो श्रावक, साधु से कह सकता है कि, महाराज! साधु होकर क्रोध करना आपके लिए उचित नही है। हम गृहस्थ हैं, मगर आप तो क्रोध आदि को जीतने वाले साधु

हैं। आप क्रोध करे, यह उचित नही कहा जा सकता। इस प्रकार श्रावको के कथनमात्र से क्रोध करने वाला साधु भी कषाय से बच जाता है और साधुवेष होने के कारण क्रोध, विषय, कषाय, निद्रा आदि प्रमादो से बच सकता है। सुविहित साधुवेष के कारण जीवात्मा पाप से बचता है और कर्मगुरुता के भार से हल्का बन जाता है।

प्रमाद को जीतने के लिए साधुवेष धारण किया जाता है, प्रमाद को वढाने के लिए नही। सरकार सिपाहियो को शस्त्र देती है सो वैरियो को जीतने के लिए देती है, पराजित होने के लिए नही। इसी प्रकार सुविहित वेष भी प्रमाद को जीतने के लिए पहना जाता है। इसके अतिरिक्त साधुवेष साधुता का चिह्न है, इसलिए भी धारण किया जाता है। साधुवेप न धारण करने वाले व्यवहार मे साधु नही कहलाते। प्रकट व्यवहार मे साधु का लिंग धारण करने वाले ही साधु कहलाते हैं। उदाहरणार्थ— कोई मनुष्य पुलिस का सिपाही हो परन्तु अगर उसने पुलिस की नियत पोशाक नही पहनी है तो उसे कोई पुलिस का आदमी नही मानेगा और न उसकी आज्ञा ही मानेगा। भले ही उसे खुफिया पुलिस कोई समझ ले परतु पुलिस की पोशाक के बिना उसे प्रकट रूप में पुलिस नही माना जा सकता। इसी प्रकार कोई अन्दर से भले ही साधुता के गुणो से युक्त हो किन्तु जब तक वह साधु का लिंग धारण नही करेगा तब तक उसे प्रकट मे साधु नही माना जा सकता। इसी कारण श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है:—

लोगे लिंगपयोयणं।

अर्थात् लोको में लिंग का प्रयोजन है।

लिंग से प्रथम तो सुविहित साधु माना जाता है, दूसरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भी रखा होती है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका जीवो की रक्षा के लिये ही रखी जाती है। इस प्रकार साधुलिंग प्रशस्त है। साधुओ के पास जो भी वस्तु हो वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र का रक्षा के लिए ही होनी चाहिए। जो चीज ज्ञान, दर्शन और चारित्र की घातक हो, ऐसी एक भी वस्तु साधु अपने पास नही रख सकता और न उसे रखनी ही चाहिए।

सुना है, वाकानेर के महाराजा साहब एक बार अपने समाज के नागजी स्वामी के पास आये। उन्होने पूछा—'महाराजश्री ! आपके पास क्या-क्या उपकरण हैं ?

नागजी स्वामी ने अपने सब उपकरण बतला दिये। स्वामीजी के उपकरण देखकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए, और कहने लगे—'साधु के पास जितनी चीजें होनी चाहिए, उतनी ही आपके पास हैं।'

कहने का आशय यह है कि साधुलिंग प्रशस्त है। अतएव साधु के पास गुण उत्पन्न करने वाली चीजें ही रह सकती हैं, अवगुण उत्पन्न करने वाली नही। साधु के पास ऐसी ही वस्तु रह सकती हैं कि कोई भी और कभी भी उन्हे देखना चाहे तो साधु को दिखलाने मे सकोच न हो। उदाहरणार्थ -अगर किसी साधु के पास दर्पण या कघा हो तो उसे दिखलाने मे साधु को सकोच होगा और ऐसी चीज देखकर लोग साधु का उपहास करेंगे। दर्पण या कघा रखना साधु के लिए वर्ज्य है। इसके विपरीत अगर साधु के पास शास्त्र हो तो शास्त्र बतलाने मे साधु को सकोच नही होगा। शास्त्र तो साधुता का चिन्ह और भूषण है। पूज्य

श्री श्रीलालजी महाराज कहते थे कि शास्त्र तो जैन साधु का सिंगार है ।

प्रशस्त लिंग धारण करने से आत्मा मे विशुद्धता आती है और वह विशुद्धता वढती जाती है । प्रशस्त साधुलिंग से सम्यक्त्व आदि गुणो की वृद्धि होती है और इन गुणो मे आत्मा स्थिर होता है । सुविहित वेष वही साधु धारण कर सकता है, जिसमे सम्यक्त्व आदि गुण होते हैं । साधुवेष मे इन गुणो की रक्षा और वृद्धि होती है ।

स्थविरकल्पी का वेष धारण करने से दूसरा लाभ क्या होता है, यह वतलाते हुए भगवान् ने कहा कि आपत्तिकाल मे साधुवेष अध्यवसाय को निश्चल रखता है । आपत्तिकाल मे साधुवेष से अध्यवसाय मे किस प्रकार निश्चलता रहती है, इस विषय पर विचार करते हुए मेरा स्वानुभव यहा स्मरण मे आ जाता है:—

घोडनदी मे एक श्राविका सामायिक में बैठी थी । सामायिक के समय उसे बिच्छू ने डक मार दिया । बिच्छू के डक मारने पर भी वह श्राविका तब तक चुप-चाप बैठी रही जब तक सामायिक पूर्ण न हो गई । सामायिक पूर्ण होते ही वह चीख मार कर रोने लगी । लोगो ने रोने का कारण पूछा तो श्राविका ने कहा मुझे बिच्छू ने काट लिया है, और उसकी असह्य पीडा के कारण रोये बिना नही रहा जाता ।'

यह सुनकर लोगो ने कहा—'जब बिच्छू ने डक मारा था तब तुम चुप कैसे बैठी रही ?'

श्राविका बोली—'उस समय मैं सामायिक में थी । सामायिक मे कैसे रो सकती हूं !'

इस प्रकार वह श्राविक विच्छू के काटने पर भी सामायिक के समय मन को मजबूत करके बैठी रही और अपना अध्यवसाय दृढ रख सकी। इस प्रकार वेप आपत्तिकाल मे अध्यवसाय को दृढ रखता है।

आज सामायिक निरुपयोगी मानी जाती है और कुछ लोग सामायिकक्रिया के विरुद्ध भी बोलते हैं, मगर सामायिक के विरुद्ध बोलने वाले लोग भूल करते हैं किसी आपत्ति के समय सामायिक द्वारा अध्यवसाय निश्चल रहते है कुछ लोगो को सामायिक क्रिया मामूली-सी मालूम होती है, परन्तु वास्तव में सामायिक किस प्रकार जीवन साधक है, यह तो समय आने पर ही पता चलता है। जो लोग नियमित रूप से बराबर सामायिक करते है, वही स.मायिक का प्रभाव समझ सकते हैं। चोर तो हमेशा नही आते, लेकिन तिजोरी में ताला हमेशा लगाया जाता है। चोर के आने पर तिजोरी मे ताला लगा होने पर धन की रक्षा हो जाती है। इसी प्रकार वेष से भी आपत्तिकाल मे अध्यवस।यो की रक्षा हो जाती है। इतना ही नही वरन् साधुलिग पाचो समितियो का पालन करने मे समर्थ होता है। साधुवेष को महत्ता प्रकट करते हुए आगे कहा गया है कि सा।धुवेष धारण करने वाला साधु प्राणी, भूत, जीव, सत्व आदि समस्त प्र।णियो का विश्वासपात्र बन जाता है साधुवेष धारण करने वाला साधु निषिद्ध घर मे भी निसकोच होकर जा सकता है। आज साधुवेषधारी लोगो पर जो अविश्वास पैदा हुआ दिखाई देता है, उसका कारण कुछ और होगा, परन्तु साधुवेष तो विश्वास उत्पन्न करने का ही साधन है।

सुविहित साधुवेष उपधि को अल्प करने मे साधनभूत बनता है और इससे सब प्रकार की झझट दूर हो जाती

हैं । वेषधारी अल्प ही उपधि रख सकता है और इस प्रकार वह अधिक सामान संभालने से बच जाता है । साधुवेष जीव को जितेन्द्रिय बनने का मूक सदेश सुनाता है । इस प्रकार साधुवेष विपुल तप-सयम आदि सद्‌गुणो की प्राप्ति कराता है तथा सद्‌गुणो का सरक्षण करने मे भी साधक बनता है।

सुविहित साधुवेष से उत्पन्न होने वाले अनेक गुणो मे से प्रत्येक गुण पर विचार करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है । अतएव समुच्चय रूप मे यहा इतना ही कह देना पर्याप्त है कि सुविहित साधुवेष धारण करके उसकी प्रतिष्ठा बढाते तथा रक्षा करते हैं, वे अपना और पर का कल्याण करते हैं ।

स्थविर वेष धारण करना तो परमात्मा के दरबार मे बैठक प्राप्त करने का प्रयत्न करने के समान है। दरबार मे बैठने वाले लोगो को भी वेष के विषय मे सावधानी रखनी पडती है, तो फिर क्या परमात्मा के दरबार मे बैठने के लिए वेष की सावधानी नही रखनी चाहिए ? अवश्य रखनी चाहिए ।

साधुवेष स्वीकार करके प्रत्येक साधु को इस बात का विचार करना चाहिए कि महान् चक्रवर्ती भी अपनी ऋद्धि-सम्पदा का त्याग करके जिस वेष को धारण करते हैं वही वेष मुझे भी प्राप्त हुआ है । अतएव मुझे इस वेष के विरुद्ध या इसे कलक लगाने वाला कोई काम नही करना चाहिए। साधुवेष की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने का भार हमारे ऊपर भी है और तुम्हारे ऊपर भी है, क्योंकि तुम (श्रावक) भी चतुर्विध तीर्थ मे से एक हो । शास्त्र मे कहा है:—

चउव्विहे समणसंघे पण्णत्ते, तंजहा-समणाए, समणीतें, सावयाए, सावियाए य ।

अर्थात्- साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चतुर्विध संघ है । अतएव तुम्हे भी कोई काम ऐसा नही करना चाहिए, जिसके कारण संघ या शासन की प्रतिष्ठा को कलंक लगे । तुम्हें ऐसे ही सुकार्य करना चाहिए, जिससे संघ और शासन की प्रतिष्ठा और कीर्ति बढ़े ।

जिन्होने साधुवेष धारण किया है उन्हे ऐसा नही सोचना चाहिए कि अब हमे कुछ करना शेष नही रह गया है । उन्हे विचारना चाहिए कि दूसरे लोग भले ही कर्त्तव्य से भ्रष्ट हो जाए पर मैं अपने कर्त्तव्य का परित्याग नही करूगा ।

शास्त्रकारों ने जनसमाज को कल्याण का यह मार्ग बतलाया है । इस कल्याणमार्ग पर चल कर अनेक साधुओ ने स्व-पर का कल्याण साधन किया है और अनेक साधक कल्याण साध रहे है । कल्याण के मार्ग पर आरूढ होकर सभी लोग स्व-पर का कल्याण साधन करे, बस यही हृदयगत भावना है ।



तेतालीसवां बोल

सेवा

जो साधु, साधुवेष धारण करके कर्त्तव्यपालन में तत्पर रहता है, वह आत्मकल्याण की साधना करता है। साधुवेष की शोभा वास्तव मे सेवा में है। नीतिकारो ने सेवा को परमधर्म माना है। सेवा भी तपोमार्ग है। अतएव वैयावृत्य (सेवा) के विषम मे गौतम स्वामी, भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं.—

मूलपाठ

प्रश्न--वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर--वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्मं निबंधइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वैयावृत्य अर्थात् सेवा से जीव को क्या लाभ होता है।

उत्तर—वैयावृत्य से तीर्थंकरनाम-गोत्र का कर्म बंध होता है।

व्याख्यान

वैयावच्च अथवा वैयावृत्य को व्यावहारिक भाषा में

सेवा कहते हैं। कितनेक लोग सेवा करने को हल्का काम मानते हैं। परन्तु ज्ञानीजनों का कथन है कि सेवा को हल्का काम समझने वाला स्वय ही हल्का बना रहता है। अर्थात् वह उच्च अवस्था प्राप्त नही कर सकता। वास्तव मे सेवा छोटा काम नही है। वह तो महान् कर्त्तव्य है। सेवा करने वाले को यह मानना चाहिए कि मै जो सेवा कर रहा हूं वह परमात्मा की ही सेवा कर रहा हूं। ऐसा मानकर जो साधु स्वयसेवक की भाति सेवा करते है, उनके लिए भगवान् ने कहा ही है कि वैयावृत्य-सेवा करने वाला तीर्थङ्करनामगोत्र बाधता है। जब दूसरे की सेवा करते समय यह समझा जाता है कि मैं परमात्मा की सेवा कर रहा हूं, तब वह सेवा अनोखी-अनुपम ही होती है।

कुछ लोग सेवा के नाम पर सेवा का ऊपरी ढोंग करते हैं परन्तु भीतर से सच्ची सेवा नही करते। ऐसे लोगो के विषय मे ज्ञानीजनो का कथन है कि वे झूठ-कपट का सेवन करने वाले लोग वास्तव मे परमात्मा की सेवा नही करते वरन् गुलामी की सेवा करते हैं। सच्ची सेवा में कभी झूठ-कपट का व्यवहार किया ही नही जा सकता। श्रीस्थानागसूत्र मे दस प्रकार की सेवा बतलाते हुए कहा है:—

(१) आयरियवेयावच्च (२) उवज्झायवेयावच्च (३) थेरवेयावच्च (४) तवसीवेयावच्च (५) सेक्खवेयावच्च (६) गिलाणवेयावच्च (७) गणवेयावच्च (८) कुलवेयावच्च (९) संघवेयावच्च (१०) साहम्मियवेयावच्च।

अर्थात् सेवा दस प्रकार की है—(१) आचार्य की सेवा (२) उपाध्याय की सेवा (३) स्थविर की सेवा (४) तप-

स्वी की सेवा (५) शिष्य की सेवा (६) ग्लान–रोगी की सेवा (७) गण की सेवा (८) कुल की सेवा (९) सघ की सेवा और (१०) सहधर्मी की सेवा ।

यह दस प्रकार की सेवा बतलाई गई है । इनमें से आचार्य की सेवा करने से क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि आचार्य की सेवा करने से प्रतिक्षण अनन्त कर्मों का क्षय होता है और अन्त मे मोक्ष प्राप्त होता है । इसी प्रकार प्रत्येक सेवा के विषय में प्रश्नोत्तर किये गये हैं । यहा गौतम स्वामी नें समुच्चय रूप में वैयावृत्य अर्थात् सेवा के फल के विषय में प्रश्न किया है । इस प्रश्न के उत्तर मे फरमाया है कि सेवा करने वाला तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन करता है ।

जैनशास्त्रो मे तीर्थङ्करपद से बड़ा अन्य कोई पद नहीं माना गया है । यह पद किसी अन्य पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हो सकता है, ऐसा कथन इन ७३ बोलो मे कही भी मेरे देखने मे नही आया । यह महान् फल वैयावृत्य-सेवा करने से प्राप्त होता है, ऐसा बतलाया गया है । भगवान् ने सेवा का फल इतना उत्तम और महान् बतलाया है । जिस सेवा से ऐसा महान् फल प्राप्त होता है, वही सेवा करने मे झूठ-कपट का व्यवहार करना कितनी मूर्खता है । सेवा में जो छल-कपट करता है वह गुलामी की सेवा करता है, ऐसा समझना चाहिए । जो पुरुष किसी भी प्रकार की सेवा को परमात्मा की सेवा मानकर करता है, वह सेवा करने में छल-कपट का व्यवहार कर ही नही सकता ।

सेवा अनेक प्रकार से होती है । ग्रथो में कहा है कि

भरतजी तथा बाहुबलीजी पूर्वजन्म में पांच सौ मुनियों की सेवा करते थे। उन मुनियो की बहिरग सेवा भरतजी करते थे और अन्तरग सेवा बाहुबलीजी करते थे। इस सेवा के फल–स्वरूप बाहुबलीजी को शारीरिक बल की प्राप्ति हुई और भरतजी को ऋद्धि-सम्पदा का बल प्राप्त हुआ। सेवा का यह फल बहिरग है। सेवा द्वारा दूसरा जो फल मिलता है वह तो अत्यन्त ही महान् है और उसके विषय मे भगवान् ने कहा ही है कि सेवा करनें वाला तीर्थङ्कर-गोत्र का उपार्जन करता है। भगवान् ऋषभदेव के विषय मे भी कहा जाता है कि उन्होने जीवानन्द वैद्य के भव मे एक मुनि की खूब ही सेवा की थी और उस सेवा का महान् फल मिला था।

शास्त्र मे जब मुनियो के लिए भी सेवा करने का विधान किया गया है तब तुम्हें कितना अधिक सेवाकार्य करना चाहिए, इस बात का विचार तुम स्वय ही कर सकते हो। कितनेक लोगो को सामायिक-पौषध आदि धार्मिक क्रिया करने का तो खूब चाव होता है, परन्तु सेवा कार्य करने मे अरुचि होती है। और अगर किसी रोगी की सेवा करनें का अवसर आ जाता है तो उन्हे बडी कठिनाई मालूम होती है। रोगी कपडे में ही के दस्त कर देता है और कभी-कभी रास्ते मे ही चक्कर खाकर गिर पडता है। ऐसे रोगी की सेवा करना कितना कठिन है। फिर भी जो सेवाभावी लोग रोगी की सेवा को परमात्मा की सेवा मान कर करते हैं, उनकी भावना कितनी ऊंची होगी।

वास्तव मे यह अखिल ससार सेवा के कारण ही टिक रहा है। जब ससार मे सेवाभावना की कमी हो जाती है

तभी उत्पात मचने लगता है। और जब सेवाभाव की वृद्धि होती है तब यह ससार स्वर्ग के समान बन जाता है। अतएव सेवा कार्य करने मे तनिक भी उपेक्षा नही करना चाहिए और न छल-कपट ही करना चाहिए। जो मनुष्य माता-पिता अथवा अन्य किसी भी मनुष्य की सेवा करने मे छल-कपट करता हुआ भी अपने को सेवाभावी कहलवाता है, वह वास्तव मे सेवाभावी नही वरन् ढोगी है। सेवक तो वही है जो सेवा करने मे झूठ-कपट का आश्रय नही लेता और सेवा कार्य के प्रति घृणाभाव भी प्रदर्शित नही करता। जहा घृणा है वहा सच्ची सेवा नही हो सकती।

मुनि के लिए किस सीमा तक सेवा करने का विधान किया गया है, यह बताने के लिए एक जैन उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न करता हूः—

नदिसेन नामक एक मुनि बहुत ही सेवाभावी थे। उनकी सेवा की प्रशसा इन्द्रलोक तक जा पहुची। इन्द्र ने देवसभा मे नदिसेन मुनि की सेवा की प्रशसा करते हुए कहा—

राजकुमार होने पर भी नदिसेन मुनि ऐसी सेवा करते हैं कि उन जैसी सेवा करना दूसरो के लिए बडा कठिन है।

इन्द्र के यह प्रशसात्मक वचन सुनकर एक देव ने विचार किया—इन्द्र महाराज देवो के सामने एक मनुष्य की इतनी प्रशसा क्यो करते हैं? अच्छा, उस सेवाभावी मुनि की परीक्षा क्यो न की जाय? आखिर नदिसेन मुनि मनुष्य हैं। मनुष्य की नाक मे दुर्गंध जाती है; अतएव दुर्गन्ध द्वारा उन्हे घबरा देना स्वाभाविक और सरल है। इस प्रकार विचार करके उस देव ने नदिसेन मुनि की परीक्षा लेने का दृढ निश्चय कर लिया।

र्पित कर देता है। सेवा का यह आदेश अगर जनसमाज के हृदय मे अकित हो जाये तो यह ससार स्वर्ग वन जाये।

नदिसेन मुनि ने उस देव को अपने कधे पर चढा लिया। देव ने नदिसेन मुनि को सेवा की प्रतिज्ञा से विचलित करने के लिए अपने शरीर मे से रक्त और पीव की धारा बहाई, मगर नदिसेन मुनि अपनी सेवाभावना को स्थिर और दृढ करते हुए देव के दुर्गधमय शरीर को उठाकर नगर मे ले गये। देव के शरीर से निकलती दुर्गन्ध के कारण तथा देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर नगरजन मुनि से कहने लगे--'आप ऐसे रोगी मनुष्य का नगर में नही ले जा सकते। एक रोगी के पीछे अनेको को रोगी नही बनाना चाहिए।'

नागरिकजनो का विरोध देखकर मुनि की स्थिति कितनी बेढगी हो गई होगी? ऐसी विषम स्थिति मे मुनि के मन मे अनेक प्रकार के तर्क-वितर्कों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु उन्होने खोटा तर्क-वितर्क नही किया। वे समभावपूर्वक नागरिक लोगो की वात सुनते रहे। मुनि ने मन ही मन विचार किया—'मैं नगरजनो को भी दुखी नही कर सकता और इस रोगी साधु की सेवा का भी परित्याग नही कर सकता। हे प्रभो! ऐसी विकट स्थिति मे क्या करूँ?'

नदिसेन मुनि इस प्रकार विचार कर रहे थे। इतने में साधु वेषधारी देव ने भी विचार किया--'ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी इन मुनि के हृदय मे सेवा के प्रति उतना ही दृढ विश्वास है। वास्तव मे इन मुनि की सेवाभावना अत्यन्त उच्च कोटि की है। इन्द्र महाराज

ने इनकी सेवाभावना की जितनी प्रशसा की थी, वास्तव में मुनि का सेवाभाव वैसी ही प्रशसा का पात्र है।' इस प्रकार विचार करके साधु वेषधारी देव, साधुवेष का त्याग करके, अपने स्वाभाविक रूप में नीचे उतरा और मुनि के पैरो पर गिरकर कहने लगा--हे मुनिपुगव ! आपकी सेवाभावना की जैसी प्रशसा इन्द्र महाराज ने की थी, आप वैसे ही सेवा-मूर्ति हैं । आपने सेवा द्वारा देवो को भी जीत लिया है । सेवा करने वाला देवो को भी जीत लेता है । शास्त्र में भी कहा हैः --

देवा वि त नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ।

अर्थात् - जिनका मन धर्म मे सदा अनुरक्त रहता है; उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं ।

वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति के आगे देव भी नत-मस्तक हो जाते हैं तो साधारण लोग अगर सेवाभावी को नमस्कार करें तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? सेवाभावी व्यक्ति को मन मे किसी प्रकार का छल-कपट नही रखना चाहिए । जिनके मन मे विकारभाव नही होता, देव भी उनकी सेवा करते हैं । अतएव मन को पवित्र रखो ।

नदिसेन मुनि के मन मे कपटभाव नही था और न घृणाभाव ही था । इसी कारण उनकी सेवावृत्ति सफल हुई ।

तीर्थङ्कर बनना तो सभी को रुचता है मगर तीर्थ-ङ्कर पद प्राप्त करने के लिए सेवा करना रुचता है या नही, यह देखो । सेवाकार्य कितना कठिन है, इस सम्बन्ध मे कहा है --

वह देव साधु का स्वाग वना कर जहां नदिसेन मुनि ठहरे थे, वहा पास के एक जगल मे जाकर पडा रहा। उस देव ने अपने शरीर को ऐसा रुग्ण बना लिया कि शरीर के छिद्रो मे से रक्त और मवाद वहने लगा। उस रक्त और पीव मे से असह्य दुर्गन्ध निकल रही थी। इस प्रकार रोगी साधु का भेषधारण करके उस देव ने नदिसेन मुनि के पास समाचार भेजा कि पास के जगल मे एक साधु वहुत बीमार हालत मे पडे है। उनकी सेवा करने वाला कोई नही है, अत उन्हे बहुत अधिक कष्ट हो रहा है।

नदिसेन मुनि को जैसे ही यह समाचार मिले कि वें तुरन्त उन रोगी साधु की सेवा करने के लिए चल पडे। मुनि मन ही मन विचारने लगे—'मेरा सौभाग्य है कि मुझे साधु सेवा का ऐसा सुअवसर हाथ आया है।'

इस प्रकार विचार कर नदिसेन मुनि रोगी साधु की सेवा करने के लिए जगल में पहुचे। मुनि उस कपटी वेष-धारी रोगी साधु की ओर ज्यो-ज्यो आगे जाने लगे त्यो-त्यो उन्हे अधिकाधिक दुर्गन्ध आने लगी। परन्तु नदिसेन मुनि उस असह्य दुर्गन्ध से न घवरा कर रोगी साधु के समीप पहुच गये। नदिसेन मुनि को आते देखकर वह साधु वेषधारी देव क्रुद्ध होकर कहने लगा 'तुम क्यो इतनी देरी करके आये? मुझे कितना कष्ट हो रहा है, इसका तुम्हे खयाल ही नही है? सेवाभावी कहलाते हो और सेवा करने के समय इतना विलम्ब करते हो।' साधु रूपधारी देव इस प्रकार कहकर नदिसेन को उपालभ देने लगा।

यद्यपि देव ने अपना शरीर घृणोत्पादक बनाया था

और उसके शरीर से दुस्सह दुर्गन्ध फूट रही थी, फिर भी नदिसेन मुनि दुर्गन्ध से न घबरा कर उसकी सेवा करने के लिए उसके पास गये। मगर पास पहुचते ही वह देव नाराज होकर उपालभ देने लगा। उपालभ सुनकर नदिसेन मुनि तनिक भी नाराज न हुए। उल्टे विलम्ब के लिए क्षमा-याचना करने लगे। उन्होने सेवा करने की आज्ञा देने की भी माग की।

नदिसेन की बात सुनकर देव ने कहा—देखते नहीं, मेरा शरीर कितना कृश, दुर्बल और अस्वस्थ बन गया है। शरीर की सेवा करने के सिवाय और क्या आज्ञा तुम चाहते हो ?

मुनि ने विचार किया—अगर मैं नगर मे दवा लेने जाऊंगा तो बहुत देरी लगेगी। ऐसा विचार कर उन्होने देव से कहा - अगर आप नगर मे चले तो ?

देव—मेरे पैरो में चलने की शक्ति होती तो तुम्हारी सहायता की आवश्यकता ही क्या थी ?

मुनि—मेरे पैर भी तो आपके ही हैं। आप मेरे कंधे पर बैठ जाइए। मैं उठाकर नगर तक ले चलूंगा।

देव—मेरे हाथो मे भी तो शक्ति नही है। तुम्हारे कंधे पर चढ़ूं तो कैसे चढ़ूं ?

मुनि—तो क्या हानि है ? मैं खुद ही अपने कंधे पर बिठला लूंगा।

सच्चा सेवक अपनी शक्ति को दूसरो की ही शक्ति मानता है और अपना तन, मन पर की सेवा के लिए सम-

पित कर देता है। सेवा का यह आदेश अगर जनसमाज के हृदय मे अकित हो जाये तो यह ससार स्वर्ग वन जाये।

नदिसेन मुनि ने उस देव को अपने कधे पर चढा लिया। देव ने नदिसेन मुनि को सेवा की प्रतिज्ञा से विचलित करने के लिए अपने शरीर मे से रक्त और पीव की धारा बहाई, मगर नदिसेन मुनि अपनी सेवाभावना को स्थिर और दृढ करते हुए देव के दुर्गधमय शरीर को उठाकर नगर मे ले गये। देव के शरीर से निकलती दुर्गन्ध के कारण तथा देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर नगरजन मुनि से कहने लगे--'आप ऐसे रोगी मनुष्य का नगर मे नही ले जा सकते। एक रोगी के पीछे अनेको को रोगी नही बनाना चाहिए।'

नागरिकजनो का विरोध देखकर मुनि की स्थिति कितनी वेढगी हो गई होगी ? ऐसी विपम स्थिति मे मुनि के मन में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्कों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु उन्होने खोटा तर्क-वितर्क नही किया। वे समभावपूर्वक नागरिक लोगो की बात सुनते रहे। मुनि ने मन ही मन विचार किया—'मैं नगरजनो को भी दुखी नही कर सकता और इस रोगी साधु की सेवा का भी परित्याग नही कर सकता। हे प्रभो ! ऐसी विकट स्थिति मे क्या करूँ ?'

नदिसेन मुनि इस प्रकार विचार कर रहे थे। इतने में साधु वेपधारी देव ने भी विचार किया--'ऐसी विपम परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी इन मुनि के हृदय मे सेवा के प्रति उतना ही दृढ विश्वास है। वास्तव मे इन मुनि की सेवाभावना अत्यन्त उच्च कोटि की है। इन्द्र महाराज

ने इनकी सेवाभावना की जितनी प्रशसा की थी, वास्तव में मुनि का सेवाभाव वैसी ही प्रशसा का पात्र है।' इस प्रकार विचार करके साधु वेषधारी देव, साधुवेष का त्याग करके, अपने स्वाभाविक रूप में नीचे उतरा और मुनि के पैरो पर गिरकर कहने लगा--हे मुनिपुगव ! आपकी सेवाभावना की जैसी प्रशसा इन्द्र महाराज ने की थी, आप वैसे ही सेवामूर्ति हैं। आपने सेवा द्वारा देवो को भी जीत लिया है। सेवा करने वाला देवो को भी जीत लेता है। शास्त्र में भी कहा है: —

देवा वि त नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।

अर्थात् - जिनका मन धर्म मे सदा अनुरक्त रहता है; उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं।

वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति के आगे देव भी नतमस्तक हो जाते हैं तो साधारण लोग अगर सेवाभावी को नमस्कार करे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? सेवाभावी व्यक्ति को मन मे किसी प्रकार का छल-कपट नही रखना चाहिए। जिनके मन मे विकारभाव नही होता, देव भी उनकी सेवा करते हैं। अतएव मन को पवित्र रखो।

नंदिसेन मुनि के मन मे कपटभाव नही था और न घृणाभाव ही था। इसी कारण उनकी सेवावृत्ति सफल हुई।

तीर्थङ्कर बनना तो सभी को रुचता है मगर तीर्थङ्कर पद प्राप्त करने के लिए सेवा करना रुचता है या नही, यह देखो। सेवाकार्य कितना कठिन है, इस सम्बन्ध मे कहा है —

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वे नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

इस श्लोक का सार यह कि सेवाधर्म बडे-बडे योगी-महात्माओ के लिए भी अगम्य होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है—सेवक जब चुप रहता है तो स्वामी उसे गूंगा कहता है। स्वामी का यह कथन सुनकर सेवक मन मे विचार करता है कि मेरे मुख से कोई अनुचित शब्द न निकल जाए, यह सोचकर मैं चुप रहता था परन्तु चुप रहने से स्वामी मुझे गूंगा कहते हैं। तो फिर मुझे बोलना चाहिए। इस प्रकार विचार कर सेवक अगर बोलने लगता है तो स्वामी कहता है—यह सेवक तो बहुत ही बकवाद करता है। चुप रहना जानता ही नही। इस प्रकार सेवक चुप रहता है तो गूंगा कहलाता है और अगर बोलता है तो बकवादी कहलाता है। अगर सेवक, स्वामी के पास खड़ा रहता है तो स्वामी उसे निर्लज्ज कहता है। अगर दूर रहता है तो उसे काम-चोर की पदवी से विभूषित किया जाता है। इस प्रकार स्वामी के पास खडा रहने पर भी उसे उपालभ मिलता है और पास न खडा रहने पर भी उपालभ मिलता है। इसके अतिरिक्त सेवक अगर स्वामी की कोई बात शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है तो वह डरपोक कहलाता है। अगर स्वामी की बात सुनकर उत्तर देता है तो स्वामी उसे कुलहीन कह देता है। इस प्रकार सेवक की स्वामी की बात सुन लेने पर भी मुसी-

बत है और न सुनने पर भी आफत है। इन सब बातों के कारण ही यह कहा गया है कि सेवाधर्म योगियो के लिए भी अगम्य है। सेवाकार्य करना बहुत कठिन है। महान् कार्य का फल महान ही होता है। सच्ची सेवा करने से तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति होती है। तीर्थङ्कर पद प्राप्त होना ही सेवा का महान् से महान् फल है।

जिस व्यक्ति पर सेवा का जितना भार है वह अपनी शक्ति के अनुसार जितनी ज्यादा सेवा करता है, वह उतने ही परिमाण मे बडा सेवक है। राजा-महाराजा भी एक प्रकार से प्रजा के सेवक ही हैं, क्योंकि उनके ऊपर प्रजा की सेवा करने का भार है। प्रजा की सेवा करना राजा-महाराजा का धर्म है कर्त्तव्य है। जो राजा या महाराजा कुशलता-पूर्वक प्रजा की सेवा करता है वह प्रजा का महान् सेवक है। लोग उन्ही की प्रशसा करते हैं जो अधिक से अधिक सेवा बजाते हैं। जिस प्रकार प्रजा की सेवा करना राजा का कर्त्तव्य है उसी प्रकार राजा की सेवा करना प्रजा का कर्त्तव्य है। राज्य के नीति-नियमो का भलीभांति पालन करना, यही राजा की सेवा करना है। तुम लोग जब न्याय-नीति का बराबर पालन करो, पर-धन को धूल समान और पर-स्त्री को माता के समान मानो, तभी यह कहा जा सकता है कि तुम राजा की सेवा करते हो। परधन को धूल समान और परस्त्री को माता समान मानने की नीति अगर अपने जीवन मे अमल मे लाओगे तो जनसमाज की और अपनी खुद की भी सेवा कर सकोगे और साथ ही साथ आत्म-कल्याण भी साध सकोगे। अगर तुममे परधन को लूटने की और परस्त्री पर कुदृष्टि डालने की भावना न हो तो देव

भी तुम्हें सेवाधर्म से विचलित नहीं कर सकता। क्योंकि उस समय तुम्हारे अन्तर में सच्ची सेवाभावना जागृत हुई होगी और जिसमे सच्ची सेवा-भावना जागृत हो जाती है उसे कोई भी देव चलायमान नही कर सकता, जैसे नन्दिसेन मुनि को देव चलायमान नही कर सका था।

सेवा करना भी तप है। वैयावृत्य-सेवा की गणना आभ्यन्तर तप मे की गई है। बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप से आत्मा की अधिक शुद्धि होती है। महावीर भगवान् ने तप की खूब महिमा बतलाई है। तपश्चरण द्वारा अवश्य ही आत्मकल्याण होता है। आत्मा के कल्याण का तप अमोल साधन है। जो पुरुष तपोमार्ग को अपना कर अपनी और जगत् की सेवा करता है, वह स्व-पर का कल्याण-साधन करता है। सेवा आत्मा और परमात्मा के बीच संबंध स्थापित करने वाली साकल है। इस साँकल के द्वारा आत्मा और परमात्मा के बीच संबंध जोडोगे तो कल्याण होगा।



चवालीसवां बोल

सर्वगुणसम्पन्नता

सच्ची सेवा करने वाले को तीर्थंकर पदवी प्राप्त होती है और परिणामस्वरूप वह सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है। अतएव गौतम स्वामी सर्वगुणसम्पन्नता के विषय मे भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—सर्वगुणसम्पन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सव्वगुणसम्पन्नयाए अपुणरावित्ति जणयइ, अपुणरावित्ति पत्तएयणं जीवे सारीराण माणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ ॥४४॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सर्वगुण प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—ज्ञान आदि सर्वगुणो की प्राप्ति होने से ससार मे फिर नही आना पडता और फिर न आने से जीव शारीरिक और मानसिक दु खो से मुक्त हो जाता है ।

व्याख्यान

सब गुणो का भिन्न-भिन्न वर्णन करना कठिन है, अतएव संग्रहनय की दृष्टि से, समुच्चय रूप मे यहा यह प्रश्न पूछा गया है कि सर्वगुणसम्पन्नता से जीव को क्या लाभ होता है ? जैसे किसी वस्तु की वानगी द्वारा हजारो-लाखो मन वस्तु का सौदा हो सकता है, उसी प्रकार समस्त गुणो को ज्ञान, दशन और चारित्र-इस रत्नत्रय में सग्रह कर लिया गया है और कहा गया है कि ज्ञान दर्शन तथा चारित्र मे-रत्नत्रय में-सभी गुणो का समावेश हो जाता है।

जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही जानना ज्ञानगुण है। वस्तु का सिर्फ ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से काम नही चल सकता, अतएव दूसरा गुणदर्शन कहा गया है। जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप मे श्रद्धान करना अर्थात् मानना दर्शनगुण या सम्यक्त्वगुण है। लेकिन वस्तु का ज्ञान और श्रद्धान कर लेने से भी काम नही चन सकता, अतएव तीसरा गुण चारित्र कहा गया है। जिस वस्तु को जिस रूप मे जाने और मानें, उसी रूप मे उसका व्यवहार करना चारित्र-गुण है।

शास्त्र मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भी भेद बतलाए गए हैं। ज्ञानगुण के मुख्य रूप से पाच भेद कहे गए हैं। यहा आशका हो सकती है कि जब किसी वस्तु को जानना ज्ञान है तो फिर ज्ञान मे भेद किस अभिप्राय से किये गये हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तव मे तो ज्ञान एक ही है, परन्तु कर्मों के क्षयोपशम और क्षय की भिन्नता के कारण ज्ञान में भी भेद किये गये हैं। ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्यायज्ञान और केवलज्ञान-

यह पाँच भेद किये गये हैं। इनमे से पहले के चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और पाचवा ज्ञान क्षायिक है। यह पाचों ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भागो मे विभक्त किये गये हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष है और बाकी के तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद हैं—एक विकल-पारमार्थिक प्रत्यक्ष और दूसरा सकलपारमार्थिकप्रत्यक्ष। अवधिज्ञान और मन.पर्याय ज्ञान विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकलपारमार्थिकप्रत्यक्ष है।

मतिपूर्वक होने के कारण मतिज्ञान, मतिज्ञान कहलाता है। उसका दूसरा नाम आभिनिबोधिज्ञान भी है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है। यह ज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवो को होता है। यह ज्ञान जब मिथ्यात्व से युक्त होता है तो मिथ्याज्ञान कहलाता है और सम्यक्त्व-युक्त होने पर सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान, अज्ञान (मिथ्याज्ञान) के रूप मे तब परिणत होता है, जब ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के साथ मिथ्यात्व का उदय होता है। ज्ञानावरण का उदय होने के कारण यह ज्ञान, अज्ञान नहीं कहलाता वरन् मिथ्यात्व के उदय से ही यह अज्ञान कहलाता है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से ज्ञान तो होता है मगर मिथ्यात्व के उदय के कारण पदार्थों का ज्ञान विपरीत होता है। मिथ्यात्व के उदय से सीधी वस्तु भी उलटी मालूम होती है। उदाहरणार्थ -काच सफेद और स्वच्छ होने पर भी अगर कांच के सामने दूसरे रग की कोई चीज रख दी जाये तो कांच भी उसी रग का दिखाई देने लगता है। सफेद कांच अगर दूसरे रग का दिखाई देता है तो इसमें काच का कोई दोष नही है, दोष

तो दूसरी चीज की उपाधि का है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर भी मिथ्यात्व के उदय के कारण सुलटी वस्तु भी उलटी जान पडती है और इसी कारण वह ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान मे सुनने की शक्ति है और मतिज्ञान में मनन करने की शक्ति है। इसी कथन पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि शास्त्र मे सभी ससारी जीवो को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का होना कहा है, किन्तु जिन जीवो के श्रोत्रेन्द्रिय नही है, वे किस प्रकार सुन सकते हैं? इस कथन का उत्तर यह है कि शास्त्र मे दो प्रकार की इन्द्रिय कही गई है—(१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय। यह दोनो प्रकार की इन्द्रिया सभी जीवो को होती है। ससार मे एक भी ऐसा जीव नही है जिसे द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय सर्वथा न हो। अतएव यहा इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय मे जो कथन किया गया है वह भावेन्द्रिय जनित ज्ञान समझना चाहिए।

केवलज्ञान स्थापना रूप है और श्रुतज्ञान सांव्यवहारिक है। हम लोगो को श्रुतज्ञान से ही लाभ होता है। केवलज्ञानी सभी कुछ जान-देख लेते हैं, परन्तु वे जो कुछ देखते है, वह उपदेश मे तो श्रुतज्ञान के रूप मे ही परिणत होता है। और ऐसा होने के कारण ही केवलज्ञानी का दर्शन और ज्ञान दूसरो के लिए लाभकारी हो सकता है। इस प्रकार शेष चार ज्ञान श्रुतज्ञान के आश्रित हैं, अत हमे श्रुतज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

यहा एक प्रश्न चर्चा का उत्पन्न होता है। वह यह है कि ज्ञान तो उत्तरोत्तर बढता जाता है और बुद्धि विकसित होती जाती है, अतएव ज्ञान बढने से पहले जो कुछ भी

देखने-जानने मे आया था, वह क्या मिथ्या था ? इस कथन का उत्तर यह है कि पहले हृदय सरल हो और वस्तु का स्वरूप निष्कपटभाव से माना हो, तो फिर ज्ञान मे वृद्धि होने पर भी पहले का ज्ञान मिथ्या नही है। अर्थात् ज्ञान की वृद्धि होने से पहले भी अगर समभाव मौजूद है तो ज्ञान अल्प होने पर भी मिथ्या नही, वरन् सम्यग्ज्ञान ही है। पहले का जानना भी ज्ञान था और बाद मे जानना भी ज्ञान ही है, क्योकि समभाव तो वही है जो पहले था। सम्यक्त्व द्वीन्द्रिय जीव मे भी होता है, अतएव ऐसा नही समझना चाहिए कि अब ज्ञान बढ जाने से हम कुछ और ही देखने लगे हैं और पहले जो जानते थे वह अज्ञान था। बुद्धि के क्षयोपशम से आज जो वस्तु जिस रूप मे दिखाई देती है, वह वस्तु बुद्धि का अधिक क्षयोपशम होने पर दूसरे रूप में दिखाई देती है, परन्तु समभाव तो वही का वही है। अतएव पहले का जानना-देखना भी ज्ञान मे ही है—अज्ञान मे नही। हृदय सम और सत्यमय होने के कारण जो कुछ देखा-जाना जाता है, वह अज्ञान नही, ज्ञान ही है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के बीच का अन्तर जानने के लिए शास्त्र मे कहा गया है:—

माई मिच्छदिट्ठी, अमाई सम्मादिट्ठी।

अर्थात्—कपटभाव न रखना ही समभाव है और कपट रखना मिथ्यात्व है। अतएव किसी प्रकार मिथ्या विचार मन मे न रखते हुए ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रसर रहना चाहिए।

कहने का आशय यह है कि श्रुतज्ञान और मतिज्ञान दोनो परोक्ष हैं, किन्तु उपकारी श्रुतज्ञान ही है। सभी ज्ञान

श्रुतज्ञान के आश्रित हैं। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे सभी गुणो का समावेश हो जाता है। आत्मा जब सर्व-गुणसम्पन्न बन जाता है तब उसके लिये कुछ भी करना अवशेष नही रहता। जब आत्मा सब गुणो को प्राप्त करता है, तब जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी द्वारा महावीर भगवान् से पूछे गये प्रश्न के उत्तर मे भगवान् कहते हैं कि जीवात्मा सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण अपुनरावृत्त गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है। पूर्णता का फल पूर्ण ही मिलता है। कहा भी है:

पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

अपुनरावृत्ति हो जाने अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव हो जाने पर शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार के दुःख उत्पन्न नही होते। जो अपुनरावृत्त गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, वह शरीर और मन से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि दुखों का कारण शरीर और मन ही है और अपुनरावृत्त गति मे न शरीर रह जाता है और न मन ही। अतएव मुक्तात्मा को शारीरिक और मानसिक दुःख भी नही सहन करने पडते।

उपर्युक्त कथन से कोई यह न समझ बैठे कि एकेन्द्रिय जीव मनरहित है अतएव उसे दुःख नही होता। एकेन्द्रिय जीव के द्रव्यमन नही होता तो क्या हुआ, अध्यवसायरूप भावमन तो होता ही है। अतएव मन मे सकल्प होने के कारण पैदा होने वाला दुःख एकेन्द्रिय जीव मे भी होता है। दुःख मन मे संकल्प के कारण ही उत्पन्न होता है।

कुछ लोगो का कहना है—हमे अमुक प्रकार के दुःख

सहने पड़ते हैं परन्तु वे दुःख आये कहां से हैं। मन में सकल्प होने से ही तो वे उत्पन्न हुए हैं। अतएव मन मे खराब सकल्पो को स्थान नही देना चाहिए। मन में से असत् सकल्पो को दूर करके मन को परमात्मा के ध्यान में पिरो देना चाहिए। ऐसा करने से दुःख के सस्कार ही समूल नष्ट हो जाएंगे। जब सस्कार ही समूल नष्ट हो जाएंगे तो फिर दुःख कहा से उत्पन्न होगा? बीज के जल जाने पर वृक्ष किस प्रकार पैदा हो सकता है?

इस प्रकार सेवा का फल परम्परा से मिलता है। जो समस्त दुःखो से मुक्त होना चाहता होगा वही वैयावृत्य-सेवा करेगा। सेवाधर्म स्वीकार करने से शाश्वत सुख की उपलब्धि होती है। सेवाधर्म का महत्व समझकर अपना जीवन सेवामय बनाओ और सर्व गुणो को प्राप्त करो। इसी मे स्व-पर कल्याण है।



पैंतालीसवां बोल

वीतरागता

सर्वगुणसम्पन्नता शब्द आज सस्ता हो गया जान पडता है। आज चाहे जिस साधारण मनुष्य के लिए भी 'आप सर्वगुणसम्पन्न हैं' ऐसा कहा जाता है। परन्तु इस शब्द की महत्ता देखते हुए मालूम होता है यह शब्द चाहे जिसके लिए प्रयोग करने योग्य नही है। जो वास्तव मे 'सर्वगुण-सम्पन्न' बन जाता है, उस मनुष्य के लिए फिर कुछ भी करना शेष नही रह जाता। जो वास्तव मे सर्वगुणसम्पन्न बन जाता है, वह वीतराग बन जाता है। और इसी कारण सर्वगुणसम्पन्नता के अनन्तर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से वीतरागता के विषय मे प्रश्न किया है।

मूलपाठ

प्रश्न—वीयरागयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वीयरागयाए ण नेहाणुबंधणाणि य, तण्हाणुबंधणाणि य, वोच्छिदिय मणुण्णामणुण्णेसु सद्द-फरिस-रूव-रस-गंधेसु चेव विरज्जइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वीतरागता से जीव को क्या लाभ

होता है।

उत्तर--वीतरागता से स्नेह तथा तृष्णा के बधन छेद डालता है तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श आदि विषयो मे वैराग्य पाता है।

व्याख्यान

वीतरागता सभी वस्तुओ की अपेक्षा श्रेष्ठ है, यह बात प्रसिद्ध है, फिर भी यहा वीतरागता के फल के विषय में क्यो प्रश्न किया गया है ? वीतरागता के फल पर विचार करने से पहले इस प्रश्न का समाधान करना आवश्यक है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि क्रिया का फल अवश्य मिलता है, यह बतलाने के लिए यह प्रश्न पूछा गया है। प्रत्येक क्रिया फलवती होती है। कोई भी क्रिया निष्फल नही जाती। मानो यही यही बात स्पष्ट करने के लिए यह प्रश्न किया गया है।

जब सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त होती है तो वीतरागता आती ही है। और जब वीतरागता प्रकट होती है तो सर्वगुणसम्पन्नता भी होनी ही चाहिए। राग द्वेष की मौजूदगी मे सर्वगुणसम्पन्नता का प्राप्त होना जैनशास्त्र को मान्य नही है। सभव है, यह बात भी बतलाने के लिए गौतम स्वामी ने भगवान से यह प्रश्न पूछा हो।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है - हे गौतम ! जब आत्मा राग द्वेष से रहित होकर वीतरागभाव मे आता है, तब स्नेह और तृष्णा के कारण बधने वाले कर्मबधनो का विच्छेद हो जाता है। राग का और तृष्णा का पूर्ण रूप से विच्छेद वीतरागभाव उत्पन्न होने के

बाद ही हो सकता है। वीतराग बनने का मार्ग राग और तृष्णा का विच्छेद करने से ही सरल बनता है। तृष्णा और स्नेह का जितना-जितना विच्छेद होता जायेगा, आत्मा उतना ही उन्नत बनता जायेगा और जब तृष्णा तथा राग पूर्ण रूप से नष्ट हो जायेगा तो आत्मा वीतराग-अवस्था प्राप्त कर लेगा।

वीतरागता प्राप्त हो गई है, इस बात का पता केवल आध्यात्मिक भावरूप में ही नहीं चलता वरन् व्यावहारिक रूप मे भी चल जाता है। जब इन्द्रियो के शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श इन पाचो विषयो को पूर्ण रूप से जीत लिया जाये तभी समझना चाहिए कि वीतरागता प्रकट हुई है। जब तक कोई वस्तु मनोज्ञ (पसन्द) या अमनोज्ञ (नापसद) मालूम होती है, तब तक आत्मा मे राग-द्वेष की विद्यमानता समझनी चाहिए। जब न कोई वस्तु मनोज्ञ प्रतीत हो, न अमनोज्ञ प्रतीत हो, सब वस्तुओ मे पूर्ण समभाव हो, तभी आत्मा मे वीतरागता प्रकट हुई समझना चाहिए।

आत्मा मे वीतरागता प्रकट हुई है या नही इस बात की जाच करने के लिये शास्त्रकारो से यह उपाय बतलाया है। जब इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ जान पडे तब समझ लेना चाहिए कि आत्मा मे अभी तक वीतरागता प्रकट नही हुई है और जब इन्द्रियो के विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ न मालूम हो, विषम नही किन्तु सम प्रतीत हो तो समझना चाहिए कि आत्मा मे वीतरागता प्रकट हो गई है। वीतरागता प्रकट हुई या नही, यह बात जानने के लिए शास्त्रकारो ने यह थर्मामीटर बतलाया है।

इन्द्रियो के जो पाच विषय हैं, उनके सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त ऐसे तीन भेद किये गये हैं। यह तीन

भेद कहकर यह बतलाया है कि शब्द, रूप, रस आदि विषयों मे से कोई भी विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ प्रतीत न हो तो समझना चाहिए कि आत्मा मे वीतरागता प्रकट हुई है।

यहा प्रश्न हो सकता है कि शब्द आदि मे सचित्त, अचित्त तथा सचित्ताचित्त का भेद किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव शब्द का अर्थ कहा जाये तो वह शब्द सचित्त है। अजीव शब्द कहा जाये तो वह अचित्त शब्द है और वशी शब्द कहा जाये तो वह सचित्ताचित्त शब्द है। इसी प्रकार रूप, रस, गध और स्पर्श आदि के भी तीन-तीन भेद हैं। इन तीनो भेदो के साथ वस्तु मनोज्ञ है या अमनोज्ञ है, इस प्रकार की मान्यता से निवृत्ति होना वीतरागता है।

इस सम्बन्ध मे अन्य प्रकार का तर्क भी किया जा सकता है। परन्तु आत्महितैपियो को किसी प्रकार के तर्क-वितर्क मे न पडकर ऐसा मानना चाहिए—

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

अर्थात् जिस मार्ग पर महापुरुष चले हैं, उसी मार्ग पर हमे चलना चाहिए और उसी पर चलने मे हमारा कल्याण है।

महापुरुषो द्वारा बतलाया मार्ग कौन-सा है ? इस विषय मे एक बार बालगगाधर तिलक तथा भाण्डारकर के बीच वादविवाद हुआ था। भाण्डारकर का कहना था कि जिस मार्ग पर महाजन-समुदाय चलता हो वही महाजन का मार्ग है। इसके विरुद्ध तिलक का कहना था कि जनसमुदाय मे अधिकाश लोग असत्य बोलते हैं, चोरी करते हैं

और अप्रामाणिक व्यवहार करते हैं। तो क्या असत्य भाषण करना, चोरी करना और अप्रामाणिक रहना ही महाजनो का मार्ग होना चाहिए ? इसी प्रकार अधिकाश लोग भोगी हैं, त्यागी नही, तो क्या भोगी बनना ही महाजनो का मार्ग है ?

महाजन कौन है ? इस बात का निर्णय करने के लिये अगर ब्रह्मपुराण मे ब्रह्मा का चारित्र देखा जाये तो उसमे बडी ही भयकरता दिखाई देती है। ब्रह्मा अपनी ही पुत्री पर मुग्ध हो गया था, यह भी उल्लेख पाया जाता है। अगर विष्णु का स्वरूप समझने के लिए विष्णुपुराण देखा जाये तो उसमे विष्णु की लीला का ऐसा वर्णन पाया जाता है कि उनकी लीला के मार्ग को यदि महाजन का मार्ग मान लिया जाये तो वैसी लीला करने वाला मनुष्य और अधिक पतित हो जायेगा। शिवचरित पर दृष्टिपात किया जाये तो शिवपुराण मे शिव को श्मशानवासी कहा है। तो शिव का अनुकरण करके क्या सभी लोग श्मशानवासी बन जाए ? क्या यह सभव है ? महाजन का मार्ग तो ऐसा सुगम होना चाहिए कि इसे सभी लोग सरलतापूर्वक अपना सकें। अतएव यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को महाजन का मार्ग समझा जाये ? इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर यही हो सकता है कि जिस मार्ग पर चलने से बहु-जनसमाज का सच्चा कल्याण होता हो वही महाजन का मार्ग है। असत्य या अन्याय को अनेक लोगो ने भले ही अपनाया हो परन्तु वह मार्ग जन-समुदाय के लिए कल्याणकारी नही हो सकता। इसलिए जिस मार्ग पर चलने से जनता का कल्याण होता हो वही

महाजन का निर्दिष्ट मार्ग है।

यह तो तिलक और भाण्डारकर के वाद-विवाद की बात हुई। परन्तु मेरी दृष्टि से अठारह दोषो से रहित वीतराग का मार्ग ही महाजन का मार्ग है। हम लोग ऐसे वीतराग महापुरुष को ही महाजन और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को ही महाजन का मार्ग कहते हैं। वीतराग के मार्ग पर चलने वाले का सदा कल्याण ही हुआ है। कभी अक-ल्याण नही हुआ।

शास्त्रकारो का कथन है कि इन्द्रियो के विषय—शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श —चाहे भले हो या बुरे हो, उनके प्रति समभाव रहना चाहिए, विषमभाव नही। ऐसा होने पर समझना चाहिए कि वीतरागभाव आ गया है। सम-भाव का अर्थ यह नही है कि अमृत को विष और विप को अमृत मानना चाहिए और ऐसा मानकर उन्हे खा जाना चाहिए। परन्तु समभाव का अर्थ यह है कि चाहे अमृत हो चाहे विष हो पर दोनो के प्रति समभाव रखना चाहिए। समभाव रखने से विप भी अमृत और आग भी शीतल हो जाती है। सीता मे समभाव होने के कारण ही अग्नि उसके लिए शीतल बन गई थी। मीरा के समभाव ने विष को भी अमृत के रूप मे परिणत कर लिया था। इसी प्रकार तुम समभाव रखो और भक्तो की भाति परमात्मा मे प्रार्थना करो —

परुष वचन अति कठिन श्रवण सुनि, तेहि पावक न दहोगो,
विगत मान सम शीतल मन पर, गुण अवगुण न गहोंगो।

अर्थात्—चाहे जैसे कठोर और कर्णकटु शब्द सुनाई

दें, परन्तु अगर तुममें समभाव होगा तो ज्ञानीजन कहते है कि तुम उन कठोर शब्दो को भी कर्णप्रिय बना सकोगे। अतएव समभाव रखो तो कल्याण ही होगा।

वीतरागधर्म समभाव का विधान करता है। समभाव के द्वारा वीतरागभाव प्रकट होता है। अतएव हृदय मे समभाव रख कर वीतरागभाव प्रकटाओगे तो स्व पर कल्याण-साधन कर सकोगे।

राग और द्वेष, यह दोनो कर्म के बीज हैं। इन कर्म-बीजो को ससार का बीज भी समझना चाहिए, क्योंकि जब तक राग और द्वेष के बीज मौजूद हैं तब तक कर्म के अकुर फूटते ही रहते हैं और जब तक कर्म के अकुर फूटते रहते हैं तब तक ससार-वृक्ष फलता-फूलता रहता है। ससार के बधनो से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम राग-द्वेष के बधनो से मुक्त होना आवश्यक है। वीतराग और वीतद्वेष हुए बिना कोई मोक्ष नही प्राप्त कर सकता। जीवन को रागरहित बनाने के लिए शास्त्रकारो ने अनेक उपाय बतलाये हैं। सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन मे बतलाये हुए ७३ बोल वीतराग और वीतद्वेष बनने के ही उपाय है। कपाय का त्याग करने से जीवन मे वीतरागता प्रकट होती है, यह बात शास्त्र मे स्पष्ट रूप से कही गई है। फिर भी इस पैतालीसवें बोल मे यह प्रश्न किया गया है कि वीतरागता प्रकट होने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए टीकाकार कहते है—शास्त्र का यह ध्येय है कि शब्द बढ जाए तो भले ही बढ जाए, इसमें कोई हानि नही। पर शास्त्र की बात सब की समझ मे आ जानी चाहिए। यह बात दृष्टि मे रखकर ही शास्त्र मे एक ही बात को विशेष

स्पष्ट करने के लिए दो-तीन बार कह देते हैं। ऐसा करने से पुनरुक्ति होती है परन्तु जनसमुदाय के लाभ के लिए की जाने वाली पुनरुक्ति दोप-पात्र नही गिनी जाती ।

इसके अतिरिक्त कषाय का प्रश्न द्वेष-आश्रित है और वीतरागता का प्रश्न राग-आश्रित है । इस दृष्टि से विचार करने पर यहा पुनरुक्ति भी नही है ।

शास्त्रकार का कथन है कि राग का त्याग करना जितना कठिन है, उतना कठिन द्वेष का त्याग करना नही है । इसी कारण मुक्तात्मा वीतराग कहलाते हैं, वीतद्वेष नही । क्योंकि द्वेष की अपेक्षा राग का त्याग कठिन है और राग का त्याग तभी हो सकता है जब द्वेष का त्याग कर दिया जाये । सोने का त्याग करना जितना कठिन है, लोहे का त्याग करना उतना कठिन नही है । इसी प्रकार द्वेष की अपेक्षा राग का त्याग करना कठिन है । जिस प्रकार समभाव उत्पन्न होने से सोना और लोहा समान मालूम होता है, उसी प्रकार जीवन में समभाव प्रकट होने के बाद राग और द्वेष—दोनो का त्याग करना कठिन नही रह जाता । यद्यपि राग से भी पुण्योपार्जन हो सकता है, परन्तु जो आत्मा मुक्त होना चाहता है, वह न तो पुण्योपार्जन करना चाहता है और न पापोपार्जन करना चाहता है । वह तो पाप और पुन्य-दोनो को कर्म मान कर छोडना चाहता है । मोक्षाभिलाषी आत्मा को न किसी वस्तु पर राग करने की आवश्यकता है और न किसी पर द्वेष करने की आवश्यकता है । उदाहरणार्थ—मनुष्य जब गृहस्थावस्था मे होता है तब वह लोहे का त्याग करके भले ही सोने का सग्रह करे; परन्तु जो साधु होना चाहता है उसके लिए दोनों ही—सोना

भी और लोहा भी—त्याज्य हैं। इसी प्रकार जो मुक्त होना चाहता है वह मोक्षाभिलाषी आत्मा तो राग और द्वेष—दोनों का ही त्याग करता है। जिस प्रकार सोने का त्याग करना मुश्किल है और इसी कारण साधु महात्मा कंचन-कामिनी के त्यागी कहलाते हैं, उसी प्रकार राग का त्याग करना भी मुश्किल है और इसी कारण राग-द्वेष के त्यागी को वीतराग कहते हैं।

छ्यालीसवां बोल

क्षमा

पेंतालीसवे बोल मे वीतराग के फल के विषय में प्रश्न पूछा गया है। वह प्रश्न राग को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। क्योंकि कषाय का सम्बन्ध राग-द्वेष के साथ है। जब तक जीवन मे वीतरागभाव नही आता तब तक इष्ट गध, इष्ट रस आदि से रागभाव नही छूटता। रागभाव का त्याग करने से जीवात्मा क्षमाशील बन जाता है। जीवन में जब वीतरागभाव प्रकट होता है, तब क्षमा का गुण भी प्रकट होता है। अतएव छ्यालीसवें बोल में गौतम स्वामी क्षान्ति (क्षमा) के विषय में प्रश्न पूछते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न--खंतीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर--खंतीए परीसहे जिणइ ॥४६॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

को जानते न हो। ऐसी सब बातें जानते हुए भी सिर्फ जगत् के जीवो के हित के लिए ही उन्होने क्षमा से होने वाले लाभ के विषय में भगवान् से प्रश्न पूछा है। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के बीच के प्रश्नोत्तर को अगर तुम एकाग्रचित्त होकर सुनोगे तो इनमे रहे हुए रहस्य को समझ सकोगे। तुम जब अविक्षिप्त चित्त से शास्त्र की बात सुनोगे तो ही तुम्हें शास्त्रश्रवण का यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकेगा।

क्षमा गुण मे महान शक्ति विद्यमान है। परन्तु इस शक्ति को प्राप्त करने के लिये पात्र बनने की आवश्यकता है। पात्र बने बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नही की जा सकती। गुणो को धारण करने के लिए पात्रता प्राप्त करना चाहिए। आत्मा क्षमा द्वारा गुणो को ग्रहण करने का और गुणों को धारण करने का पात्र बनता है। इसीलिए श्री दशवैकालिक-सूत्र में कहा है: —

पुढवीसमा मुणी हवेज्जा।

अर्थात् हे मुनि ! तुम पृथिवी के समान बनो।

मुनियो को पृथिवी के समान बनने के लिए क्यों कहा गया है ? इसलिए कि पृथ्वी सब को आधार देती है। ससार में एक भी वस्तु ऐसी नही, जो पृथ्वी का आधार लिये बिना टिक सकती हो। पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को आधार देती है। इसी प्रकार क्षमा भी प्रत्येक छोटे-बड़े गुणो को आधार देती है। क्षमा के बिना आत्मा में कोई भी गुण नही टिक सकता। मोक्ष के मार्ग पर चलने में क्षमा पाथेय के समान तो है ही, परन्तु ससार-व्यवहार में भी क्षमा की अत्यन्त आवश्यकता है। जो मनुष्य सहनशील-क्षमाशील नही होता, उसमें व्यावहारिक गुण भी नही टिक सकते।

तुम अहमदाबाद में पैसा कमाने आये हो, अत इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए तुम्हे क्षमाशील और सहनशील रहना ही पडता है। जब व्यवहार मे भी इस प्रकार की क्षमा और सहनशीलता की आवश्यकता रहती है तो फिर आध्यात्मिक गुणो को टिकाये रखने के लिए क्षमा की आवश्यकता रहना स्वाभाविक ही है। अतएव सद्‌गुणो को अपने आत्मा मे स्थान देने के लिए प्रत्येक आत्महितैषी को सहनशील और क्षमावान् बनना चाहिए।

आजकल 'क्षमा' शब्द हास्यास्पद बन गया है। कितनेक लोग क्षमा को निर्बलो का शस्त्र मानते हैं तो कुछ लोग उसे कायरता का चिह्न समझते हैं। परन्तु वास्तव मे 'क्षमा' निर्बलो का नही वरन् सबलो का अमोघ शस्त्र है और वीर पुरुषो का भूषण है। कायर पुरुषो ने अपनी कायरता के कारण क्षमा को लजाया है, परन्तु सच्चे वीर पुरुषो ने क्षमा को अपनी मुकुटमणि बना कर सुशोभित किया है। क्षमा सबलों का शस्त्र है। कायर लोग क्षमाबल का उपयोग कर ही नही सकते। इसी कारण कहा गया है: 'खमा पहुस्स' अर्थात् समर्थ पुरुष ही क्षमा धारण कर सकते हैं।

क्षमा आध्यात्मिक शब्द है। जहा गौतम स्वामी जैसे प्रश्नकर्त्ता और भगवान् महावीर सरीखे उत्तरदाता हो वहा आध्यात्मिक बात के सिवाय दूसरी बात हो ही नही सकती। ऐसे जगदुद्धारक महापुरुषो के प्रश्नोत्तर आध्यात्मिक ही हो सकते हैं। जैसे कोई भोला बालक सादी भाषा मे प्रश्न पूछता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी, भगवान् से सीधी-सादी भाषा में पूछ रहे हैं क्षमा का फल क्या है? गौतम स्वामी के इस सरल प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने सरल

उत्तर—क्षमा द्वारा जीव परिषहो पर विजय प्राप्त करता है ।

व्याख्यान

क्षान्ति का अर्थ है—क्षमा । क्षमा धारण करने मे जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने पूछा है । इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि परिषहों पर विजय पाना क्षमा कहलाता है ।

क्षमा धारण करना और परिषहो को जीतना—इन दोनो का वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न होने पर भी दोनो का लक्ष्यार्थ एक ही है । क्षमा अर्थात् समतापूर्वक परिषहो को जीतना और परिषहो को समभाव से सहन करना अर्थात् क्षमा रखना । इस प्रकार क्षमा और परिषह जय का अविनाभाव सबध है । यह तो क्षमा के सामान्य अर्थ पर विचार किया गया । परन्तु यहा विचारणीय यह है कि क्षमा को साधु के दस प्रकार के धर्मों मे प्रथम स्थान किस कारण दिया गया है ? भगवान् ने क्षमा को इतना महत्व क्यो दिया है ?

राग और द्वेष जीत लिये गये हैं या नही, इसकी जाच करने की कसौटी क्षमा है । जब मनुष्य राग-द्वेष को जीत लेता है तभी वह साधुपन पालने योग्य होता है । राग-द्वेष को जीते बिना साधुता की प्रवृत्ति तो जीवात्मा ने चिर-काल तक की होगी, परन्तु यह प्रवृत्ति लाभदायक तभी हो सकती है, जब राग और द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली जाये ।

क्षमा के द्वारा ही राग द्वेष जीते जा सकते हैं । सब गुणों मे क्षमागुण प्रधान है । जब तक राग-द्वेष को जीतकर क्षमा गुण न धारण किया जाये तब तक दूसरे कोई सद्—

तुम अहमदाबाद में पैसा कमाने आये हो, अत इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए तुम्हे क्षमाशील और सहनशील रहना ही पडता है। जब व्यवहार मे भी इस प्रकार की क्षमा और सहनशीलता की आवश्यकता रहती है तो फिर आध्यात्मिक गुणो को टिकाये रखने के लिए क्षमा की आवश्यकता रहना स्वाभाविक ही है। अतएव सद्गुणो को अपने आत्मा मे स्थान देने के लिए प्रत्येक आत्महितैषी को सहनशील और क्षमावान् बनना चाहिए।

आजकल 'क्षमा' शब्द हास्याम्पद बन गया है। कितनेक लोग क्षमा को निर्बलो का अस्त्र मानते हैं तो कुछ लोग उसे कायरता का चिह्न समझते है। परन्तु वास्तव मे 'क्षमा' निर्बलो का नही वरन् सबलो का अमोघ शस्त्र है और वीर पुरुषो का भूषण है। कायर पुरुषो ने अपनी कायरता के कारण क्षमा को लजाया है, परन्तु सच्चे वीर पुरुषो ने क्षमा को अपनी मुकुटमणि बना कर सुशोभित किया है। क्षमा सबलों का शस्त्र है। कायर लोग क्षमाबल का उपयोग कर ही नही सकते। इसी कारण कहा गया है: 'खमा पहुस्स' अर्थात् समर्थ पुरुप ही क्षमा धारण कर सकते हैं।

क्षमा आध्यात्मिक शब्द है। जहा गौतम स्वामी जैसे प्रश्नकर्त्ता और भगवान् महावीर सरीखे उत्तरदाता हो वहां आध्यात्मिक बात के सिवाय दूसरी बात हो ही नही सकती। ऐसे जगदुद्धारक महापुरुषो के प्रश्नोत्तर आध्यात्मिक ही हो सकते हैं। जैसे कोई भोला बालक सादी भाषा मे प्रश्न पूछता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी, भगवान् से सीधी-सादी भाषा में पूछ रहे हैं क्षमा का फल क्या है ? गौतम स्वामी के इस सरल प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने सरल

को जानते न हो। ऐसी सब बातें जानते हुए भी सिर्फ जगत् के जीवो के हित के लिए ही उन्होने क्षमा से होने वाले लाभ के विषय में भगवान् से प्रश्न पूछा है। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के बीच के प्रश्नोत्तर को अगर तुम एकाग्रचित्त होकर सुनोगे तो इनमे रहे हुए रहस्य को समझ सकोगे। तुम जब अविक्षिप्त चित्त से शास्त्र की बात सुनोगे तो ही तुम्हें शास्त्रश्रवण का यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकेगा।

क्षमा गुण मे महान शक्ति विद्यमान है। परन्तु इस शक्ति को प्राप्त करने के लिये पात्र बनने की आवश्यकता है। पात्र बने बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नही की जा सकती। गुणो को धारण करने के लिए पात्रता प्राप्त करना चाहिए। आत्मा क्षमा द्वारा गुणो को ग्रहण करने का और गुणों को धारण करने का पात्र बनता है। इसीलिए श्री दशवैकालिकसूत्र में कहा है.—

पुढवीसमा मुणी हवेज्जा।

अर्थात् हे मुनि ! तुम पृथिवी के समान बनो।

मुनियो को पृथिवी के समान बनने के लिए क्यो कहा गया है ? इसलिए कि पृथ्वी सब को आधार देती है। ससार में एक भी वस्तु ऐसी नही, जो पृथ्वी का आधार लिये विना टिक सकती हो। पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को आधार देती है। इसी प्रकार क्षमा भी प्रत्येक छोटे-बड़े गुणो को आधार देती है। क्षमा के विना आत्मा मे कोई भी गुण नही टिक सकता। मोक्ष के मार्ग पर चलने में क्षमा पाथेय के समान तो है ही, परन्तु ससार-व्यवहार मे भी क्षमा की अत्यन्त आवश्यकता है। जो मनुष्य सहनशील-क्षमाशील नही होता, उसमें व्यावहारिक गुण भी नही टिक सकते।

तुम अहमदाबाद में पैसा कमाने आये हो, अत इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए तुम्हे क्षमाशील और सहनशील रहना ही पडता है। जब व्यवहार में भी इस प्रकार की क्षमा और सहनशीलता की आवश्यकता रहती है तो फिर आध्यात्मिक गुणो को टिकाये रखने के लिए क्षमा की आवश्यकता रहना स्वाभाविक ही है। अतएव सद्‌गुणो को अपने आत्मा मे स्थान देने के लिए प्रत्येक आत्महितैषी को सहनशील और क्षमावान् बनना चाहिए।

आजकल 'क्षमा' शब्द हास्यास्पद बन गया है। कितनेक लोग क्षमा को निर्बलो का शस्त्र मानते हैं तो कुछ लोग उसे कायरता का चिह्न समझते हैं। परन्तु वास्तव मे 'क्षमा' निर्बलो का नही वरन् सबलो का अमोघ शस्त्र है और वीर पुरुषो का भूषण है। कायर पुरुषो ने अपनी कायरता के कारण क्षमा को लजाया है, परन्तु सच्चे वीर पुरुषो ने क्षमा को अपनी मुकुटमणि बना कर सुशोभित किया है। क्षमा सबलों का शस्त्र है। कायर लोग क्षमाबल का उपयोग कर ही नही सकते। इसी कारण कहा गया है 'खमा पहुस्स' अर्थात् समर्थ पुरुष ही क्षमा धारण कर सकते हैं।

क्षमा आध्यात्मिक शब्द है। जहा गौतम स्वामी जैसे प्रश्नकर्त्ता और भगवान् महावीर सरीखे उत्तरदाता हो वहां आध्यात्मिक बात के सिवाय दूसरी बात हो ही नही सकती। ऐसे जगदुद्धारक महापुरुषो के प्रश्नोत्तर आध्यात्मिक ही हो सकते हैं। जैसे कोई भोला बालक सादी भाषा मे प्रश्न पूछता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी, भगवान् से सीधी-सादी भाषा में पूछ रहे हैं क्षमा का फल क्या है ? गौतम स्वामी के इस सरल प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने सरल

भाषा में उत्तर दिया—क्षमा धारण करने से जीव परिषहों को जीत सकता है।

भगवान् ने परिषहो की बात कही है। मगर हमें सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि परिषहो का अर्थ क्या है ? परिषह की व्याख्या करते हुए कहा गया है—परि–समन्तात् सहति इति परिषहः ।' अर्थात् सम्यक् प्रकार से कष्टो को सहन करना परिषह है। अज्ञानपूर्वक तो बहुत से लोग कष्ट सहन करते हैं, परन्तु उसकी गणना परिषह में नही की जाती। परिषह मे उन्ही कष्टो की गणना की जाती है जो ज्ञानपूर्वक सहन किये जाते हैं। ज्ञानपूर्वक कष्ट सहन तभी हो सकता है जब क्षमा विद्यमान हो। क्षमा धारण किये बिना सम्यक् प्रकार से कष्ट सहन नही हो सकता। श्री उत्तराध्ययन के द्वितीय अध्याय मे परिषह के बाईस भेद बतलाये गये हैं और उनके विषय में सुन्दर विवेचन किया गया है। परिषह के बाईस प्रकार इस तरह हैं:—(१) क्षुधा का परिषह (२) पिपासा (प्यास) का परिषह (३) शीत का परिषह (४) ताप का परिषह (५) डास–मच्छर का परिषह (६) अवस्त्र का परिषह (७) अरति (अप्रीति) का परिषह (८) स्त्री का परिषह (९) चर्या–गमन का परिषह (१०) बैठक का परिषह (११) आक्रोश–वचन का परिषह (१२) वध का परिषह (१३) शैया का परिषह (१४) याचना का परिषह (१५) अलाभ का परिषह (१६) रोग का परिषह (१७) तृणस्पर्श का परिषह (१८) जल-मैल का परिषह (१९) सत्कार-पुरस्कार अर्थात् मानापमान का परिषह (२०) प्रज्ञा–बुद्धि का परिषह (२१) अज्ञान का परिषह (२२) अदर्शन का परिषह।

उपर्युक्त परिषहों मे क्षुधा का परिषह सब से पहला है। भूख के दु.ख को सम्यक् प्रकार से सहन करना क्षुधा परिषह है। ससार मे भूख के दुःख से व्याकुल होकर लोग ऐसी चीज भी खा लेते हैं, जिसके देखने मात्र से दूसरो को घृणा उत्पन्न होती है। क्षुधा का दुख न सह सकने के कारण ही लोग अपने प्राणप्रिय बालक को भी मार कर खा जाते हैं, ऐसा सुना जाता है। इस प्रकार क्षुधा का परिषह सब से विकट है। महान् तपस्वी तथा क्षमाशील पुरुष ही क्षुधा परिषह को समतापूर्वक सहन कर सकते है। क्षुधा परिषह को जीतने के लिए शास्त्रकार खाने की मनाई नही करते। खाने की मनाई करने का फलितार्थ होगा मरने के लिए कहना। क्योकि जो भोजन करता ही नही अथवा जिसने भोजन का त्याग किया है, वह भूखा कितने दिन रहेगा? किसी अवधि के बाद तो उसे मरण-शरण होना ही पडेगा। इसलिए शास्त्रकार यह नही कहते कि 'तुम खाओ ही नहीं' अथवा 'भोजन का सर्वथा त्याग कर दो।' शास्त्रकार यह कहते हैं कि क्षुधा को जीतो और क्षमा द्वारा क्षुधा परिषह पर विजय प्राप्त करो और यह समझो कि 'मैं जो कुछ खाता हू सो इस शरीर रूपी गाडी को चलाने के लिए ही खाता हू।' जैसे गाडी चलाने के लिए पहिये के चक्र में तेल लगाया जाता है, उसी प्रकार मैं इस शरीर रूपी गाडी को चलाने के लिए उदर रूपी चक्र मे भोजन रूपी तेल लगाता हू। ऐसा विचार करके इतना ही परिमित भोजन करना चाहिए जिससे शरीर-चक्र बराबर काम देता रहे।

मुनिजन किस उद्देश्य से भोजन करते हैं, यह बात बताने के लिये शास्त्र में एक छोटा-सा दृष्टान्त दिया गया

है। जिस प्रकार गृहस्थ अपने घर के पास के गड्ढे को सुखपूर्वक आवागमन करने के उद्देश्य से पूर देता है, उसी प्रकार मुनिजन उदर रूपी गड्ढे को सयम रूपी गाडी चलाने के लिये ही भरते हैं। इस तरह जो मुनि सयम के निर्वाह के लिए ही भोजन करता है वह क्षमा द्वारा क्षुत्परिषह को सहन कर सकता है। मुनियो मे कैसी क्षमा होती है, यह तो उनके आचार-विचार से ही जाना जा सकता है। जब मुनि भिक्षाचर्या के लिए जाते हैं तब कितनेक लोग कर्णकटु शब्द कहते है, लेकिन क्षमाशीलमुनि उन कर्णकठोर शब्दो का समताभाव के साथ सहन कर लेते हैं। सच्चे साधु को न भोजन देने वाले पर राग होता है और न कटु शब्द कहने वाले पर द्वेष ही होता है। चक्रवर्ती राजा भी छह खड के वैभव का त्याग करके साधुता अगीकार करता है और घर-घर भिक्षा के लिए जाता है। तब उस मुनि को भी कोई कहता है–'राज्य भोगते–भोगते भिक्षा मागने को मन में आई है ! साधुपना निकम्मा है।' इत्यादि। इससे विपरीत कोई साधुवृत्ति की प्रशसा करके उसके पैरो मे गिरता है। तब शास्त्र कहता है–'हे मुनि ! तुम किसी के प्रति रागद्वेष मत करो। कटुक शब्द कहने वाले या निंदा करने वाले पर द्वेष न करना और प्रशसा करने वाले पर राग न करना ही साधु का लक्षण है।' इस प्रकार निंदा-प्रशसा के शब्द सुनने पर भी राग-द्वेष मन मे न आने देना क्षमा का ही प्रताप है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्षमा के द्वारा परिषह जीत लेने से आत्मा की कैसी अवस्था होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लौकिक विजय प्राप्त करने से जैसी प्रसन्नता होती है और जिस प्रकार के आनन्द का

अनुभव होता है, वैसी ही प्रसन्नता और वैसा ही आनन्दानुभव क्षमा द्वारा परिषह को जीत लेने पर होता है। लौकिक विजय की अपेक्षा यह लोकोत्तर विजय महान है। अतएव लौकिक विजय के आनन्द की अपेक्षा लोकोत्तर विजय का आनन्द अधिक होता है। यह बात स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है।

मान लीजिये, एक योद्धा शत्रु पर विजय प्राप्त करके किसी महात्मा के पास गया। वह योद्धा महात्मा को ध्यान मे मग्न देखकर कहने लगा—महात्मन् ! आप तो घर में ही घुसे रहकर ध्यान मे मगन रहते हो और कोई पराक्रम नहीं दिखलाते, मगर हम तो शत्रुओ के मध्य मे जाकर उनके शस्त्र-अस्त्र के प्रहार और आघात सहन करते हैं और शत्रुओ को परास्त करके उन पर विजय प्राप्त करते हैं। अब आप ही बतलाइये कि ऐसी स्थिति मे वास्तव मे महान् कौन है? हम बड़े या आप ?

तुम्हे इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कहा जाये तो तुम किसे महान् कहोगे ? महात्मा को महान कहोगे या विजयी योद्धा को महान् कहोगे ? इस विषय मे शास्त्र तो स्पष्ट रूप से कहता है—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥

उत्तराध्ययन, ९ अ०

अर्थात्—दस लाख सुभटो को दुर्जय सग्राम मे जीतने की अपेक्षा एक मात्र आत्मा को जीतना अधिक उत्तम है और यही श्रेष्ठ विजय है। यही बात अधिक स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार आगे कहते हैं—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ।
अप्पणामेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥
--उत्त० अ० ९ गा० ३५

अर्थात्--आत्मा के साथ युद्ध करो । बाहरी युद्ध में क्या रखा है ! शुद्ध आत्मा द्वारा दुष्ट प्रकृति वाली आत्मा को जीतकर ही सुख प्राप्त किया जा सकता है । दुर्जय आत्मा को किस प्रकार जीत सकते हैं, यह बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

पंचिदियाणि कोह माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जय चेव अप्पाण, सव्व अप्पे जिये जिय ॥
उत्त० अ० ९ गा० ३६

अर्थात्--पाच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दुर्जय आत्मा को जीतना ही उत्तम है । क्योंकि आत्मा को जीत लिया तो सभी को जीत लिया

मुमुक्षु आत्मा बाह्य युद्ध की अपेक्षा कर्मशत्रुओं को परास्त करने के लिए आन्तरिक युद्ध करना ही पसद करते हैं । क्योकि बाह्य युद्धो की विजय क्षणिक होती है और परिणाम मे परिताप ही उपजाती है । इस विजय से बाह्य युद्धो की 'परम्परा का जन्म होता है और कभी युद्ध से विराम नही मिलता । साथ ही इस वासना के कारण ही अनेक जन्म लेने पड़ते हैं । अतएव बाह्य शत्रुओ को उत्पन्न करने वाले भीतरी-हृदय मे घुसे हुए शत्रुओ का नाश करने के लिए प्रयास करना ही मुमुक्षु का कर्त्तव्य है ।

सच्चा जैन निरन्तर जीवनसग्राम मे सलग्न रहता है। वह कायर बन कर घर मे नही बैठा रहता ।' वह हाथ मे

क्षमा रूपी खड्ग लेकर कर्मशत्रुओ पर विजय प्राप्त करके अपना जैनत्व चमकाता है। जैन होकर भी कायर बन कर बैठ जाने से और आन्तरिक शत्रुओ को परास्त करने का प्रयत्न न करने से जैनत्व की शोभा घटती है। प्राचीनकाल के जैन जैनत्व की रक्षा के लिए प्राण भी अर्पण कर देते थे, मगर जैनत्व को तनिक भी फीका नही पडने देते थे। आजकल कायरता के कारण जैनो का जैनत्व फीका पड़ गया है। इसी कारण वीरोचित अहिंसा, क्षमा आदि को भी निर्बलता का चिह्न समझा जाता है। वास्तव मे अहिंसा या क्षमा निर्बलो के शस्त्र नही हैं। यह तो वीर पुरुषो के शस्त्र हैं। तलवार चाहे जितनी तीखी धार वाली क्यो न हो, अगर वह कायर के हाथ मे जाती है तो निकम्मी हो जाती। वही तलवार जब किसी वीर पुरुष के हाथ आती है तो अपने जोहर दिखलाती है। इसी प्रकार अहिंसा और क्षमा के शस्त्र कायरो के हाथ पडकर निष्फल साबित होते हैं और वीर पुरुषो के हाथ लग कर अमोघ शस्त्र सिद्ध होते हैं। यह सचाई आज प्रत्यक्ष अनुभव की जाती है। जैन लोग अगर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना चाहते हो तो उन्हे अपने जैनत्व का तेज प्रकट करना चाहिए। जैनों का जैनत्व, क्षत्रियो के क्षत्रियत्व से जरा भी हलका नही है। बल्कि जैनत्व मे अहिंसक क्षात्रत्व होने के कारण वह अधिक तेजस्वी है। जैन अर्थात् विजेता। सच्चा विजेता वही है जो कर्मशत्रुओ के साथ सदैव जीवनसग्राम लडता है। वह किन-किन शस्त्रो द्वारा अहिंसक युद्ध लडता है, यह बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

सद्धं नगरं किच्चा तवसवरमंगल।

खंति निउणपागारं तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥
धणुं परक्कमं किच्चा जीवं च इरियं सया ।
धिइं च केयणं किच्चा सच्चेण पलिमथए ॥
तव-नारायजुत्तेण भित्तूण कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चई ॥

—उत्तरा० अ० ९ गा० २०-२१-२२ ।

अर्थात्—श्रद्धा (सत्य पर अडिग विश्वास) रूपी नगर, तप-संवर रूपी आगल, क्षमा रूपी सुंदर गढ, तीन गुप्ति (मन, वचन, काय का नियमन) रूपी दुःप्रधर्ष (दुर्जय शतघ्नी-शस्त्रविशेष), पराक्रम रूपी धनुष, ईर्या (यतना-पूर्वक गमन) रूपी डोरी और धैर्य रूपी बाण यानि तीर बना कर सत्य-चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि तपश्चर्या रूपी बाणों से युक्त मुनि, कर्म को भेद कर संग्राम में विजय प्राप्त करता है और संसार से मुक्त हो जाता है।

ऊपर की गाथाओं में शास्त्रकार ने यह बतलाया है कि सत्याग्रह-संग्राम अहिंसक होने पर भी कितना विजयशील होता है। आजकल होने वाले हिंसात्मक युद्धों में लाखों-करोड़ो मनुष्यों का संहार होता है और युद्धभूमि रक्तरंजित हो जाती है। फिर भी नहीं कहा जा सकता कि विजय किसे प्राप्त होगी ? भौतिक युद्ध में हिंसा होती है, राग-द्वेष बढ़ते हैं और फलस्वरूप जगत में अशान्ति का साम्राज्य फैल जाता है। परन्तु इस अहिंसक संग्राम में किसी का एक बूंद भी रक्त नहीं गिरता, सुखशान्ति का प्रसार होता है, क्लेश नहीं बढ़ता और जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता है। यह सब अहिंसा देवी और क्षमा माता का ही प्रताप है। आज भी अगर थोड़ी-बहुत सुखशान्ति का अनुभव होता है तो

उसका अधिकांश श्रेय अहिंसा तथा क्षमा देवी के ही हिस्से में जाता है। जगत् मे अहिंसा और क्षमा का अस्तित्व न रहे तो जगत् की शान्ति सर्वथा अदृश्य हो जाये। आजकल भी अहिंसा-क्षमा आदि आध्यात्मिक गुणों के कारण ही शान्ति का अनुभव होता है।

हिंसा के प्रयोग से अथवा हिंसक अस्त्र-शस्त्रों से प्राप्त की जाने वाली विजय सदा के लिए स्थायी नही रहती। प्रेम और अहिंसा द्वारा हृदय मे परिवर्तन करके जनसमाज के हृदय पर जो प्रभुत्व स्थापित किया जाता है, वही सच्ची और स्थायी विजय है कहा भी है: -

न हि वेरेण वेराणि समन्तीध कदाचन।

अर्थात् वैर का वदला वैर से लेने पर जगत् में कभी वैर घट नही सकता। उलटा वैर बढता है। वैर की शान्ति तो अवैर से होती है। प्रेम के द्वारा ही दूसरों के हृदय पर प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है। यह सच्ची और स्थायी विजय है और ऐसी सच्ची एव स्थायी विजय प्राप्त करना ही जैनधर्म या सनातनधर्म है।

लाखो सुभटो को जीतने की अपेक्षा एक दुर्जय आत्मा को जीतना अधिक कठिन है। आत्मा वास्तव मे दुर्दम है। जो महापुरुष आत्मा को जीतकर जितेन्द्रिय और जितात्मा बन जाता है, वह वदनीय हो जाता है। अत: आत्महितैषी को चाहिए कि वह अपनी आत्मा को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करे। शास्त्र में कहा भी है:—

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ या॥

अर्थात्—आत्मा ही वास्तव मे दमन करने योग्य है, क्योकि आत्मा दुर्दम है। जो दुर्दम आत्मा का दमन करते है वे इस लोक मे भी सुखी होते हैं और परलोक मे भी।

इस प्रकार शास्त्रकारो ने जितात्मा बनने और आत्म-विजय प्राप्त करने की ही प्रशसा की है। आत्मविजय में ही समस्त विजयो का समावेश हो जाता है। आत्मविजयी जितात्मा लाखो योद्धाओ को जीतने वाले योद्धा की अपेक्षा अधिक विजयी गिना जाता है। जितात्मा की ही सर्वत्र पूजा होती है और इसी कारण सम्राट् की अपेक्षा परिव्राट् की पदवी ऊ ची मानी गई है।

सुभट की अपेक्षा साधु और सम्राट् की अपेक्षा परि-व्राट् इसीलिए वदनीय और पूजनीय है कि एक तो क्षेत्र विजय प्राप्त करता है और दूसरा क्षेत्री पर जयलाभ करता है। क्षेत्र या शरीर पर प्रभुत्व जमा लेना कोई बडी बात नही है। परन्तु क्षेत्री अर्थात् आत्मा पर विजय पा लेना अत्यन्त ही कठिन है।

इस प्रकार सुभटों पर विजय पाना सरल है। मगर काम-क्रोध आदि को जीतना बडा ही कठिन कार्य है। कहा जाता है कि लक्ष्मण ने रावण को पराजित किया था, परन्तु वास्तव में रावण किससे पराजित हुआ ? रावण लक्ष्मण से नही वरन् काम से पराजित हुआ था। रावण ने सब को जीत लिया था मगर काम को वह नही जीत सका था और इसी कारण उसकी पराजय हुई। इस प्रकार सुभटो को जीतना बहुत कठिन नही है किन्तु काम को जीतना अत्यन्त कठिन है। जिस काम ने रावण जैसे बलिष्ठ पृथ्वीपति को पराजित कर दिया, उस काम को जीत लेना हँसी-खेल नही

है । वास्तव में जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि विकारो पर विजय पा लेता है, वह महात्मा-महापुरुष है ।

हमने क्रोध को जीता है या नही, यह बात कैसे मालूम हो ? कितने ही लोग ऊपर से तो शान्त तथा क्षमाशील प्रतीत होते हैं किन्तु ऊपर से शान्त रहने मात्र से ही यह नही कहा जा सकता कि उन्होने क्रोध को जीत लिया है । जब आत्मा का स्वरूप समझ मे आ जाये, तभी मानना चाहिए कि क्रोध काबू मे आ गया है क्रोध को जीत लेने के बाद आत्मा शान्त तथा शीतल बन जाता है । क्रोध किस प्रकार जीता जा सकता है, यह बात महाभारत की एक कथा द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जाता है

सौ कौरव और पाच पाडव एक ही जगह और एक ही आचार्य से अभ्यास करते थे । सब राजकुमारो मे युधिष्ठिर पढने मे मन्द गिने जाते थे । शिक्षक युधिष्ठिर पर बहुत नाराज भी होते थे और उपालभ देते थे – तू सब राजकुमारो मे बडा है, भविष्य में राज्याधिकारी होने वाला है, फिर पढ़ने मे दत्तचित्त न होना क्या तुम्हे शोभा देता है ? गुरु का यह उपालभ युधिष्ठिर नम्रतापूर्वक सहन कर लेते थे और शिष्टतापूर्वक उत्तर देते थे कि आपकी तो मुझ पर कृपा है परन्तु मेरी बुद्धि मन्द है । अतएव मुझे याद नही रहता । गुरु ने कहा अगर तुम बराबर अभ्यास नही करोगे तो मुझे उपालभ मिलेगा । मुझे उपालभ से बचाने के लिए अभ्यास करो तो अच्छा है । युधिष्ठिर बोले—आप उपालभ के पात्र नही बनेगे । मैं पढता नही हू तो इसमे आपका क्या दोष है ? दोष तो मेरी मन्द बुद्धि का है और इसके

लिए स्वय मैं ही उपालभ का पात्र हूं ।

एक दिन सब राजकुमारो के अभ्यास की परीक्षा लेने के लिए पाडु राजा ने एक परीक्षक भेजा । परीक्षा ली जाती है तो होशियार छात्रो को आगे और मन्द छात्रो को पीछे रखा जाता है । इस पद्धति के अनुसार युधिष्ठिर सब राजकुमारो मे बडे और राज्य के उत्तराधिकारी होने पर भी, पढने मे कमजोर होने के कारण सब से पीछे खडे किये गये । इस पर युधिष्ठिर को क्रोध आना स्वाभाविक था, परन्तु उन्हे क्रोध नही आया । उन्होने सोचा---मैं पढने में मन्द हू और इस कारण पीछे रखना ही ठीक है ।

परीक्षक परीक्षा लेने आया । सब राजकुमारो को देखने के बाद परीक्षक ने शिक्षक से कहा---युधिष्ठिर सब से बडा है, फिर भी उसे सब से पीछे क्यो रखा है ?

शिक्षक ने कहा---युधिष्ठिर अभ्यास करने मे बहुत मन्द है और इसी कारण उसे पीछे रखा है ।

परीक्षक ने युधिष्ठिर की परीक्षा लेते हुए प्रश्न किया--तुमने क्या सीखा है ?

युधिष्ठिर - अभी सयुक्त अक्षर सीख रहा हूं और वाक्य बनाने का अभ्यास करता हू ।

यह सुनकर परीक्षक ने कहा---इतने बडे हो गये हो और इतने वर्ष पढ़ते-पढ़ते हो गए हैं फिर भी अब तक वाक्य बनाना नही आता ! ठीक बताओ कि तुम क्या सीखे हो ?

पहले भारतवर्ष मे सस्कृत भाषा प्रचलित थी । लोग संस्कृत भाषा सीखते थे । आज तो सस्कृत भाषा का स्थान अग्रेजी भाषा ने लिया है और सस्कृत भाषा को लोग Dead

Language अर्थात् मृतभाषा कहते हैं। अंग्रेजी भाषा जानने वाले को अच्छी नौकरी मिलेगी, ऐसा कुछ लोग मानते हैं और कुछ लोग उसे सस्कृत भाषा की अपेक्षा अच्छी और समृद्ध भी मानते हैं किन्तु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपनी मातृ-भाषा की बेकद्री करना और विदेशी भाषा की कद्र करना भूल है। तुम्हारे हृदय मे अपनी माता का स्थान ऊंचा है या दासी का ? अगर तुम्हारे हृदय मे माता के लिए उच्च स्थान है तो मातृ भाषा के लिए भी ऊंचा स्थान होना चाहिए। मातृभाषा माता के स्थान पर है और विदेशी भाषा दासी के स्थान पर। दासी कितनी ही सुरूपवती और सुघड़ क्यों न हो माता का स्थान कदापि नही ले सकती।

प्राचीन समय मे इस देश मे सस्कृत भाषा प्रचलित थी और इसी भाषा मे शिक्षा दी जाती थी। आज की तरह उस समय विदेशी भाषा का महत्व या प्रभुत्व नहीं था। अतएव युधिष्ठिर ने सस्कृत भाषा मे, अपनी पट्टी पर 'कोप मा कुरु' अर्थात् क्रोध मत करो, ऐसा लिख रखा था।

युधिष्ठिर की पाटी पर लिखा हुआ यह वाक्य पढकर परीक्षक ने कहा—'बस, इतना ही आता है ?'

युधिष्ठिर—अभी तो इतना भी ठीक तरह नही आता।

परीक्षक—(क्रुद्ध होकर) इतना भी अभी याद नही हुआ ?

युधिष्ठिर—बाहर से तो इतना लेख याद हो गया है, परन्तु अन्दर से याद नही हुआ।

यह सुनकर परीक्षक और अधिक कुपित हो गया, उसने क्रोध में आकर युधिष्ठिर को मारना आरम्भ किया। यद्यपि

युधिष्ठिर राजपुत्र था और चाहता तो परीक्षक को उचित दड दिला सकता था; परन्तु उसने क्रोध का उत्तर क्रोध से नही वरन् शान्ति से दिया । अर्थात् युधिष्ठिर पूर्ववत् प्रसन्नचित्त ही बना रहा । युधिष्ठिर को मार खाने के बाद भी प्रसन्नचित्त बैठे देखकर परीक्षक ने शिक्षक से कहा—'कैसा है यह कि मारने पर भी प्रसन्न दिखाई देता है !' शिक्षक ने कहा—'युधिष्ठिर की ऐसी ही प्रकृति है । ऐसी प्रकृति वाले को पढाया भी कैसे जाये !' परीक्षक ने युधिष्ठिर से पूछा—तुम्हे इतना पीटा गया, फिर भी तुमने क्रोध नही किया । इससे तो यह जान पडता है कि तुम पाटी पर लिखे वाक्य को अमल मे ला रहे हो ! इस कथन के उत्तर मे युधिष्ठिर ने बतलाया—अभी मैं इस वाक्य को सिद्ध नही कर सका हू । मैं ऊपर से तो क्रोध नही कर रहा था मगर भीतर ही भीतर मुझे क्रोध आ रहा था । मैं मन में यह सोच रहा था कि मुझे मारने वाला यह होता कौन है ? अर्जुन और भीम सरीखे बलवान् मेरे भाई हैं और भविष्य मे मैं राज्याधिकारी होने वाला हूं; फिर मुझे पीटने वाला यह होता कौन है ? इस प्रकार मेरे हृदय मे क्रोध की अग्नि भडकी थी । अतएव अभी मैं 'कोप मा कुरु' इस वाक्य को सिद्ध नही कर सका हू । आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं इसे सिद्ध कर सकू !

युधिष्ठिर के यह नम्र वचन सुनकर परीक्षक गद्‌गद् हो गया और कहने लगा—युधिष्ठिर ! वास्तव में तुमने सच्ची शिक्षा ग्रहण की है । तुमने सक्रिय ज्ञान प्राप्त किया है । लोग वाक्यो को कठस्थ तो कर लेते हैं मगर हृदय में नही उतारते । तुमने अपना ज्ञान हृदय तक पहुचाकर क्रिया

में परिणत किया है। अतएव तुम्हारा थोडा-सा भी ज्ञान सक्रिय होने के कारण सच्चा ज्ञान है।

आज जगत् में ऐसे सक्रिय ज्ञान की ही आवश्यकता है। तोता-रटत ज्ञान से इष्टसिद्धि नही हो सकती। इष्ट-सिद्धि तो सक्रिय ज्ञान से ही हो सकती है अतएव सक्रिय ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

परीक्षक युधिष्ठिर की सहिष्णुता तथा सत्यवादिता से अत्यन्त प्रसन्न होकर कहने लगा--हे युधिष्ठिर! तू क्रोध-विजेता और सत्यभाषी है, अतएव ससार को भी जीत सकेगा। युधिष्ठिर इस प्रकार सहनशील तथा सत्यभाषी होने के कारण ही आगे चल कर धर्मराज के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

शास्त्रकारो ने क्रोध, मान, माया और लोभ को ससार का मूल प्रकट किया है। इन चार कषायो से ही पापो की वृद्धि होती है। शास्त्र मे कहा भी है :—

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो॥

—दश० ८, ३७.

अर्थात्--क्रोध, मान, माया तथा लोभ यह चार दोष पापवर्धक तथा ससारवर्धक हैं। अतएव आत्मा का हित चाहने वाले को इन चार दोषो का सर्वथा त्याग करना चाहिए। क्योकि —

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥

—दश० ८, ३८

अर्थात्—क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय

का नाश करता है, माया मित्रो की मित्रता का नाश करती है और लोभ तो सर्वविनाशक है। अतएव—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायामज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।

—दश० ८, ३९

अर्थात्—उपशम—क्षमा द्वारा क्रोध को दूर करना चाहिए, नम्रता द्वारा अभिमान को हटाना चाहिए, सरलता द्वारा माया को जीतना चाहिए और संतोष द्वारा लोभ को जीतना चाहिए।

क्रोध, मान, माया तथा लोभ—यह चार कषाय भव-चक्र मे भ्रमण कराते हैं। अगर हम भवचक्र मे भ्रमण नही करना चाहते और आत्मा को शान्ति देना चाहते हैं तो क्षमा आदि साधनो द्वारा क्रोध आदि कषायो को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्षमा द्वारा क्रोध किस प्रकार जीता जा सकता है, यह बात युधिष्ठिर के जीवन से समझी जा सकती है। युधिष्ठिर की भांति 'कोप मा कुरु' इस धर्म-शिक्षा को अगर तुम अपने हृदय मे उतार कर सक्रिय रूप दोगे तो तुम भी धर्मात्मा बनकर आत्म-कल्याण साध सकोगे।

क्रोध आदि को जीतने का मार्ग तो बतलाया परन्तु क्रोध आदि के उत्पन्न होने पर किस प्रकार सहनशीलता और क्षमा धारण करना चाहिए, यह बात खधक मुनि के उदाहरण द्वारा समझाता हूं। सहनशीलता सीखने के लिए खधक मुनि की सहनशीलता अपने लिए आदर्श है। इस आदर्श का अनुसरण करने मे ही अपना कल्याण है।

खधक मुनि गृहस्थावस्था में राजकुमार थे। वे राज-

काज करने में निपुण थे। उनके राज्यसचालन से प्रजा सतुष्ट और सुखी थी। एक वार उन्हे किसी विद्वान् मुनि का उपदेश सुनने का अवसर मिल गया। मुनिवर के उपदेश का प्रभाव उनके जीवन पर पडा। उन्होने विचार किया—मैं अपनी धीरता और वीरता का उपयोग केवल दूसरों के ही लिए करता हू। यह योग्य नही है। मुझे अपने इन गुणो का उपयोग अपनी आत्मा के लिए भी करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होने अपने माता-पिता से अनुरोध किया 'मैं आत्मा का श्रेयस् करना चाहता हूं; अतएव ऐसा करने की आज्ञा दीजिए।' माता-पिता ने कहा—'पुत्र ! तू आत्मा का श्रेयस् करना चाहता है, यह अच्छी बात है। प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कर।' खधकजी बोले—'ससार मे रहकर आत्मश्रेयस् साधना मुझे कठिन प्रतीत होती है, अतएव मैं ससार का त्याग करके आत्मकल्याण करने की इच्छा करता हू।' पुत्र का यह कथन सुनकर उनके माता-पिता दुखित होकर कहने लगे—'वेटा ! ससार का त्याग थोडे ही हो सकता है।' खधकजी बोले—ऐसा है तो आप यह कहिए कि आत्मकल्याण न साध अथवा यह कहिए कि ससार का त्याग करके आत्मकल्याण नही किया जा सकता।' खधकजी का यह कथन सुनकर माता-पिता उनका निश्चय और सदाशय समझ गए और उन्होने ससार-त्याग करके आत्मकल्याण करने की आज्ञा दे दी। साथ ही यह कहा—'वेटा ! तू क्षत्रियपुत्र है। अतएव सिह की भाति ससार का त्याग करना और सिह की भाति ही सयम का पालन करना।' खधकजी ने माता-पिता की शिक्षा शिरोधार्य करते हुए कहा—आपका कथन समुचित है। मैं आपके आदेशानुसार

सयम-पालन में सिंहवृत्ति धारण करने का अभ्यास करूंगा और प्राणपन से सयम का पालन करूंगा ।

खधकजी ने उत्साह और वैराग्य के साथ सयम स्वीकार किया । पिता ने विचार किया—'खधक ने आज तक किसी प्रकार का कष्ट सहन नही किया है । अतएव मुझे ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए कि उसे किसी प्रकार का उपद्रव न सताये ।' इस प्रकार विचार करके पिता ने पुत्रमोह से प्ररित होकर पाच सौ सैनिको की व्यवस्था कर दी । ऐसा प्रबन्ध किया गया कि खधकजी को इस बात का पता न लगे मगर उनकी बराबर रक्षा होती रहे । सैनिक गुप्त रूप मे खधक मुनि के साथ रहने लगे । खधक मुनि को इन रक्षक सैनिकों का पता नही था, वह तो यही मानते थे कि मेरी रक्षा करने वाला मेरा आत्मा ही है, दूसरा कोई नही । इस प्रकार खधक मुनि तपश्चरण करके आत्मकल्याण करने लगे और आत्मा को भावित करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

विहार करते-करते वे अपनी ससारावस्था की बहन के राज्य मे पधारे । उनके पीछे गुप्त रूप से चले आने वाले सैनिक विचारने लगे—अब खधकजी अपनी बहन के राज्य मे आ पहुचे है । अब किसी प्रकार के उपद्रव की सभावना नही है । इस प्रकार निश्चिन्त होकर सैनिक अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे कार्यों मे लग गए । इधर खधक मुनि आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान हो जाने के कारण तपश्चरण द्वारा शरीर को सुखा कर आत्मा को बलवान बनाने में लगे हैं ।

एक बार खधक मुनि भिक्षाचरी करने के लिए राजमहल के पास से निकले । उस समय राजा और रानी राज-

महल की अटारी पर बैठकर नगर निरीक्षण करने के साथ ही साथ मनोविनोद कर रहे थे। रानी की दृष्टि अकस्मात मुनि के ऊपर पड गई। मुनि को देखते ही रानी विचारने लगी—मेरा भाई भी इन्ही मुनि की तरह भ्रमण करता होगा। इस तरह विचारमग्न होने के कारण रानी क्षण भर के लिए मनोविनोद और वाणीविलास को भूल गई। राजा ने देखा साधु को देखकर रानी मूझे भूल गई और दूसरे ही विचारो मे डूब गई है। यह साधु शरीर से तो कृश है पर ललाट इसका तेजस्वी है। इस मुडित साधु के प्रति रानी का प्रेमभाव तो नही होगा ? इस विषय मे दूसरो की सलाह लेना भी अनुचित है। अतएव किसी और से पूछने की अपेक्षा इस साधु को समाप्त कर देना ही ठीक है। इस प्रकार विचार कर राजा ने नौकर (चाण्डाल) को बुलाकर आज्ञा दी—उस साधु को वधभूमि पर ले जाओ और मार कर उसकी खाल उतार लाओ।

राजा की यह कठोर आज्ञा सुनकर चाण्डाल कांप उठा। वह मन ही मन विचार करने लगा आज मुझे कितना जघन्य काम सौंपा गया है। मैं चाकर हू अतएव यह काम किये विना छुटकारा नही। अगर मैं राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता हू तो मैं उनका कोप-भाजन बनूगा और शायद मुझे प्राणदण्ड दिया जायेगा। इस प्रकार विचार कर वह खधक मुनि के पास आया और उन्हे पकडने लगा। मुनि ने पूछा—मुझे किस कारण पकडा जा रहा है ? चांडाल ने कहा—'राजा ने पकडने को आज्ञा दी है। अतएव चुपचाप मेरे पीछे चले आओ।' मुनि ने पूछा—चलना कहा है ?

चाडाल—श्मशानभूमि मे।

मुनि---किसलिए ?

चाडाल--राजा की आज्ञा के अनुमार वहां तुम्हारा वध किया जायेगा और तुम्हारे शरीर की खाल उतारी जाएगी।

यह हृदयविदारक वचन सुनकर मुनि को आघात पहुचना स्वाभाविक है। परन्तु खधक मुनि को शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान था। अतएव वह विचारने लगे--यह शरीर नश्वर है। किमी न किसी दिन जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा। ऐसो स्थिति मे अगर आज ही यह कष्ट होता है तो इसमे मुझे दुख मानने की क्या आवश्यकता है ? मेरा आत्मा तो अजर-अमर है। उसे कोई नष्ट नही कर सकता। इस प्रकार विचार करके और धैर्य धारण करके खधक मुनि चुपचाप नौकर के पीछे-पीछे चलने लगे। जब दोनो वध-स्थल पर पहुचे तो मुनि ने चाण्डाल से कहा--'भाई ! मेरे शरीर मे रक्त नही है इस कारण चमडी हाडो के साथ चिपट गई है तो खाल उधेडने के लिए कोई साधन साथ मे लाये हो या नही ? अगर कोई साधन नही लाये हो तो तुम्हे बहुत कष्ट होगा।' मुनि का यह मार्मिक कथन सुनकर वह लज्जित हो गया। वह मन मे विचार करने लगा--'कितना पापी हू मैं ! मुझे इन पापी हाथो से एक महात्मा के शरीर की खाल उतारनी पडेगी !' वह नम्र भाव से मुनि से कहने लगा-आप महात्मा हैं। आपके हृदय मे मुझ जैसे पापात्मा के प्रति भी करुणा है। परन्तु इस समय मैं निरुपाय हू। मुझे अनिच्छा से और दुखित मन से भी आपके वध का पाप करना पडेगा।

वधस्थल पर ले जाकर चाडाल ने दुखी हृदय से मुनि

का वध किया और उनके शरीर की खाल उतार ली । परन्तु वह शान्तमूर्ति मुनिराज परमात्मा के ध्यान से तनिक भी विचलित नही हुए । शरीरनाश के समय उन्होने अपनी आत्मा का परमात्मा के साथ ऐसा अनुसधान किया कि परमात्मा का ध्यान करते हुए उन्हे मृत्यु का दुःख मालूम ही नही हुआ । मुनि के मन मे किसी के प्रति न क्रोधभाव उत्पन्न हुआ और न वैरभाव ही उत्पन्न हुआ । उस समय खधक मुनि क्षमा की साक्षात् मूर्ति बन गये । क्षमाशीलता का इससे ऊंचा आदर्श और क्या हो सकता है? क्षमाशील रहना तो साधु का धर्म है । समर्थ साधु ही ऐसा वधपरिषह सह सकते हैं । क्षमाशील साधु कैसे होते हैं, इस सबध मे शास्त्र मे कहा है.—

हओ न संजले भिक्खू, मण पि न पओसए ।
तितिक्खं परम नच्चा, भिक्ख धम्म समायरे ॥

अर्थात्—कोई प्राणो का हरण करे तो भी भिक्षु उस पर क्रोध न करे, यहां तक कि मन मे भी द्वेष न लावे । बल्कि तितिक्षा (सहनशीलता-क्षमा) को उत्तम गुण समझकर क्षमाशील साधु क्षमाधर्म का ही पालन करे ।

खधकजी मुनि ने दस प्रकार के साधु धर्मों मे प्रथम और प्रधान क्षमाधर्म को सर्वोत्कृष्ट समझकर प्राण अर्पण कर दिये और जगत् के समक्ष क्षमा का अनूठा आदर्श उपस्थित करने के साथ अपने जीवन को धन्य बना लिया । खधकजी मुनि ने प्राण त्याग करते समय ऐसी उच्च भावना भायी थी कि:—

चाहत जीव सबै जग जीवन, देह समान नहीं कछु प्यारो ।
सयमवंत मुनीश्वर को, उपसर्ग हुए तन नाशन हारो ॥

तो चितवे हम आतमराम, अखंड अबाधित ज्ञान भंडारो।
देह विनाशिक सो हम तो नहिं, शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो॥

खधक मुनि ने इस प्रकार की उच्च भावना भाते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया। जिस उद्देश्य के लिए उन्होंने ससार त्याग किया था, वह आत्मश्रेय-साधन का उद्देश्य सिद्ध करके मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार खधक मुनि सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

वह नौकर, जिसने मुनि का वध किया था, मुनि की खाल लेकर राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने मुनि की खाल उतार लाने की आज्ञा तो अवश्य दी थी, परन्तु जब मुनि के शरीर की खाल उसकी दृष्टि के सामने आई तो उसे देखकर वह एक बार काप उठा। कहने लगा--हाय! मैंने यह कैसा कुकृत्य किया कि एक महात्मा के शरीर की खाल उतरवा ली! नौकर ने महात्मा की धीरता, वीरता और क्षमा की सब बात कही। नौकर की बातें सुनकर राजा पश्चात्ताप करने लगा। उसे इतना सताप हुआ कि आखो से आँसुओ की धारा बहने लगी। जब रानी को विदित हुआ कि किसी मनुष्य की खाल उतरवाई गई है और रानी ने उसे आकर प्रत्यक्ष देखा तो वह भी रुदन करने लगी।

इसी बीच एक चील राजा के महल पर उडती-उडती आई। उसने रक्त से रजित मुनि की मुखवस्त्रिका या दूसरा कोई वस्त्र उठा लिया था। मगर उस चीज मे उसे कोई स्वाद नही आया। अतएव उसने वह वस्त्र राजा के महल पर ही छोड़ दिया और वह उड गई। खून से लथपथ वह वस्त्र रानी को नजर आ गया। रानी ने उसी समय वह वस्त्र मगवा कर देखा तो जान पडा कि यह वस्त्र किसी

मुनि का मालूम होता है। रानी, राजा के पास गई और कहने लगी––महाराज ! आपके राज्य मे किसी मुनि का घात हुआ है। यह वस्त्र उन्ही मुनि का मालूम होता है। रानी ने यह भी कहा—उन मुनि ने ऐसा क्या अपराध किया था कि आपने उन्हे प्राणदण्ड दिया ? रानी के प्रश्न के उत्तर मे राजा ने अथ से इति तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा का कथन सुनकर रानी के दुःख का पार न रहा।

रानी ने कहा—मुनि को प्राणदण्ड देने से पहले जांच तो कर लेते कि मैंने मुनि की ओर किसलिए देखा ! आपने यह कुकृत्य करके घोर अनर्थ किया है। मुनि को देखकर मेरे मन मे विचार आया कि मेरा भाई भी इन मुनि की तरह घर–घर भिक्षा के लिए भटकता होगा ! आपने मेरी दृष्टि मे विकार देखा, मगर वास्तव मे मेरी दृष्टि मे अथवा मुनि की दृष्टि मे किसी प्रकार का विकार नही था।

राजा ने खोज कराई तो मालूम हुआ कि वह मुनि रानी के संसारावस्था के भाई ही थे। यह जानकर राजा को भी बहुत पश्चात्ताप हुआ।

रानी ने कहा—अब पश्चात्ताप करने से मुनि फिर जीवित होने के नही। अतएव पश्चात्ताप करना छोडो और इन मुनि के मार्ग का अनुसरण करो। इसी मे अपना कल्याण है। आखिर राजा रानी दोनो ने सयममार्ग ग्रहण कर के आत्म-कल्याण किया।

कहने का आशय यह है कि मुनि के मन में जो क्षमा होती है, उसका प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है। राजा कितना कठोरहृदय था कि मुनि का किसी प्रकार का अप-

राध न होने पर भी उसने मुनि के शरीर की चमडी उधेड लेने की आज्ञा दे दी। परन्तु मुनि की अनुपम क्षमा का वृत्तान्त सुनकर उस कठोरहृदय राजा का हृदय भी परिवर्तित हो गया। इस प्रकार खधक मुनि ने क्षमा का आदर्श उपस्थित करके स्व-पर कल्याण साधन किया। इस प्रकार की क्षमा धारण करने वाले ही वास्तव मे महान् हैं। क्षमा इस लोक का भी बल है और परलोक का भी बल है। ससार में उन्ही पुरुषो का जीवन धन्य बन जाता है, जो स्वय क्षमाशील बनकर दूसरो को भी क्षमाशील बनाते हैं।

तुम क्षमाशील बनकर आत्मा का कल्याण साधो। इसी मे तुम्हारा कल्याण है।



सैंतालीसवां बोल

अलोभवृत्ति

पिछले बोल में क्षमा के विषय में विचार किया गया है। निर्लोभ व्यक्ति ही क्षमा धारण कर सकता है। अतएव अब निर्लोभता अर्थात् मुत्ति (मुक्ति) के विषय मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते है.—

मूलपाठ

प्रश्न—मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मुत्तीए ण अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं अप्पत्थणिज्जो हवइ ॥४७॥

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन् ! मुक्ति अर्थात् निर्लोभता से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—निर्लोभता से जीव अकिंचन-अपरिग्रह बनता है और धनलोलुप पुरुषो का अप्रार्थनीय बनता है।

व्याख्यान

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न पूछ कर हम लोगो पर

महान् उपकार किया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ कहा है, उस पर हमें शान्त चित्त से विचार करना चाहिए। भगवान् का कथन है कि क्षमा के विना निर्लोभता उत्पन्न नही होती और निर्लोभता के विना क्षमा नही आ सकती। यह दोनो गुण एक दूसरे के सहारे टिके है। अकेली क्षमा टिक नही सकती। क्षमागुण को स्थिर रखने के लिए अन्य सद्गुणो को भी आवश्यकता होती है। जैसे मूल होने पर शाखा-प्रशाखाए होती हैं, उसी प्रकार क्षमा रूपी मूल के होने पर शाखा-प्रशाखा के रूप में अन्य गुण होते है। क्षमा गुण अगर मूल है तो निर्लोभता आदि गुणो को शाखा-प्रशाखा के रूप मे समझना चाहिए।

जिस व्यक्ति मे लोभ होता है अथवा जिस व्यक्ति को किसी वस्तु के प्रति ममत्व होता है उसकी प्रिय वस्तु की अगर कोई हानि करता है तो हानि करने वाले पर उसे क्रोध आना स्वाभाविक है। किन्तु जो व्यक्ति निर्लोभ होता है, जो यह मानता है कि सब वस्तुए मेरे आत्मा के सयोग से ही हैं और एक न एक दिन वह सब नष्ट होने वाली ही हैं, मेरा शाश्वत सबंध किसी भी सासारिक वस्तु के साथ नही है, ऐसे व्यक्ति को किसी पर क्रोध आने का कोई कारण ही नही। जिस व्यक्ति के लिए किसी पर क्रोध का कारण ही नही होता, वही व्यक्ति क्षमा रख सकता है। इस प्रकार निर्लोभता के कारण ही क्षमाभाव टिक सकता है। अतएव लोभ को जीत कर क्षमाशील बनने का प्रयत्न करो।

निर्लोभता से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् फरमाते है—जिसमें लोभ नही होता—जो निर्लोभ होता है वह अकिचन अर्थात् निर्धन बन जाता

है और इस कारण निर्लोभ व्यक्ति अर्थलोलुप लोगो के लिए अप्रार्थनीय बनता है ।

इस प्रश्न का उत्तर सुनकर कोई कह सकता है कि निर्लोभता का यह तो उलटा फल निकला ! ससार व्यवहार मे तो यह देखा जाता है कि धन होने से ही धर्म होता है और धनवान् को ही धर्मात्मा माना जाता है । परन्तु भगवान् कहते है कि निर्लोभता से निर्धनता आती है । इस प्रकार के कथन के सबध में शास्त्रकार कहते हैं कि अगर तुम भगवान् के कथन पर गहरा विचार करोगे तो भगवद्-वाणी का रहस्य तुम्हारी समझ मे आयेगा और तुम्हें अपनी भूल मालूम हुए बिना नही रहेगी । यह तो तुम भलीभाति जानते हो कि पदार्थों के प्रति चाहे जितनी ममता क्यो न रखो, आखिर वे पदार्थ नष्ट हो जाए गे और तब ममता त्यागनी ही पडेगी । ऐसी स्थिति मे जो पदार्थ नष्ट हो जाने वाले हैं, उन्हे अपनी ओर से त्याग देना ही निर्लोभता है । अब तुम स्वय ही विचार करो कि जो वस्तु अन्त मे छूटने वाली ही है और नष्ट-भ्रष्ट होने वाली है उस नश्वर वस्तु के प्रति ममत्व रखने से लाभ है या उसका स्वेच्छा से त्याग करने मे लाभ है ? तुम स्वय कहोगे कि नश्वर वस्तु के प्रति ममत्व न रखने तथा निर्लोभता धारण करने मे ही लाभ है ।

कोई कह सकता है कि निर्धन हो जाना या दरिद्रता प्राप्त होना निर्लोभता का सुन्दर परिणाम नही कहा जा सकता । दरिद्रता के कारण तो पूरे अन्न-वस्त्र भी प्राप्त नही होते । ऐसी स्थिति मे यह कैसे कहा जा सकता है कि निर्लोभता अच्छी वस्तु है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान्

कहते हैं— जिसमें निर्लोभता होती है उसे अर्थलोलुप लोग छोड देते हैं। निर्लोभ व्यक्ति अर्थलोभी लोगों का अप्रार्थनीय बन जाता है। धन के लोभी भली—भाति जानते हैं कि जिनके पास कुछ भी नही है अथवा जो निर्लोभ हैं, उनसे कुछ मिलने की आशा नही ! अतएव वे निर्लोभ व्यक्ति का पिंड छोड देते हैं।

ससार मे प्रायः धनिको को ही सताया जाता है। राजा इक्षुकार की पत्नी कमलावती ने अपने पति से कहा था—

सामिसं कुललं दिस्स बज्झमाण निरामिसं।
आमिसं सव्वं मुज्झित्ता विहरिस्सामि निरामिसा॥

— श्री उ० १४ अ० ४६ गा०

अर्थात् जब किसी पक्षी के पास मास होता है तब दूसरे पक्षी, जिनके पास मास नही होता, वे उस पर टूट पड़ते है। मास के कारण ही उस पक्षी पर दूसरे पक्षी टूट पडते है। अगर मास वाला पक्षी मास का त्याग कर दे तो दूसरे पक्षी उसे सताए गे नही।

इसी प्रकार जो पुरुष स्वय धन सम्पदा का त्याग कर देता है, उसे राजा-चोर आदि अर्थलोलुप लोग नही सताते। जब लुटेरा किसी मनुष्य को लूटता है या मारता है तो यह कहा जाता है कि लुटेरा या चोर लोगों को दुःख देता है। मगर इस बात का विचार करो कि वास्तव में दु.ख कौन देता है। चोर या लुटेरा दुःख देता है अथवा धन की ममता दुःख देती है ? धन की ममता के कारण ही दु.खो का उद्-भव होता है धन की ममता का त्याग कर देने पर दुःख की उत्पत्ति नही होती, बल्कि सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है।

कहने का आशय यह है कि जो लोग निर्लोभता-अकिंचनता को स्वीकार करते हैं, उन्हे अर्थलोभी लोग भी छोड देते हैं । निर्लोभ मनुष्य ही आखिर देवो और मनुष्यो द्वारा पूजनीय बनता है । वही सुख और शान्ति प्राप्त करता है ' इससे विपरीत, जिन्होने धन का लोभ नही त्यागा, वे इस लोक में भी हाय-हाय करते हैं और परलोक में भी दु ख पाते हैं ।

शास्त्र मे यह बात यद्यपि साधुओं को लक्ष्य करके कही गई है, पर गृहस्थो को भी इस बात पर विचार करना चाहिए कि धन के लोभ से कितना दु ख होता है ! यह तो सभी जानते हैं कि लोभ से धन की प्राप्ति नही होती । ऐसी स्थिति मे धन की आवश्यकता होने पर भी लोभ करने से क्या लाभ है ? लोभ का कही अन्त नही और जहा लोभ है वहा पाप का पोषण होता है । गहरा विचार करने से तुम्हें भी विदित हुए बिना नही रहेगा कि दुःख का मूल कारण धन है । कुछ लोग धनिको को सुखी मानते हैं, पर धनिको से पूछो कि वे सुखी हैं या दुखी ? वास्तव मे धन-वानो को सुखी समझना भ्रम मात्र है । प्रायः देखा जाता है कि जिनके-पास धन है, वही लोग अधिक हाय-हाय करते हैं ! जहां जितना ज्यादा ममत्व है, वहा उतना ही ज्यादा दु.ख है ।

कहा जा सकता है कि हम तो धनिको को आनन्द मानते हुए देखते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध मे ज्ञानीजनो का कथन है कि धन वास्तव मे सुख का कारण नही है । सुखी असल में वही है, जिसने ममता पर विजय प्राप्त करली है । जो लोग ममत्व मे फंसे हैं वे दिन-रात हाय-हाय करते

रहते हैं। इसी कारण शास्त्रकार सासारिक पदार्थों के प्रति ममता का भाव न रखने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि सासारिक पदार्थों का जितने अश मे त्याग किया जायेगा उतने ही अशो मे अधिक आनन्द प्राप्त होगा। वस्तुए तो आखिर नष्ट होने वाली हैं ही, फिर इन नाशशील वस्तुओ पर ममत्व रखकर क्यो दुखी होना चाहिए ? विनश्वर वस्तुओ का स्वेच्छापूर्वक त्याग कर दिया जाये तो दुःख से बचाव हो जायेगा और आत्मसुख भी प्राप्त हो सकेगा ज्ञानीजन अपना अनुभव प्रकट करते हुए कहते हैं कि सासारिक पदार्थ अन्त मे एक न एक दिन अवश्य ही नष्ट होने वाले है, अतएव इन नश्वर पदार्थों का अगर वैराग्यपूर्वक त्याग कर दिया जाये तो अपूर्व आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

कोई प्रश्न कर सकता है कि कितनेक लोगो के पास सोना, चादी आदि धन होने पर भी वे त्यागी जैसे मालूम होते हैं और कुछ लोग धन न होने पर भी त्यागी सरीखे मालूम नही होते। इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अमुक ने वस्तु सम्बन्धी ममत्व का त्याग किया है या नही, यह निश्चय की बात है। इसे हम लोग जान नही सकते। परन्तु जिस व्यक्ति मे जिस वस्तु के प्रति ममत्वभाव न होगा वह व्यक्ति अपने पास वह वस्तु रखेगा ही क्यो ? मुख्य बात तो यह है कि जिसने अन्त.करण से ममता का त्याग कर दिया होगा वह दुखरहित बन जाएगा। जिसने ऊपर से केवल बाह्य दृष्टि से त्याग होने का दिखावा किया होगा, भीतर से ममता-भाव का त्याग नही किया होगा, वह बाहर से भले ही त्यागी जैसा दिखलाई दे, मगर वह दुःखो से मुक्त नही हो

सकता। जहाँ ममत्व है वहा दुःख होता हो है। अतएव सांसारिक पदार्थों से जितना दूर रहा जाये, उतना ही अच्छा है। सासारिक पदार्थों के प्रति निस्पृह रहने से सासारिक पदार्थ अधिकाधिक समीप आते हैं और उन पर ममत्व रखने से वे दूर भागते हैं। सूर्य की तरफ पीठ करके छाया को पकडने के लिए दौडने से छाया आगे-आगे भागती जाती है। इसी प्रकार ममता के कारण सासारिक पदार्थ दूर से दूर तक होते जाते हैं। अगर सूर्य की ओर मुख और छाया की तरफ पीठ की जाये तो छाया पीछे-पीछे चली आती है। इसी प्रकार पदार्थों के प्रति निस्पृहता धारण की जाये और उदारतापूर्वक उनका त्याग करने की भावना रखी जाये तो सासारिक पदार्थ तुम्हारे पीछे-पीछे दौडेंगे। अतएव सांसारिक पदार्थों के प्रति ममताभाव नही रखना चाहिए।

ससार मे जनसमाज का कल्याण वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने ममता का त्याग कर दिया हो। अर्थलोभी व्यक्ति प्रायः ससार का अहित करने मे प्रवृत्त रहता है। कोई कह सकता है कि आप धन का त्याग करने के लिए कहते हैं, परन्तु आज तो यह माना जाता है कि:—

भज कल्दारं, भज कल्दारं, कल्दारं भज मूढमते !

अर्थात् हे मूढ ! तू धन की पूजा कर। ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिए ?

इस कथन का उत्तर यह है कि अर्थलोभी ही ऐसा कहते हैं। ऐसे लोगो से पूछना चाहिए कि धन में सुख ही है या दुख भी है ? इस प्रश्न के उत्तर मे अर्थलोभी भी स्वीकार किये बिना नही रह सकते कि धन मे दुख भी है। वास्तव मे धन को परमात्मा के समान मानने वाले अर्थ-

लोलुप लोगों की बदौलत ही यह ससार दुखी बना हुआ है और जिन्होने धन को धूल के समान मानकर उसका त्याग कर दिया है, उन निर्लोभ पुरुषो की ही बदौलत ससार सुखी हो सका है अथवा हो सकता है ।

जो अर्थलोभी नही है, जो धन को धूल समझते हैं, उन्हे कही भी किसी भी प्रकार का भय नही रहता । आज धन लोभी लोगो को ही चोर आदि का सब से ज्यादा भय लगता है । धन के त्यागी, धन को धूल समझने वाले मुनि को जगल में भी किसी का भय नही लगता । दरअसल धन मे आनद नही है, धन का त्याग करने मे आनन्द है । यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है । धन का त्यागी स्वय सुखी रहता है और दूसरो को भी सुखी बनाता है ।

अगर तुम सासारिक पदार्थों की वास्तविकता पर विचार करोगे तो जान पडेगा कि लोभ का कही अन्त ही नही है ! ज्यो-ज्यो धन बढता जाता है त्यो-त्यो लोभ भी बढता चला जाता है । और जैसे-जैसे धन-लोभ बढता जाता है वैसे-वैसे पाप का पोषण भी हो जाता है । अतएव ससार की प्रत्येक वस्तु का स्वेच्छा से ही त्याग करना उचित है । लोभ को जीतकर निर्लोभ बनने के लिए शास्त्र मे अनेक उपाय बतलाये गए हैं । श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कपिल मुनि का दृष्टान्त देकर बतलाया है कि वस्तु की प्राप्ति होने से किस प्रकार लोभ की वृद्धि होती जाती है ! और परिणाम-स्वरूप जीवन मे कितनी अशान्ति उत्पन्न हो जाती है । लोभ, दुख और अशान्ति का कारण है । निर्लोभता से सुख और शान्ति प्राप्त होती है । अतएव लोभ का त्याग करके निर्लोभ बनने मे ही कल्याण है ।

कपिल ब्राह्मण को सिर्फ दो माशा सोने की ही आवश्यकता थी। राजा ने इच्छानुसार जो चाहिए सो—मांगने की अनुमति दी। कपिल ब्राह्मण ने बगीचा मे जाकर खूब विचार किया कि क्या मागना चाहिए ? किन्तु विचारते-विचारते वह इसी निर्णय पर आये कि लोभ का कही अन्त नही है। ज्यो ज्यों अधिक मागने की इच्छा करता हूं, लोभ बढता ही जाता है। वास्तव मे जहाँ लाभ है वहां लोभ है। तृष्णा सर्वविनाशिनी है। अगर मैं तृष्णा का त्याग कर दू तो निर्भय बन जाऊ ! इस प्रकार गहरा विचार करने के बाद कपिल ब्राह्मण इसी नतीजे पर पहुचे कि लोभ ही सर्वविनाशक है। अतएव लोभ का त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। ऐसा विचार कर कपिल ब्राह्मण ने लोभ का त्याग कर दिया और लोभ का पूर्ण रूप से त्याग करने के लिए ससार का त्याग करके मुनिपद स्वीकार किया और आत्मकल्याण किया।

भगवान् ने कहा है—लोभ पर विजय प्राप्त करने से आत्मकल्याण होता है। अतः आत्महितैषी लोगो को लोभ पर विजय पाकर निर्लोभ बनकर आत्मकल्याण करना चाहिए।

जीवन मे निर्लोभवृत्ति आ जाएगी तो धन आदि के लिए अर्थलोलुप लोगो से प्रार्थना भी नही करनी पडेगी। जहा निर्लोभता है वहा निर्भयता है। अतएव भयरहित बनने के लिए जीवन मे लोभ को त्याग दो। लोभ को जीतो। इसी मे स्व-पर का कल्याण है।



अड़तालीसवां बोल

ऋजुता

सिद्धान्त-सागर मे अनेक अनमोल मोती भरे हैं। सच्चा जानकार जौहरी ही मोती की परख कर सकता है और ठीक कीमत आंक सकता है। मोतियों की माला पहन कर लोग फूले नही समाते परन्तु नश्वर मोतियो की माला से जीवन का वास्तविक कल्याण नही हो सकता। वीर-वाणी रूपी अनमोल मोतियो की माला अपने गले मे धारण करने वाले ही अपने जीवन को कल्याणमय बना सकते हैं, साथ ही पर का भी कल्याण कर सकते है। वास्तव में वीरवाणी ससार-सागर से पार उतारने वाली है और इसी कारण वीरवाणी को जगदुद्धारिणी कहते हैं।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र महावीर की अन्तिम वाणी है। इस अन्तिम वाणी मे श्रमणनायक महावीर भगवान् के आत्मानुभव का निचोड सगृहीत है। उत्तराध्ययन के २९वे अध्ययन में महावीर भगवान् और गौतम गणधर के बीच हुए प्रश्नोत्तर का सक्षिप्त, सारगर्भित तथा सुन्दर सूत्र के रूप मे निरूपण किया गया है। इस अध्ययन मे आत्मिक गुणो का विकास करनेवाले ७३ सोपान बनाए गए हैं। इन ७३

बोलो में से सैंतालीस बोलो का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। सैंतालीसवें बोल में मुक्ति अर्थात् निर्लोभता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय पर विचार किया गया था।

आर्जव क्या है ? आर्जव गुण धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—अज्जवयाए काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ, अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥४८॥

शब्दार्थ

प्रश्न भगवन् ! आर्जव-ऋजुता-निष्कपटता से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—ऋजुता से जीवात्मा काय की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता तथा तीनो योगो की सरलता प्राप्त करता है। आत्मा जब मन, वचन, काय से सरल बनता है तब धर्म का आराधक बनता है।

व्याख्यान

इस बोल पर विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि जीवन में आर्जव-सरलता कब प्रकट होती है ? जीवन मे आर्जव गुण प्रकट करने के लिए

भगवान् ने पहले ही कह दिया है कि जो व्यक्ति अक्रोधी होता है, वही क्षमागुण को धारण कर सकता है, जो क्षमाशील होता है वही निर्लोभ हो सकता है और जो निर्लोभ होता है वही निष्कपट बन सकता है। इस प्रकार जहा कपटभाव नही होता वही आर्जव गुण प्रकट होता है। जिसमे लोभ आदि होते हैं वह सरलता नही रख सकता और जहा लोभ है वहा कपट होता ही है।

लोभ और कपट मे अविनाभाव सबध है। जहां तीव्र लोभ है वहां माया भी है और जहा माया है वहा लोभ अवश्य होता है। जो लोभ को जीत लेता है वह कपट को भी जीत लेता है और जो कपट को जीत लेता है वह लोभ को भी जीत लेता है। इस प्रकार निर्लोभता और निष्कपटता के बीच पारस्परिक सबध है और इसी कारण गौतम स्वामी ने निर्लोभता के प्रश्नोत्तर के बाद निष्कपटता के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया है।

दुनियादारी मे आम तौर पर यह कहा जाता है कि जो सरल होता है वह व्यवहार मे कच्चा होता है, अतएव मनुष्य में थोडी-बहुत वक्रता अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार ससार मे वक्रता रखने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। परन्तु शास्त्रकार इससे विरुद्ध यह कहते हैं कि लोभ या वक्रता रखने से आत्मा का तनिक भी लाभ नही होता है। निर्लोभता और सरलता से ही आत्मा का वास्तविक लाभ होता है। भगवान् ने कहा है—हे गौतम! जिस व्यक्ति के हृदय मे सरलता होती है, कपट नही होता, उस व्यक्ति की काया मे सरलता आती है, भावो मे सरलता आती है और भाषा मे भी सरलता आ जाती है। इसके

विपरीत हृदय मे जब कपट भाव होता है तो काया में भी कुटिलता आ जाती है, भावो मे भी वक्रता आ जाती है और भाषा मे भी कपटीपन आ जाता है।

हृदय मे कपट का भाव आने से शरीर मे किस प्रकार वक्रता आ जाती है; यह बात नाटक के उदाहरण से स्पष्ट समझ में आ सकती है। नाटक मे अनेक प्रकार के जो पात्र होते हैं, वे वास्तव मे कैसे होते हैं और नाटक मे शरीर का रूप कैसा बना लेते हैं ? उनके हृदय मे तो मलीनता होती है मगर ऊपर से सरलता प्रकट करते हैं। 'हाथी के दांत दिखाने के और तथा खाने के और' इस लोकोक्ति के अनुसार उनके हृदय का व्यवहार तथा काया का व्यवहार जुदा-जुदा होता है।

राम या हरिश्चन्द्र का नाटक खेला जाता है। राम या हरिश्चन्द्र का अभिनय करने वाले मे उन जैसा त्याग-भाव नही होता, फिर भी कपट-पूर्वक राम या हरिश्चन्द्र का वेषधारण करके अभिनेता खेल दिखलाता है। इसमे कपट नही तो क्या है ?

कहने का आशय यह है कि हृदय मे कपटभाव रखने से काया मे भी वक्रता आ ही जाती है और जब हृदय मे सरलता आती है तो काय में भी सरलता आ जाती है। इसके अतिरिक्त काय की वक्रता और सरलता से हृदय की वक्रता और सरलता जानी जा सकती है। अगर भावों में कपट हो तो काय में वक्रता आए बिना नही रहेगी। अर्थात् भाव मे कपट होगा तो काय मे वक्रता आएगी और काय मे वक्रता होगी तो भावों में भी वक्रता होगी। इस प्रकार भाव मे सरलता होगी तो काय मे भी सरलता होगी और काय

मे सरलता होगी तो भावो में भी सरलता होगी और जिनके भावो में तथा काय में सरलता या वक्रता होगी, उनकी भाषा में भी वैसी ही सरलता या वक्रता आए विना नही रहेगी।

भाव मे भापा में और काया में वक्रता किस प्रकार आती है, इसका वर्णन शास्त्र मे भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। यद्यपि प्रधानता तो भाव की ही रहती है तथापि भाव के साथ भाषा और काया का भी सबध है। भाव की प्रधानता देहली पर रखे दीपक के समान है। देहली पर दीपक रखने से वाहर भी प्रकाश पडता है और भीतर भी प्रकाश पड़ता है, उसी प्रकार भाव मे सरलता या वक्रता रखने से भाषा और काया मे भी सरलता तथा वक्रता आती है।

ऋजुता अर्थात् सरलता से भाव में, भापा तथा काया मे सरलता आती है और जव इन तीनो मे सरलता आती है तव, भगवान् के कथनानुसार आत्मा में अविसवाद प्रकट होता है। आत्मा मे अविसवाद प्रकट होने से आगामी काल मे धर्म की आराधना की जा सकती है। वास्तव मे धर्म की आराधना अविसवाद से ही होती है।

जो रोगी होता है और जो रोग दूर करना चाहता है वही औपध का सेवन करता है। जो अपना रोग शान्त ही नही करना चाहता वह किसलिए औपध सेवन करेगा ? इसी प्रकार अगर तुम अपनी वक्रता दूर करना चाहते हो तो भगवान् के इस सदुपदेश को हृदय में उतारो और अमल में लाने का प्रयत्न करो। अगर तुम अपनी वक्रता दूर ही नही करना चाहते तो इस दशा मे उपदेश सुनने से क्या लाभ हो सकता है ? वालक के हृदय जैसी सरलता जव

तुम्हारे हृदय में आ जाये तो समझना कि तुमने भगवान् के धर्म को समझा है। जैसे बालक कपटरहित होकर माता-पिता के सामने सब बात खोलकर कह देता है, उसी प्रकार जो पुरुष अपना समस्त व्यवहार निष्कपट होकर करता है, वही वास्तव मे धर्म की आराधना कर सकता है। सच्ची सरलता प्रकट हुए बिना धर्म की यथावत् आराधना नहीं हो सकती।

तुम लोग माया को जीतकर सरलता प्राप्त करने के लिए हमारे पास आते हो। अतएव हमें भी विचारना चाहिए कि हम दूसरो का रोग-दूसरो की माया-तभी दूर कर सकते हैं, जब हम स्वय नीरोग हो अर्थात् मायारहित हो। अगर हम स्वय रोगी अर्थात् वक्र हुए तो दूसरो का रोग किस प्रकार मिटा सकेंगे ? वास्तव मे सरलता धारण किये बिना आत्मा का कल्याण भी नही हो सकता। अपने बुद्धिबल से या कपट से कोई दूसरो को पराजित भले ही कर सकें, मगर उससे आत्मा का कल्याण नही साधा जा सकता। आत्मा का कल्याण तो सरलता से ही हो सकता है।

हृदय मे कपटभाव रखने वाला धर्म का आराधन नही कर सकता। धर्म की आराधना तो सरल आत्मा से ही होती है। वही अपना कल्याण कर सकता है। व्यवहार में भी सरलता की आवश्यकता रहती है। स्वामी भी सरल सेवक पर प्रसन्न रहता है। जो सेवक कपटी होता है उसके प्रति स्वामी प्रेम प्रदर्शित नही करता। जब व्यवहार में भी यह बात देखी जाती है तो फिर खटपट मे पड़ा हुआ अर्थात् वक्र मनुष्य परमात्मा का प्यारा कैसे बन सकता है ? ठग लोग समझते हैं कि हम परमात्मा की आखों मे धूल झोंक

कर उसे भी ठग लेगे परन्तु आध्यात्मिकता के आगे ठग-विद्या काम नही आती। ठगविद्या मे परमात्मा को ठग लेने की मान्यता ही भ्रामक तथा आत्मविघातक है। अतएव परमात्मा की आराधना करने के लिए भाव, भाषा तथा काया की सरलता रखनी चाहिए।

कितनेक लोग वक्रतापूर्ण काम करके भी कहते हैं कि हमारा हृदय तो सरल ही है। हम काया द्वारा चाहे जैसे खराब काम करें परन्तु हमारे भावो मे किसी प्रकार की वक्रता नही है। किन्तु यह कथन भी भ्रामक और मिथ्या है। शास्त्रकार तो स्पष्ट कहते हैं - जिसके भाव मे सरलता होगी उसकी भाषा मे भी सरलता होगी और काया में भी सरलता होगी। इसके विपरीत, जिसके कार्यों मे और जिसकी भाषा मे वक्रता होगी, उसके भावो मे सरलता नही हो सकती। जो वृक्ष ऊपर से हरा-भरा दिखाई देता है, उसकी जड भी मजबूत और हरीभरी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु जो वृक्ष ऊपर से सूखा हुआ नजर आता है, उसकी जड हरी है, यह कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार जब काया और भाषा मे वक्रता होती है, तब कैसे कहा जा सकता है कि भाव में सरलता है? जब काया मे वक्रता होती है तो भाव मे भी वक्रता होती है, यह बात एक ऐतिहासिक उदाहरण देकर समझाता हूः—

बादशाह अकबर का प्रधान हिन्दू था। यह हिन्दू प्रधान मुसलमानों को शल्य की भांति चुभता था। उनका मान्यता थी कि मुसलमान राज्य मे हिन्दू प्रधान कदापि नही होना चाहिए। अतएव वे हिन्दू प्रधान के बदले किसी मुसलमान को प्रधान बनाने का प्रयत्न करते थे। जब उनका

कोई प्रयत्न सफल न हुआ तो उन्होने बेगम को भरमा कर अपनी मनोकामना पूरी करनी चाही । कुछ मुसलमान बेगम के पास पहुचे और बोले—'आपका भाई शेख हुसेन हर तरह से काबिल है, फिर भी उसे दीवान न बनाकर एक हिन्दू काफिर को सल्तनत का दीवान बनाया गया है! क्या यह ठीक कहा जा सकता है ?

बेगम मुसलमानो के भ्रमजाल में फँस गई । जब बादशाह महल मे गए तो बेगम ने तिरिया-चरित द्वारा उन्हें वचन मे बाध लिया । बादशाह ने बेगम से कहा तुम चाहती क्या हो ? जो चाहती हो, बताओ । मैं वही देने को तैयार हू ।' बेगम बोली- तुम मेरे भाई की कई बार तारीफ किया करते हो । अगर दरअसल वह होशियार है तो उसे दीवान न बनाकर एक हिन्दू काफिर को क्यो दीवान बनाया है ? बादशाह बेगम का मतलब समझ गया । उसने मन ही मन विचार किया बेगम को इस बात का यकीन करा देना चाहिए कि दरअसल उसका भाई कितना काबिल है ! इस प्रकार विचार कर बादशाह ने कहा—तुम्हारा कहना सही है । मुझसे भूल हुई कि अपने ही घर मे शेख हुसेन जैसे काबिल शख्स के होते हुए भी मैंने एक हिन्दू को सल्तनत का वजीर बना दिया ! मैं कल शेख हुसेन को बडा वजीर बना देने का इन्तजाम करूँगा ।

जब बादशाह राजमहल मे से चले गये तो वे धूर्त मुसलमान फिर बेगम के पास आए । पूछने लगे -'क्या हुआ ?' बेगम ने उत्तर दिया—'बस काम हो गया है । कल मेरा भाई शेख हुसेन प्रधान बना दिया जायेगा ।' यह सुनकर वे मुसलमान प्रसन्न हुए और कहने लगे चलो,

हिन्दू प्रधान का एक कांटा तो दूर हुआ !

दूसरे दिन बादशाह ने प्रधान से कहा—'तुमने बहुत दिनों तक प्रधान पद भोगा है। अब थोडे दिनो के लिए शेख हुसेन को यह पद दे दो।

हिन्दू वजीर ने कहा—'जैसी जहापनाह की मर्जी।'

बादशाह ने प्रधान पद शेख हुसेन को सौंपा और हिन्दू प्रधान को पृथक् कर दिया। बादशाह के इस कार्य से मुसलमान बहुत प्रसन्न हुए। मगर उन्हे पता नही था कि शेख हुसेन इस कार्य के लिए योग्य है या नही ? बादशाह को भलीभांति मालूम था कि शेख हुसेन इस पद को सुशोभित नहीं कर सकता। उन्होने सोचा शेख हुसेन को मैंने प्रधान पद सौंप तो दिया है परन्तु वह किसी दिन राज्य को भयकर हानि पहुचाएगा। अतएव ऐसा कोई उपाय करना ठीक होगा कि वह स्वय ही प्रधान पद छोडकर भाग जाये। इस प्रकार विचार कर बादशाह ने शेख से कहा रोम के बादशाह से कुछ काम है। तुम वहा जाओ और काम को इस प्रकार कर आओ जिससे मेरी प्रतिष्ठा बढे। शेख हुसेन ने बादशाह की आज्ञा शिरोधार्य की और रोम जाने की तैयारी शुरू कर दी।

शेख हुसेन रोम गया। उसने वहाँ ऐसा व्यवहार किया कि उसका अपमान हुआ। अपमानित होकर वह वापिस लौटा। वह अपने मन मे कहने लगा—मैं इस झझट मे कहा से पड़ गया। पहले मैं मौज मे था। प्रधान बनकर मुसीबत गले लगा ली। इस प्रकार सोचता-विचारता वह बादशाह के सामने आया। बादशाह ने पूछा—रोम सकुशल जा आए ? शेख हुसेन ने उत्तर मे कहा आपने मुझे खूब झझट

मे डाल दिया। वहां मेरा अपमान हुआ और जिस काम के लिए आपने भेजा था वह भी न हुआ। मुझसे यह वजारत न होगी। मेहरबानी करके यह पद वापिस ले लीजिए। बादशाह ने जवाब दिया—यह सब बात तुम अपनी बहिन से कहो।

बादशाह चाहते थे कि बेगम इन सब बातो से परिचित हो जाये और फिर कभी ऐसा प्रपच न करे। इसी कारण बादशाह ने सब बाते बेगम से कहने के लिए कहा। शेख हुसेन अपनी बहिन के पास गया और कहने लगा—'बहिन! प्रधान पद की यह मुसीबत तुमने क्यो मेरे सिर मढी! पहले मैं मजे से रहता था, अब चिन्ता ही चिन्ता मे दिन बीतता है।'

बेगम–तुम प्रधान बनाए गए तो बुरा क्या हुआ? प्रधान का हुकम तो बादशाह से भी ऊचा समझा जाता है।

शेख—बहिन! तुम्हारा कहना सही है। प्रधान का पद बडा है, यह ठीक है, मगर उसे टिकाए रखने के लिए मुझमें काबलियत भी तो होनी चाहिए। मुझमे यह काबलियत नहीं है। इसलिए किसी तरह कोशिश करके मुझे इस मुसीबत से बचाओ।

बेगम फला मुल्लाजी और फला मुसलमानो ने तुम्हें वजीर बनाने के लिए मुझ से कहा था, बल्कि जोर दिया था। उन्होने ही मुझे ऐसा करने के लिए भड़काया था। उन्हें बुलवाकर पूछ लेती हू।

जिन मुल्लाओ और मुसलमानो ने बेगम को भरमाया था, उन सब को बेगम ने अपने सामने बुलाकर पूछा–तुम

लोग मेरे भाई को वजीर बनाने के लिए कहते थे। उसे वजीर बना भी दिया गया है। लेकिन वह वजीर बने रहने के लिए तैयार नहीं है। अब क्या करना चाहिए ?

उन्होने कहा—हमारी ख्वाहिश तो यही थी कि मुसलमान सल्तनत का वजीर भी मुसलमान होना चाहिए। इसी वजह से हमने आपके भाई का नाम पेश किया था। अब अगर वह वजीर होना या रहना नहीं चाहते तो जाने दीजिए।

आखिर बादशाह ने फिर हिन्दू प्रधान को प्रधान के पद पर नियुक्त किया। बादशाह ने हिन्दू प्रधान से कहा—शेख हुसेन जो काम विगाड आया है उसे तुम सुधार आओ। बादशाह की आज्ञा शिरोधार्य करके हिन्दू प्रधान दलबल के साथ रोम गया। रोम के बादशाह को मालूम हुआ कि भारत का प्रधान आया है। रोम के बादशाह ने कहा - भारत के प्रधान का व्यक्तित्व ही क्या है ! एक प्रधान तो पहले आया था। अब यह दूसरा आया है। मिलना तो चाहिए ही।

रोम के बादशाह ने भारत के प्रधान की परीक्षा करने के लिए एक युक्ति रची। उसने अपने ग्यारह गुलामों को भी अपनी ही जैसी पोशाक पहना दी। बारहों आदमी एक समान बैठ गये, जिससे पता न लगे कि वास्तव में बादशाह कौन है। भारतीय प्रधान रौबदार पोशाक पहनकर रोम की राजसभा में गया। राजसभा पहुचकर प्रधान ने एक ही नजर में असली बादशाह को पहचान लिया और उसी को सलामी दी। बादशाह ने पूछा कि तुम मुझे बादशाह समझते हो तो ये दूसरे लोग कौन हैं ? भारत के प्रधान ने उत्तर मे कहा—हमारे यहां भारत में होली के अवसर पर

ऐसे अनेक बादशाह बनाये जाते हैं। यह लोग भी ऐसे ही बादशाह हैं। बादशाह ने फिर पूछा—यह बात तुमने कैसे जानी कि ये लोग असली बादशाह नही हैं और मैं ही असली बादशाह हू। भारत के प्रधान ने कहा—जिस समय मैं राजसभा मे दाखिल हुआ, उस समय यह मेरी पोशाक की ओर वक्र दृष्टि से देखने लगे। अकेले आप ही गम्भीर होकर बैठे रहे। आपकी गम्भीरता देखकर मैं जान सका कि वास्तव मे आप ही बादशाह हैं। यह सुनकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ। प्रधान के साथ उसने हाथ मिलाया और उसकी पीठ ठोक कर योग्यता का प्रमाण-पत्र दिया। रोम के बादशाह ने भारतीय प्रधान से शेखहुसेन के आने का जिक्र करते हुए कहा—तुम से पहले जो प्रधान आया था, वह तो बिलकुल अयोग्य था। भारतीय प्रधान ने रोम के बादशाह के मुख से शेखहुसेन की निन्दा सुन कर कहा जहापनाह! शेखहुसेन को तो आपकी परीक्षा करने भेजा था। वास्तव मे वह अयोग्य नही था। इस प्रकार भारतीय प्रधान ने अपनी प्रतिष्ठा बढाने के साथ शेखहुसेन की अप्रतिष्ठा भी दूर की।

प्रधान रोम से लौटकर बादशाह अकबर के समक्ष आया। उसने रोम का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। बादशाह सारी बातें सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने मुसलमानो को बुलाकर कहा—'वजीर हो तो ऐसा होना चाहिए!' बादशाह का कथन सुनकर मुसलमानो ने कहा—'अब हमारी समझ मे आया कि आप जो कुछ करते हैं, योग्य ही करते हैं।'

इस कथा से यह सार निकलता है कि जब भाव में सरलता आती है तब काया मे भी सरलता आती है और जब भाव में सरलता नही होती तो काय मे भी सरलता नही

होती । भाव मे वक्रता आने से काय में भी वक्रता आ जाती है । उपर्युक्त उदाहरण में हम देख चुके हैं कि नकली बादशाहो ने भी पोशाक तो असली बादशाह सरीखी ही पहनी थी, परन्तु उनके भाव वक्र होने के कारण उनकी काया मे भी वक्रता आ गई थी । इसके विपरीत बादशाह के भाव मे वक्रता न थी अतएव उसकी काया मे भी वक्रता न आई । भाव की वक्रता या सरलता का पता तो काय की वक्रता और सरलता से सहज ही लग जाता है । अत-एव भाव मे सरलता रखने के साथ काया मे और भाषा मे भी सरलता रखना आवश्यक है । अगर कोई मनुष्य काया में व्रक्रता रखकर अपने भाव सरल बतलाता है तो उसका कथन मिथ्या है ।

भगवान् ने जो सरलता का फल बतलाया है, उसे दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक कार्य मे सरलता रखनी चाहिए । गौतम स्वामी ने सरलता के विषय में प्रश्न पूछकर आत्मकल्याण करने का सरल मार्ग बतलाया है । सरलता रखना आत्म-कल्याण साधने का सरल मार्ग है । सरल बनो, कपट मत रखो; इस सीधे-सादे वाक्य मे गहरा भाव छिपा है । कपट रखने से परमात्मा प्रसन्न नही होता और न आत्मकल्याण साधा जा सकता है भगवान् ने तो स्पष्ट कह दिया है कि सरलता धारण करने वाला ही स्व-पर का कल्याण कर सकता है और कपट करने वाला अपना तथा पराया अक-ल्याण करता है । धर्म की आराधना अविसवादीपन से ही होती है और अविसवादीपन सरलता से ही प्राप्त होता है । अतएव कपट का त्याग करके सरलतापूर्वक परमात्मा की प्रार्थना करोगे तो अवश्य ही अविसवाद प्रकट कर सकोगे

तथा धर्म का आराधन करके आत्मकल्याण साध सकोगे। सरलतापूर्वक की गई परमात्मा की प्रार्थना से किस प्रकार सार्थक तथा सफल होती है, इस विषय मे एक कवि कहता है.—

अजित जिन तारजो रे, तारजो दीनदयाल, अजित०
जे जे कारण जेहनो रे, सामग्री सयोग,
मिलता कारज नीपजे रे, कर्त्तातणे प्रयोग। अजित०
कार्य सिद्धि करता वसु रे, लह कारण संयोग,
निज पद अर्थी प्रभु मिल्या रे, होय निमितय भोग। अजित०

इस प्रार्थना मे भक्त कहते हैं—हे प्रभो! तेरे सिवाय और कोई तारक नही है। परन्तु अजित जिन भगवान तभी तारते हैं, जब जीवन मे सरलता आती है, जीवन में सरलता न हुई, कपट हुआ, तो परमात्मा कैसे तार सकेगा? जीवन को तारना या डुबाना तो अपने ही हाथ में है। पारस और लोहा के बीच अगर कागज जितना थोडा–सा अन्तर रह जाये तो पारस उस लोहे को सोना कैसे बना सकता है? अगर किसी प्रकार का अन्तर रह जाने के कारण पारस लोह का सोना न बना सके तो इसमे पारस का क्या दोष है? इसी प्रकार जब तक आत्मा और परमात्मा के बीच कपट का अन्तर है तब तक आत्मा, परमात्मा किस प्रकार बन सकता है? और अजितनाथ भगवान् आत्मा को कैसे तार सकते हैं? मानव–जीवन हमे मुक्ति प्राप्त करने के साधन के रूप मे प्राप्त हुआ है अगर इस दशा में भी इस आत्मा का कल्याण नही करेंगे तो फिर कब करेंगे? अनन्त भवो के बाद अपने को ऐसी सामग्री मिली है जिसे पाकर हम परमात्मा के समीप पहुच सकते हैं। हमे यह मानव–शरीर इसीलिए मिला है कि हम आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तर दूर कर सकें। बुद्धिमत्ता इसी में है कि जो

वस्तु जिस कार्य के लिए उपयुक्त हो उसका उसी में उपयोग किया जाये। जिस कार्य का जो कारण होता है, उस कारण से वही कार्य सिद्ध हो सकता है अन्य नही। उससे अन्य कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना उस कारण का दुरुपयोग करना है। घडा बनाने के लिए मिट्टी ही लेनी पड़ती है और कपडा बनाने के लिए सूत काम में लाना पड़ता है। ऐसा न किया जाये और कपडा बनाने के लिए मिट्टी और घडा बनाने के लिए सूत काम मे लाया जाये तो कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब आत्मा का कल्याण करने का कार्य करना हो तो आत्मकल्याण-साधक सरलता को अपनाना चाहिये और पुद्गलो के प्रति निस्पृह बनना चाहिए तथा कपट का त्याग करना चाहिए। इसके विपरीत अगर यह भावना रही कि मैं किस प्रकार सुन्दर दिखाई दू, मैं धनिक कैसे बनू, या ऐसी कोई और सासारिक भावना रही और उस भावना को पूर्ण करने के लिए कपट का आश्रय लिया गया तो ऐसा करने वाले को पुद्गलानदी भले ही कहा जाये मगर आत्मकल्याण-साधक नही कहा जा सकता। ऐसा अतिशयलोलुप जीव सम्यक्त्व भी प्राप्त नही कर सकता और आत्मा का कल्याण किस प्रकार कर सकेगा ? अतएव जिस कार्य के लिये जो कारण हो उस कार्य के लिए वही कारण अपनाना चाहिए। आत्मकल्याण साधने के लिए जिन कारणो की आवश्यकता है, वे कारण हम लोगो को शुभ-क्रिया के प्रताप से-सौभाग्य से-प्राप्त हैं। अतएव परमात्मा के साथ सबन्ध जोडने का जो साधन हमें प्राप्त है, उस साधन द्वारा आत्मकल्याण कर लेना चाहिए। आत्म-कल्याण का सरल मार्ग है—सरलता धारण करना—कपट का त्याग करना।



सम्यक्त्व-पराक्रम

पांचवां भाग

उनचासवां बोल



मृदुता

शास्त्रकारो ने जगत् के जीवो को ससार सागर पार करने के लिए धर्म-नौका मे बैठने का आह्वान किया है। धर्म का अर्थ ही है—धारण करने वाला। जो पतितो का उद्धार करे, डूबने वालो को तारे, उसी को धर्म कहते हैं। यह धर्म दस प्रकार का है। धर्म के क्षमा आदि दस भेद हैं। क्षमा रखना, निर्लोभता धारण करना, सरलता रखना आदि आत्मोन्नति के मार्ग हैं। इन गुणो से क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध मे पहले विचार किया जा चुका है। जो आत्मा विनम्र होता है, वही वास्तव मे सरल बन सकता है। अतएव अब मृदुता-मार्दव या विनम्रता गुण पर विचार किया जाता है। मार्दव क्या है और उससे जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी महावोर भगवान् से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न मद्दवयाए णं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— मद्दवयाए अणुस्सियत्तं जणयइ, अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमद्दवसपन्ने अट्ठमयट्ठाणाइं निट्ठावेइ ॥४९॥

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन्! मृदुता (निरभिमानता–नम्रता) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— मृदुता से जीवात्मा अभिमानरहित होता है और निरभिमान बनने के कारण कोमल मार्दव प्राप्त करके आठ प्रकार के मदस्थानो का परित्याग करता है।

व्याख्यान

मृदुता अर्थात् विनम्रता समस्त गुणों की आधार-भूमिका है। बिना आधार के आधेय टिक नही सकता। जिस प्रकार वृक्ष आदि के लिए पृथ्वी आधारभूत है, अर्थात् पृथ्वी के सहारे के बिना वृक्ष आदि स्थिर नही रह सकते, उसी प्रकार समस्त गुणो की आधारभूमिका मृदुता अर्थात् विनयशीलता है। विनयशीलता के अभाव मे कोई भी गुण नही रह सकता। इसी कारण आर्जव के साथ मार्दव गुण भी प्राप्त करना चाहिए।

मृदुता गुण को धारण करना लाभदायक तो है ही, परन्तु मृदुता के धारण करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस बात पर विचार करना आवश्यक है।

द्रव्य और भाव से नम्रता धारण करना मार्दव अर्थात् विनयशीलता–निरभिमानता है। शरीर आदि द्रव्य में भी नम्रता होनी चाहिए और भाव मे भी नम्रता होनी चाहिये। जहा नमनभाव है वही सब गुण टिक सकते हैं। जिसमें

नम्रता होती है वही विनयशील व्यक्ति अन्य सद्गुण प्राप्त कर सकता है। कहावत है – जो नमना है वही परमात्मा को गमता (सुहाता) है। मिष्ट फल भी उसी वृक्ष मे आते हैं जिसमे नम्रता होती है। जिस वृक्ष में नम्रता नही होती, उसमे मिष्ट और सुन्दर फल भी नही लगते। आम्रवृक्ष आम लगने पर नीचे झुक जाता है और इसी कारण आम मे मिठास होती है। परन्तु एरड का पेड अकड़ा रहता है और इसी से उसके फल भी वैसे ही आते हैं। तुम्हे भी नमनभाव पसन्द है। अनम्रता तुम्हे भी पसन्द नही। आम तुम बड़ी रुचि के साथ खा जाते हो परन्तु एरड का फल खाने के लिए दिया जाये तो उसे खाना पसन्द करोगे ? जहा कोमलता होती है वही नमनभाव होता है और जहा नमनभाव होता है वहा विनय होता है। विनय-भाव सभी गुणो को अपनी ओर खीच लाता है। विनयभाव मे सद्गुणो को अपनी ओर खीच लाने की शक्ति रही हुई है।

जिस व्यक्ति मे विनय-भाव है, उसके विषय मे भगवान् कहते हैं कि विनयशील व्यक्ति मे आठ प्रकार के मदो मे से एक भी मद नही रह पाता।

मद के आठ स्थान हैं —(१) जातिमद (२) कुलमद (३) बलमद (४) रूपमद (५) तपमद (६) ज्ञानमद (७) लाभमद (८) ऐश्वर्यमद। इन आठ प्रकार के मदो का त्याग विनयशील व्यक्ति ही कर सकता है, क्योकि जीवन मे नम्रता आए बिना मदो का त्याग करना शक्य नही है।

प्रायः देखा जाता है कि लोग मामूली बात में भी अभिमान करने लगते हैं। नये बूट पहन कर लोग ऐसा

अभिमान करते हैं मानो अभिमान के मारे फूले नही समाते हैं और अगर नये बूट के साथ सुन्दर तथा नवीन वस्त्र भी पहन लिये हो तब तो कहना ही क्या है ! उस समय तो अभिमान की सीमा ही नही रहती । ऐसी दशा मे अगर वह व्यक्ति उच्च जाति मे या उच्च कुल मे पैदा हुआ हो और फिर धनसत्ता, वैभव तथा प्रभुता प्राप्त हो तब तो अभिमान का कहना ही क्या है ! परन्तु किसी का अभिमान सदा टिक नही सकता । अभिमान से सदा सर्वदा हानि ही होती है । जब राजा रावण का भी अभिमान न टिक सका तो फिर साधारण आदमी का अभिमान न टिकने मे आश्चर्य ही क्या है ? अभिमान एकान्तत हानिकारक है और इसी कारण उसे 'मद' कहते हैं । मद्य और दूध मे कितना अन्तर है ? कही-कही सरकार ने मद्य का तो निषेध किया है मगर यह नही सुना गया कि किसी सरकार ने कही दूध का भी निषेध किया है । मद्य से हानि होती है और दूध से लाभ होता है । तुम लोग शराब को ही मद्य मानते हो परन्तु ग्रन्थकार मद की व्याख्या करते हुए कहते हैं.—

बुद्धि लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ।

अर्थात्— जिस पदार्थ के सेवन से बुद्धि विकृत होती है, वे सब पदार्थ मदकारी हैं । अभिमान से भी बुद्धि विकृत होती है, अतएव वह भी एक प्रकार का मद है ।

लोगो को जाति या कुल का भी मद होता है । पर शास्त्रकार कहते हैं कि जाति, कुल वगैरह का अहकार भी एक प्रकार का मद ही कहलाता है सुज्ञ पुरुषो का कथन है कि जो जातिसपन्न और कुलसपन्न हो उन्हे नम्र तथा निरभिमान होना चाहिए । उच्च जाति वाला और उच्च

कुल वाला तो विनम्र ही रहेगा। वह अभिमान नही करेगा। इससे विरुद्ध जो अपनी जाति या कुल का अभिमान करता है, समझना चाहिए कि उसकी जाति या कुल में कुछ अतर होगा। शास्त्र मे गौतम स्वामी को जातिसपन्न और कुल-सम्पन्न कहा है। माता का वश जाति और पिता वश कुल कहलाता है। जाति या कुल उच्च होना तो पुण्य का फल है, फिर इनके लिये अभिमान क्यो करना चाहिए ? जाति-मद, कुलमद या किसी भी प्रकार का अन्य मद करना अभिमान ही है और अभिमान पाप का कारण है। तुलसीदास ने 'पाप मूल अभिमान' कह कर अभिमान को त्याज्य गिना है।

जीवन मे मार्दव गुण प्रकट होने पर जाति या कुल आदि का भी अभिमान नही रहने पाता। आत्मा में कोम-लता प्रकट होने से अनेक गुण प्रकट होते हैं। आत्मा मे एक प्रकार की कोमलता तो स्वभावत उत्पन्न होती है और दूसरे प्रकार की कोमलता प्रयत्न द्वारा आती है। अगर प्रयत्न द्वारा आत्मा मे कोमलता न आती होती तो फिर शास्त्रकार दया के द्वारा आत्मा को कोमल बनाने का उप-देश ही क्यो देते ? मार्दव गुण प्रयत्न द्वारा भी प्रकट हो सकता है। इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया कि मार्दव गुण प्रकट होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि मार्दव गुण के प्रकट होने से अहकार का नाश होता है अर्थात् आठ प्रकार के मदो मे से कोई भी मद नही रह पाता।

अहकारी या अभिमानी पुरुष दूसरो को हल्का मानता है। पर वास्तव मे बड़ा कौन है और छोटा कौन है, इस

विपय मे पूज्य श्री उदयसागर जी महाराज एक उदाहरण दिया करते थे। वह इस प्रकार है— जोधपुर मे एक छोटा पहाड़ है। उस पहाड पर किला बना है। उस किले पर चढ कर मनुष्य जब नीचे के मनुष्यो को देखता है तब उसे वे छोटे-छोटे नजर आते है। इसी प्रकार नीचे के मनुष्यो को भी ऊपर वाला मनुष्य छोटा दिखाई देता है। इस तरह जो दूसरो का छोटा या हलका समझता है, वह दूसरों से भी छोटा या हलका ही समझा जाता है। जो व्यक्ति दूसरो को समान बनाना चाहता है और यह चाहता है कि दूसरे भी उसे समान मानें तो उस दूसरो के साथ समान भूमिका पर खडा होना पडेगा। कहने का आशय यह है कि जो व्यक्ति अहंकार पर सवार है और अहंकार के कारण दूसरो को हलका मानता है उसको भी दूसरे हलका ही समझते हैं। वास्तव में महान् वही है जो नम्रता से युक्त है।

श्रीकृष्ण ने एक वृद्ध पुरुप की ईंटे उठाई थी, इससे वे क्या छोटे हो गए थे? क्या ईंटें उठाते समय उन्होने यह अभिमान किया था कि कहा मैं द्वारकाधीश और कहा यह बूढा भिखारी! उन्होने ऐसा अभिमान नही किया तो वे महान् समझे गए या छोटे? धर्मरुचि मुनि ने कीडियो की दया के लिए अपना शरीर भी त्याग दिया। उन्होने विचार किया- यह विपमय शाक खाकर कीडिया मरें, इसकी अपेक्षा मैं स्वय इसे खाकर प्राण अर्पण कर दू तो क्या हर्ज है? उन्होने विपमय शाक का आहार करते समय छोटे-बडे का यह भेद नही किया कि कहां मैं और कहां यह क्षुद्र कीडिया! उन्होने उस समय छोटे-बडे का भेद करके अभिमान किया होता तो क्या वे जगत् के समक्ष ज्वलत

जीवदया का अनुपम आदर्श उपस्थित कर सकते ? इस प्रकार सच्ची जीवदया वे ही कर सकते हैं जिनमे सच्चा मार्दव गुण होता है अर्थात् कोमलता या विनम्रता होती है। जिनमें कोमलता या विनम्रता नही होती वे प्रथम तो किसी प्राणी के प्रति दयाभाव प्रदर्शित ही नही कर सकते, कदाचित प्रदर्शित करें भी तो वह दया बनावटी और दिखावे के लिए ही होती है। सच्ची भावदया तो वही व्यक्ति कर सकता है जिसमे सच्ची मृदुता होती है। अतएव सच्ची दया करने के लिये तुम भी अहकार को जीतो और यह मानो कि सब जीव मेरे ही सरीखे हैं। दूसरो का हित करने से अपना हित होता है और दूसरो का अहित करने से अपना अहित होता है। तुम्हारे अन्त करण में ऐसी भावना दृढ होगी तो तुम भी सच्ची दया कर सकोगे। अहकार या अभिमान को जीत कर अपने आत्मा को सरल तथा नम्र वनाओगे तो तुम अपना कल्याण करने के साथ दूसरो का भी कल्याण कर सकोगे। आत्मा को सरल और नम्र बनाने से स्व-पर का कल्याण होता है।



पचासवां बोल

भावसत्य

क्षमा, निरभिमानता, ऋजुता, विनयशीलता आदि गुणों के द्वारा आत्मा सरल और शान्त वनता है, आत्मा को कर्म-मैल से शुद्ध करने के लिए ऊपर के गुण धारण करना आवश्यक है। क्षमा आदि गुण धारण करने से किस प्रकार आत्मशुद्धि होती है, यह वात पहले विचारी जा चुकी है। अव गौतम स्वामी भगवान् महावीर से यह प्रश्न करते हैं कि अन्तःकरण की शुद्धि किस प्रकार होती है और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न – भावसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—भावसच्चेण भावविसोहिं जणयइ, भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरिहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अरिहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भावसत्य (शुद्ध अन्तःकरण) से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—भावसत्य से हृदयविशुद्धि होती है और विशुद्ध अन्त करण वाला जीव ही अरिहत प्रभु द्वारा प्रतिपादित धर्म की आराधना कर सकता है और उस धर्म की आराधना मे उद्यत होकर परलोक मे भी धर्म का आराधक बनता है।

व्याख्यान

भावसत्य के सम्बन्ध मे विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि भावसत्य किसे कहते हैं ? सत्य के चार भेद हैं । एक सत्य तो सिर्फ ऊपरी होता है। यह सत्य वास्तव मे सत्य नही है । यह पहला सत्य ऊपर से तो सत्य मालूम होता है पर भीतर से सत्य रूप नही होता। दूसरा सत्य ऐसा होता है कि वह ऊपर से भी सत्य मालूम होता है और भीतर से भी सत्य ही होता है। तीसरा सत्य वह है जो भीतर से तो सत्य रूप होता है मगर ऊपर से सत्य रूप नही होता। चौथा सत्य भीतर से भी सत्य रूप नही होता और बाहर से भी सत्य रूप नही होता। फिर भी उसे सत्य कहा जाता है। सत्य के यह चार अग अर्थात् प्रकार हैं।

श्रीस्थानागसूत्र में इस विषय मे एक उदाहरण देकर समझाया गया है। एक घड़ा ऐसा होता है जिसके भीतर विष भरा होता है पर उसका ढक्कन अमृतमय होता है।

दूसरा घडा ऐसा है कि उसमे विष भरा है और उसका ढक्कन भी विषमय है । तीसरा घडा ऐसा होता है कि उसमे अमृत भरा है किन्तु उसका ढक्कन विषमय है। चौथा घडा ऐसा है कि उसमे अमृत भरा है और ढक्कन भी उसका अमृतमय है । इस उदाहरण के अनुसार सत्य के भी चार प्रकार है ।

भावसत्य के बिना आत्मा अर्हत्-प्ररूपित धर्म की आराधना नही कर सकता । श्री उपनिषद् मे भी कहा है कि विद्यापूर्वक की जाने वाली उपासना ही सच्ची उपासना है । अज्ञानपूर्वक की जाने वाली उपासना सच्ची उपासना नही है । उपनिषत्कार जिसे विद्या कहते हैं, उसे हम लोग सम्यग्ज्ञान और दर्शन कहते है । उपनिषत्कार के कथनानुसार जब तक विद्यापूर्वक उपासना नही की जाती, तब तक मोक्ष प्राप्त नही हो सकता । जैन शास्त्र मे भी कहा है:—

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गो त्ति पण्णत्तो जिणेहि वरदंसिहिं ॥

— उत्तराध्ययन, अ २८, गा. २

अर्थात्– जिनेश्वर भगवान् ने सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है । तात्पर्य यह है कि यह चारो ही मोक्ष के मार्ग हैं ।

मोक्षमार्ग का क्रम बतलाते हुए कहा गया है कि जिन्हे सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है उन्हे ही सम्यग्दर्शन होता है और जिन्हे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उन्हे ही सम्यक्-चारित्र की प्राप्ति होती है । अज्ञानी को सम्यग्दर्शन प्राप्त

नही होता और जिसे सम्यग्दर्शन ही प्राप्त नही है उसे सम्यक्चारित्र प्राप्त नही हो सकता । इस सम्बन्ध मे श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २८वें अध्ययन मे कहा है:—

नादसणिस्स नाण नाणेण विना न होंति चरणगुणा ।
अगुणि स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

अर्थात् - जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हुआ उसे सम्यग्ज्ञान भी प्राप्त नही होता और सम्यग्ज्ञान के विना सम्यक्चारित्र गुण प्राप्त नही हो सकता। सम्यक्चारित्र के अभाव मे मुक्ति नही मिलती और मुक्ति मिले बिना निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती ।

इस कथन से यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है या सम्यग्दर्शन ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निश्चय मे तो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एक ही साथ होती है परन्तु व्यवहार मे बोलने के क्रम से पहले सम्यग्ज्ञान बोला जाता है। वास्तव मे तो दोनो एक ही साथ उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—सूर्योदय होने पर प्रकाश पहले होता है या प्रताप ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकाश और प्रताप दोनो एक साथ ही सूर्य मे से निकलते हैं क्योकि जिन किरणो से प्रकाश निकलता है उन्ही किरणो से प्रताप निकलता है। फिर भी बोलने मे पहले प्रकाश और फिर प्रताप बोला जाता है। इसी प्रकार जब ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम होता है और मिथ्यात्वमोहनीय का उदय होता है तब मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु जब ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के साथ मिथ्यात्वमोहनीय का भी क्षयोपशम होता है तब सम्यग्ज्ञान

और सम्यग्दर्शन एक ही साथ उत्पन्न होते हैं सिर्फ बोलने के क्रम मे पहले सम्यग्ज्ञान और फिर सम्यग्दर्शन बोला जाता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र प्राप्त होने से ही मोक्ष मिलता है।

कहा जा सकता है कि सम्यक्चारित्र तो संयम धारण करने से ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को भिन्न-भिन्न कहा है। ऐसी स्थिति में जिन्होने सयम धारण नही किया, उन्हे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर भी मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? इस कथन का उत्तर यह है कि जिसमे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है, वह व्यवहार मे भले ही सयम धारण न कर सका हो अर्थात् चारित्र धारण न कर सका हो, फिर भी उसमे भाव से चारित्र का अश होता ही है। व्यवहार मे सयम न धारण करने पर भी जिनका आत्मा निज गुणो मे रमण करता है, उनमें भावचारित्र होता ही।

सयम की तरह सत्य भी दो प्रकार का होता है—व्यावहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक सत्य ही भावसत्य कहलाता है। भावसत्य होने पर ही भावशुद्धि हो सकती है। पारमार्थिक सत्य किसे कहते हैं, यह बात समझाने के लिये श्री आचारागसूत्र मे कहा है—

समय ति मण्णमाणे समया वा असमया वा समया होइ त्ति उविवहाए।

अर्थात्—जिसे तू सत्य मानता है अर्थात् जिस विषय में तेरे हृदय मे किसी प्रकार का सदेह नही है वह तेरे लिये सत्य रूप ही है।

इस प्रकार का आध्यात्मिक सत्य (भावसत्य) अपनाने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। भावसत्य को अपनाये बिना नौ पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करने वाले ज्ञानी भी आत्मकल्याण साधे बिना ही रह जाते हैं । ऐसे ज्ञानीजनो के उपदेश से धर्मोन्मुख हुए लोग तो मोक्ष पा लेते हैं परन्तु भावसत्य न अपनाने के कारण वे ज्ञानी जैसे के तैसे ही रह जाते हैं। इससे भावसत्य की महिमा समझ मे आ सकती है।

भावसत्य को अपनाने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—भावसत्य द्वारा भाव की विशुद्धि होती है अर्थात् चित्त की शुद्धि होती है। भावविशुद्धि द्वारा जीवात्मा अर्हन्त-प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है । जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है वह अर्हन्त भगवान् है । अर्हन्त भगवान् द्वारा जिस धर्म की प्ररूपणा की गई है वह धर्म अर्हन्त प्ररूपित धर्म कहलाता है। जब भावसत्य द्वारा भावशुद्धि होती है, तभी अर्हन्त प्ररूपित धर्म की आराधना हो सकती है। चित्त की शुद्धि ही धर्माराधना का मार्ग है । श्रावक-श्राविका जो धर्मकार्य करते हैं, उसका उद्देश्य चित्त की शुद्धि करना ही है। अतएव धर्म की आराधना करने के लिए चित्तशुद्धि करना आवश्यक है ।

जो बात हम जान या देख नही सकते, भगवान् उसे भी जानते हैं । अगर कपटपूर्वक सत्य बोला जाये तो भगवान् की दृष्टि मे ऐसा सत्य भी असत्य ही है । इससे विपरीत कपटरहित सरल भाव से बोला गया असत्य भी सरल आत्मा की दृष्टि से सत्य ही है ।

कहने का आशय यह है कि जीवन मे भावसत्य को अपनाने से ही चित्त की शुद्धि होती है और चित्त की शुद्धि

से ही अर्हन्त–प्ररूपित धर्म की आराधना हो सकती है। धर्म की आराधना करने से किसी भी समय कष्ट उत्पन्न नही होता। कदाचित् कोई कष्ट उत्पन्न भी हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह धर्म की आराधना के कारण उत्पन्न हुआ है। शक्कर कदापि कड़ुवी नही हो सकती, परन्तु किसी कारण से अगर शक्कर कड़ुवी लगे तो यही कहा जा सकता है कि वह कड़ुवापन किसी और वस्तु का होगा जो शक्कर मे मिल गई है। भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि जिनमे भावसत्य होता है उनके भावो मे विशुद्धता आती है और जिनमे भावो की विशुद्धता होती है वही धर्म की भलीभांति आराधना कर सकते है। इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म की भलीभांति आराधना करता है, वही परलोक की भी आराधना कर सकता है।

अरिहत भगवान् ने जो कुछ कहा है वह पूर्ण रूप से तभी समझ मे आता है जब हृदय के भाव शुद्ध बनते हैं। मैंने जो भी कोई ग्रन्थ या शास्त्र देखे या समझे है, उन सब मे प्रधान रूप से चित्त को शुद्ध करने की ही बात आई है। समस्त शास्त्रकारो ने तथा नीतिकारो ने चित्तशुद्धि को प्रधानता दी है ऐसा मैंने समझा है। भगवान् महावीर ने तेरह बोलो का अभिग्रह किया था। भगवान् का अभिग्रह क्या है, यह बात साधारण लोग समझ नही सकते थे। किन्तु भगवान् का चित्त शुद्ध था, अतएव वे चन्दनबाला की आंख मे आंसू न देखने से और इस प्रकार अपने अभिग्रह की पूर्ति मे एक बोल की कमी होने के कारण चन्दनबाला के द्वार पर जाकर वापिस लौट गए थे। सीताजी का चित्त शुद्ध था। इसी कारण उन्होने सहर्ष कष्ट सहन

करना स्वीकार किया परन्तु राम के सिवाय अन्य पुरुष को पति के रूप मे स्वीकार नही किया । अगर सीताजी का चित्त शुद्ध न होता तो वह इस प्रकार कष्ट सहन करने के लिये तैयार न होती । इस प्रकार चित्तशुद्धि, भावशुद्धि या आत्मशुद्धि को सभा ने महत्व दिया है । आत्मशुद्धि का महत्व कितना अधिक है, यह बात केशी-गौतम के सवाद में स्पष्ट रूप से बतलाई गई है। केशी कुमार स्वामी आत्मा की स्थिति बतलाते हुए गौतम स्वामी से पूछते हैं -

अणेगाण सहस्साण मज्झे चिट्ठसि गोयमा ।
ते य ते अहिगच्छति कह ते निज्जिया तुमे ॥

— उत्तरा० २३-३५

अर्थात् हे गौतम ! हजारो वैरियो के बीच मे तुम निवास कर रहे हो, वे तुम्हारे सामने जूझ रहे हैं, तुम उन सब को किस प्रकार जीत सकते हो ?

केशी स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर मे गौतम स्वामी ने बतलाया -

रागे जिए जिया पच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ता ण, सव्वसत्त जिणामि ह ॥

अर्थात्– मैं सिर्फ एक (आत्मा) को जीतने का सतत प्रयत्न करता हूं, क्योकि उस एक को जीतने से पांच और पाच को जीतने से दस और दस को जीतने से समस्त शत्रुओ पर विजय प्राप्त हो जाती है ।

गौतम स्वामी का उत्तर सुन कर केशी स्वामी ने फिर प्रश्न किया— हे गौतम ! तुम शत्रु किसे कहते हो ? और एक को जीतने से पाच पाच को जीत लेने से दस तथा दस को जीत लेने से समस्त शत्रु जीत लिये जाते हैं,

यह सब तुम किसके विपय में कहते हो ? इस प्रश्न के उत्तर मे गौतम स्वामी ने कहा—

एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इदियाणि य ।
ते जिणित्ता जहानायं विहरामि अह मुणी ॥

अर्थात्— हे मुनि ! एक (मन की दुष्प्रवृत्ति के आधीन बना हुआ) जीवात्मा अगर जीता न जाये तो वह शत्रु है। (आत्मा को न जीतने से कषायो की उत्पत्ति होती है।) इस शत्रु के प्रताप से चार कषाय भी शत्रु हैं और पाच इन्द्रियां भी शत्रु हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण शत्रुपरम्परा को जैन शासन के न्याय के अनुसार जीत कर मैं शान्तिपूर्वक विहार करता रहता हू ।

क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषाय हैं। इनकी न्यूनाधिकता-तरतमता के कारण कषाय के सोलह भेद होते हैं। दुष्ट मन भी शत्रु है । पांच इन्द्रियो का असत् वेग होने से यह भी शत्रुओ जैसा काम करती हैं । मगर इन सब का मूल एक मात्र दुरात्मा है । अतएव दुरात्मा को जीत लिया जाये तो सरलता के साथ सब को जीता जा सकता है। जैन शास्त्रो की नीति के अनुसार बाहर के युद्ध की अपेक्षा आत्मयुद्ध करना उत्तम है । क्षमा, दया, तपश्चर्या और त्याग आत्मयुद्ध के शस्त्र हैं। इन्ही शस्त्रों से कर्मशत्रु नष्ट होता है ।

गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा है वही अनाथी मुनि ने भी राजा श्रेणिक से कहा था। अनाथी मुनि ने श्रेणिक राजा से कहा था- दु ख और सुख, नरक और स्वर्ग तथा शत्रु और मित्र आत्मा ही है; दूसरा नही । अगर हमारा

आत्मा शुद्ध है तो समस्त वस्तुये शुद्ध स्वरूप मे दिखाई देंगी । आत्मा अगर अशुद्ध हुआ तो किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वरूप नही देखा जा सकता । कूटशाल्मली वृक्ष, वैतरणी नदी अथवा कामधेनु गाय या नन्दन वन अर्थात् समुच्चय रूप मे तमाम सुख और दुःख अथवा स्वर्ग या नरक, अपना आत्मा ही है। यह तथ्य भलीभाति समझने के कारण ही ज्ञानीजन सुख के समय फूल कर कुप्पा नही हो जाते और दुःख के समय घबरा नही जाते वे समभाव ही रखते हैं। ज्ञानीजनो का कथन है कि जब नरक या कूटशाल्मली वृक्ष के दुःख अपनी आत्मा मे से ही उत्पन्न होते हैं तो फिर नरक या शाल्मली वृक्ष को खराब क्यो कहा जाये ? अगर हम अपनी आत्मा को जीत लें तो यह दुःख हमारे पास ही नही फटक सकते । एक आत्मा को भलीभाति जीत लेने से समस्त दुःख जीते जा सकते हैं । आत्मा को न जीतने की हालत मे दुःखो का टूट पडना स्वाभाविक है । दुःख दूर करने के लिए आत्मा को जीतना आवश्यक है ।

सूर्य और दीपक--दोनो प्रकाश देते हैं । सूर्य स्वतन्त्र रूप से प्रकाश देता है परन्तु दीपक तेल देने पर ही प्रकाश दे सकता है । दीपक मे तेल न दिया जाये तो वह बुझ जाएगा । ज्ञानीजनो का कथन है कि हमारा आत्मा सूर्य से भी अधिक स्वतन्त्र है । आत्मा जब तक परतन्त्र है तभी तक वह दुःखी है । अगर वह परतन्त्र न बने तो उसे किसी भी प्रकार का दुःख उत्पन्न नही हो सकता ।

गौतम स्वामी का कथन सुनकर केशी स्वामी ने कहा- आपने मेरे प्रश्नो का जो उत्तर दिया है वह समीचीन है । मेरे कहने का आशय भी यही था । आप वास्तव मे

जितात्मा है । आपने क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चतुर्विध कषायो को जीत कर आत्मा पर विजय प्राप्त की है । द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा, इन आठ प्रकार की आत्माओ मे से केवल एक कषायात्मा को जीत कर आपने आत्मविजय प्राप्त की है । वास्तव में कषाय ही ससार है, क्योकि चार कषाय ही ससार को बढाने वाले है । जो व्यक्ति चार कषायो को जीत लेता है वही आत्मविजय प्राप्त करके ससार का उच्छेद कर सकता है ।

सुना जाता है कि यूरोप मे युद्ध की तैयारियां हो रही हैं । पाश्चात्य लोग युद्ध की तैयारी कर रहे है तो तुमने भी क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी आन्तरिक शत्रुओ को जीतने की तैयारी की है या नही ? बाह्य युद्ध की अपेक्षा आन्तरिक युद्ध करना उचित है । बाह्य युद्ध करने में मान व हिंसा, रक्तपात तथा धन-जन की हानि तो होती ही है, साथ ही दूसरो को लूटने को, पददलित करने की मनोवृत्ति-वैरवृत्ति भी हृदय मे उत्पन्न होती है । ज्यो-ज्यो वैरवृत्ति बढती जायेगी, त्यो-त्यो ससार मे अशाति का साम्राज्य बढता जायेगा और परिणाम यह होगा कि ससार मे सुख और शाति अदृश्य हो जाएगी । इससे विपरीत अगर वैरवृत्ति का त्याग करके क्रोध, मान, माया और लोभ को, जिनके कारण संसार मे विध्वंसकारी विप्लव जागता है, जीतने के लिए कषायात्मा के साथ दया, क्षमा आदि अहिंसात्मक शस्त्रो द्वारा आन्तरिक युद्ध किया जाये तो दूसरो को लूटने को, पददलित करने की जो मलीनवृत्ति है, उस पर विजय प्राप्त किया जा सकता है । वैर पर

विजय प्राप्त करने से आत्मशाति तो मिलेगी ही, विश्व में भी शाति स्थापित हो जाएगी। विश्व मे सुख-शाति स्थापित करने के लिए दया, क्षमा आदि अहिसात्मक साधनो द्वारा कषायात्मा को जीतना ही एकमात्र अमोघ मार्ग है। आज "शठ प्रति शाठ्यम्" अर्थात् वैर का बदला वैर से लेने की नीति प्रयोग मे लाई जा रही है। मगर इस प्रकार के वैर-युक्त व्यवहार से ससार में कदापि सुख-शाति की स्थापना नही हो सकी है और न हो सकती है। क्योकि शान्ति स्थापित करने का यह मार्ग ही नही है। शान्ति स्थापित करने का सच्चा और अमोघ मार्ग तो "शठ प्रत्यपि सत्यम्" अर्थात् वैर का बदला भी क्षमा से देना है। विश्वशाति की स्थापना तो तभी हो सकती है जब थप्पड का बदला भी क्षमा से दिया जाये। शास्त्रकार तो बहुत प्राचीन समय से ही पुकार-पुकार कर यह बात कह रहे हैं, परन्तु अब गाधीजी जैसे राजनीतिज्ञ भी यही कहते हैं। दूसरो को शाति पहुंचाने से ही शाति प्राप्त हो सकती है। दूसरो को अशांत करके स्वयं शाति की अभिलाषा करने से शाति नही मिल सकती। अशाति बढाने से शाति नही वरन् अशाति ही फैलेगी।

सन् १९१४ मे अग्रेजो और जर्मनो के बीच महायुद्ध हुआ था। कहा जाता है कि इस युद्ध में अग्रेजो ने जर्मनो को पराजित किया था और शाति स्थापित की थी। परन्तु वह शाति राख ढकी अग्नि के समान किस प्रकार उत्पात मचाने वाली थी, यह आज प्रत्यक्ष देखा या सुना जा सकता है। इस घटना से इतना सार अवश्य निकलता है कि शस्त्र-बल से किसी को थोडे समय के लिए भले ही पराजित कर दिया जाये परन्तु ऐसा करने से शाति स्थापित नही हो

सकती। जब तक हृदय में से वैरवृत्ति नही निकल जाती तब तक अशाति नही मिट सकती। अशाति को दूर करना आवश्यक है। दूसरो को शाति पहुंचाने से ही शाति उत्पन्न हो सकती है। वैर का बदला वैर से लेने से तो वैर ही बढता है। अतएव वैरवृत्ति का विनाश करने के लिए तथा विश्व मे शाति की स्थापना के लिए कषायात्मा को जीतना अनिवार्य है। जो आत्मा मैत्रीपूर्ण आचार और विवेकपूर्ण विचार द्वारा कषाय को जीतने का प्रयत्न करता है, वह कषाय को जीत सकता है और विश्व मे शाति भी स्थापित कर सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि किस प्रकार जाना जा सकता है कि हमने कषाय को जीत लिया है ? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही दिया जा सकता है कि अपने व्यवहार से ही पता लग सकता है कि वास्तव मे हमने कषाय को जीत लिया है या नही।

आचार और विचार के एकीकरण से ही इष्ट कार्य की सिद्धि होती है। निश्चय और व्यवहार मे आचार तथा विचार एक ही होना चाहिए। महापुरुषो की मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृति एक ही प्रकार की होती है।

मनस्येकं वचस्येकं कार्येचैकं महात्मनाम्।

अर्थात् महात्माओ के मन मे, वचन मे तथा कार्यो मे एक ही सरीखी प्रवृत्ति होती है।

जो व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लेता है, उस व्यक्ति का व्यवहार सरल बन जाता है निश्चय मे जो कषाय-विजयी होता है वह व्यवहार मे भी

कषायजित कहलाता है । गौतम स्वामी के व्यवहार से ही केशी स्वामी ने उन्हे जितात्मा तथा कषायविजयी कहा था। गौतम स्वामी का निश्चय व्यवहार में न उतरा होता तो केशी स्वामी उन्हें कषायविजयी के रूप मे किस प्रकार पहचान सकते थे ? गौतम स्वामी के व्यवहार ने ही प्रकट कर दिया कि उनमे क्रोध, मान, माया, लोभ नही है । जो निश्चय मे होता है वही व्यवहार मे आता है । व्यवहार से ही निश्चय का पता लगता है । जब कोई वृक्ष ऊपर से हरा-भरा दिखाई देता है तो उसकी जड भी हरी-भरी होने का अनुमान किया जा सकता है । इसी प्रकार व्यवहार से निश्चय का अनुमान किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त निश्चय के साथ व्यवहार की भी आवश्यकता रहती है । केवल निश्चय या केवल व्यवहार को पकड कर बैठ जाने से काम नही चल सकता। निश्चय और व्यवहार दोनो से ही इष्ट कार्य सिद्ध होता है। वर्षा हो मगर बीज या अकुर न होगा तो क्या उगेगा ? इसी प्रकार बीज या अंकुर हो मगर वर्षा न हो तो भी अकुर कैसे बढेगा ? वर्षा हो और बीज भी हो, तभी अकुर उग सकता है । इसी तरह निश्चय और व्यवहार दोनो से ही काम चल सकता है । किसी एक से नही ।

संसार मे अनेक मत मतान्तर हैं। इन मत मतान्तरो की विपुलता के कारण लोगों की बुद्धि चक्कर मे पड गई है । पर हमे तो वही मानना चाहिए जो केशी स्वामी और गौतम स्वामी ने कहा है। हमे वही बात मान्य होनी चाहिए जो वीतराग प्रभु सर्वज्ञ तीर्थंकर ने बतलाई है । अगर कोई बात हमारी समझ मे न आवे तो भी अपने हृदय मे ऐसा

दृढ विश्वास होना चाहिए कि—

तमेव सच्च निस्सकियं ज जिणेहिं पवेइयं—एवं सद्दह-माणा, एवं पत्तयमाणा एवं रोयमाणा, देवाणुप्पियाणं आणाए आराहिय भवइ ?

हंता गोयमा ! भवइ ।

अर्थात्—कदाचित् कोई बात अपनी बुद्धि मे न आती हो तो उस पर हृदय मे ऐसा दृढ विश्वास होना चाहिए कि वीतराग जिन भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह सत्य है और उसके विषय मे मुझे किसी भी प्रकार का सदेह नही है। मैं उनके कथन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखता हू। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा - इस प्रकार कह कर जो आपके वचन पर श्रद्धा रखता है वह आराधक है ? भगवान् ने उत्तर दिया—हाँ, गौतम ! वह जीव आराधक है। इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह अपनी बुद्धि में न आये तो भी उनके कथन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा आत्मा को प्रकाशित करने वाली दीपिका है— आत्मा को ज्योतिर्मयी बनाने वाला दिव्य दीपक है।

कहने का आशय यह है कि चित्त की शुद्धि अथवा भावविशुद्धि का महत्त्व केशी महाराज तथा गौतम स्वामी ने भी बतलाया है। अतएव भावसत्य द्वारा चित्त की शुद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। ससार मे सयोग तो अनेक प्रकार के प्राप्त होते हैं परन्तु उन सयोगो के कारण अपने भावों मे अशुद्धता नही आने देना चाहिए। विषम संयोग प्राप्त होने पर भी अजना सती की भाति चित्त को शुद्ध रखना चाहिए।

भावसत्य का फल बतलाते हुए भगवान् ने बतलाया है कि भावसत्य से हृदय की शुद्धि होती है । भावविशुद्धि से करण और योग की विशुद्धि होती है। इस प्रकार विशुद्ध अन्त करण वाला जीवात्मा अर्हत्प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है और जो अर्हत्प्ररूपित धर्म की आराधना करता है वही परलोक मे धर्म की आराधना कर सकता है ।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि अर्हत्-धर्म की आराधना और पर-लोक की आराधना क्या भिन्न-भिन्न है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहा दोनो को भिन्न कहकर लक्षण द्वारा दोनो का सम्बन्ध बतलाया गया है। इस लक्षण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि अर्हत् धर्म की आराधना आस्तिक ही कर सकता है । जो आस्तिक नही है—नास्तिक है, वह अर्हत्-धर्म की आराधना नही कर सकता ।

भगवान् महावीर के युग मे भी अनेक नास्तिक थे और आजकल तो इस मत की बहुत प्रबलता हो गई है । आधुनिक भौतिक विज्ञानवेत्ता भी कहते है कि पांच भूतो के सम्मिलन से जीवन पैदा होता है और जब पांचो भूत बिखर जाते हैं तो मृत्यु हो जाती है । कोई आत्मा न पर-लोक मे जाता है, न परलोक से आता है। आत्मा जब तक रहता है तभी तक जीवन है और उसी का टूट जाना मृत्यु है । भृगु पुरोहित के पुत्र देवभद्र तथा यशोभद्र जब सयम धारण कर रहे थे, तब उसके पिता भृगु ने कहा था—

जहा य अग्गी अरणी असतो,
खीरे घयं तेल्लमहातिलेसु ।

एमेव ताया ! सरीरसि सत्ता,
समुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥

अर्थात्––जैसे अरणि में अग्नि, दूध में घी और तिल मे तेल प्रत्यक्ष से न दिखाई देने पर भी संयोगवल से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार, हे बालको ! पचभूतात्मक शरीर में से जीवात्मा उत्पन्न होता है और शरीर के नाश के साथ ही वह नष्ट हो जाता है। शरीर का नाश होने के पश्चात् चेतन नही रहता। (तो फिर धर्म किस लिए ? और संयम लेने की क्या आवश्यकता है ?)

चार्वाक मत का कथन है कि पाच महाभूतो से ही कोई शक्ति उत्पन्न होती है और शरीर के साथ ही वह क्षीण हो जाती है। परन्तु वास्तव मे चेतना शक्ति का क्षय कभी हो ही नही सकता। अरणि मे अग्नि, दूध मे घी, और तिल मे तेल भले ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न हो तथापि वह अव्यक्त रूप से रहता अवश्य है इसी प्रकार शरीर धारण करते समय कर्म से लिप्त चेतन तत्त्व विद्यमान होता है और शरीर क्षीण होने पर दूसरे शरीर मे चला जाता है। पिता के कथन के उत्तर मे पुत्रो ने कहा था:––

नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो,
ससारहेउं च वयति बधं ॥

— उत्तरा०, १४, १९

अर्थात्–– पिताजी ! आत्मा अमूर्त होने के कारण इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता और अमूर्त होने

के कारण ही वह नित्य भी है । आत्मा यद्यपि नित्य है, तथापि जीवात्मा में अज्ञान आदि दोष मौजूद होने के कारण वह कर्मों से बद्ध होता है । यह बधन ही संसार-परिभ्रमण का कारण हैं, ऐमा महापुरुषो का कथन है ।

जितने अमूर्त्त द्रव्य है, सभी नित्य हैं। आकाश अमूर्त्त है तो वह नित्य है। परन्तु आकाश द्रव्य मे जीव की तरह पर-सयोग से परिणमन नही होता, जब कि जीवात्मा (कर्म-बद्ध आत्मा) कर्म के वश होकर छोटे-बडे आकारो मे परिणत होता है और उच्च-नीच गतियो मे गमन करता है।

आत्मा अमूर्त्त होने से इन्द्रियग्राह्य नही है। इंद्रियां एक-एक विषय को ही ग्रहण करती हैं । जो विषय जिस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, उस विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नही कर सकती । सुनने का काम कान और देखने का काम आँख ही कर सकती है अगर कोई व्यक्ति सुनने के लिए कान बन्द करके आख खुली रखे अथवा देखने के समय आंख बन्द करके कान खुला रखे तो वह सुन या देख नही सकता। कारण यही है कि इन्द्रिया अपने-अपने विषय को ही ग्रहण कर सकती हैं। परन्तु आत्मा सब के विषय को ग्रहण कर लेता है और आत्मा होने के कारण ही इन्द्रिया अपने-अपने विषय को ग्रहण करने मे शक्तिमान् होती हैं । आत्मा जब शरीर मे से निकल जाता है तो इन्द्रिया शरीर मे रहती हुई भी अपने विषय को ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाती हैं । मृत व्यक्ति की इन्द्रिया मृतक शरीर मे मौजूद तो रहती है, लेकिन आत्मा के अभाव मे वह काम नही कर सकती । इससे यह भलीभाति सिद्ध हो जाता है कि आत्मा की मौजूदगी मे ही इन्द्रियां अपना

विषय ग्रहण कर सकती है। इस प्रकार आत्मा सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियो का स्वामी है।

आत्मा की विद्यमानता में ही प्रत्येक काम हो सकता है। राजा भी तभी तक दण्ड दे सकता है जब तक शरीर में आत्मा है। आत्मा के निकल जाने पर राजा भी शरीर को दण्ड नही देता। आत्मा-विहीन शरीर या तो भस्म कर दिया जाता है या जमीन मे गाड दिया जाता है।

पुरोहित के पुत्र कहते है— आत्मा स्थूल आंखो से देखा नही जा सकता। वह अन्य इन्द्रियो द्वारा भी नहीं जाना जा सकता। वह आत्मा अमूर्त्त है। अमूर्त्त आत्मा मूर्त्त इन्द्रियो द्वारा किस प्रकार जाना जा सकता है? आत्मा भले ही इन्द्रियग्राह्य नही है, फिर भी उसका अस्तित्व मानना पडता है। आत्मा को माने बिना काम नही चल सकता। परन्तु बहुत से नासमझ लोग नास्तिको की कल्पित बातो मे इसलिए फँस जाते हैं कि आत्मा न मानने से दान, धर्म, तप, शील आदि कुछ भी नही करना पडता और जीवन विषयभोग मे व्यतीत हो जाता है। इस प्रकार विषयानन्द मे फँस कर लोग नास्तिकता स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु जिन महापुरुषो ने विषयसुख तथा ससार-सम्पदा का त्याग किया है उन पर अविश्वास करके आत्मा को स्वीकार न करना और जो विषयसुख के दास बने हुए हैं उनके कथन पर विश्वास करके, विषयलोलुप बनकर जीवन को नष्ट भ्रष्ट करना कहा तक उचित है? इस प्रश्न पर गम्भीर विचार करना आवश्यक है।

देवभद्र और यशोभद्र अपने पिता भृगु पुरोहित से कहते हैं-पिताजी! आप आत्म-तत्त्व को भूल कर ही ऐसा

कह रहे हैं कि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न नही हैं किन्तु दूध में घी की तरह शरीर मे ही जीवनशक्ति है। सचाई यह है कि आत्मा और शरीर तलवार तथा म्यान की तरह जुदा-जुदा हैं। तलवार और म्यान अलग-अलग हैं फिर भी तलवार म्यान मे रहती है। इसी प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं पर आत्मा शरीर मे रहता है। आत्मा अमूर्त्त तथा अविनाशी है। शरीर मूर्त्त और विनश्वर है। आत्मा अजर-अमर और शरीर क्षीण होने वाला है।

प्रश्न हो सकता है कि अगर आत्मा अमूर्त्त और अविनाशी है तो मूर्त्त और विनश्वर शरीर के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार हुआ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मिथ्यात्व आदि कारणो से ही आत्मा जन्म धारण करता है और मरता है। आत्मा का जैसा अध्यवसाय होता है, वैसा ही उसका जन्म-मरण होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा ही आत्मा को उत्पन्न करता और मारता है, परन्तु गम्भीर विचार करने पर यह कथन किसी भी प्रकार ठीक और युक्तिसगत नहीं जान पडता। इस सबध मे गीता मे भी स्पष्ट कहा है:—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥

अर्थात्— परमात्मा कर्त्ता नही है, कर्म कराता नही है, लोक का सर्जन करता नही है और न किसी को दण्ड ही देता है। यह सब स्वभाव से ही होता है। जैसे मुह मे मिर्च डालने से चरपराहट लगती है और शक्कर डालने से मिठास मालूम होती है, उसी प्रकार कर्म का फल भी

स्वभावत. मिलता है। परमात्मा कर्म का फल देने या जन्म-मरण कराने के झगड़े मे नही पडता । ऐसा होने पर भी कुछ लोग परमात्मा या काल आदि पर सारी जिम्मेदारी डाल कर कहते हैं—हम क्या करे ? काल ही ऐसा आ गया है। परमात्मा ने ही यह सब किया है। परन्तु इस प्रकार परमात्मा या काल आदि पर बोझा डालना अज्ञान है।

शास्त्र कहता है कि तुम्ही कर्म के कर्त्ता और तुम्हीं कर्म के भोक्ता हो। तुम स्वय अपना सुधार या बिगाड कर सकते हो। स्वभाव, काल आदि की सहायता तुम्हारे कार्य में अपेक्षित अवश्य है परन्तु कर्म के कर्त्ता तो तुम स्वय हो। तुम पुरुषार्थ करोगे तो तुम्हारे कार्य मे काल आदि की सहायता भी तुम्हे मिलेगी। कहावत है—"हिम्मते मरदां मददे खुदा।" इस कहावत का आशय यह है कि तुम हिम्मत रखोगे तो दूसरो की सहायता भी तुम्हे मिल जायेगी। हा, तुम पुरुषार्थ या प्रयत्न नही करोगे तो दूसरो की सहायता से वंचित रहोगे। अतएव अपना उत्तरदायित्व दूसरों पर मत डालो। अपना काम आप ही करना होगा।

पुत्रो का युक्तिसगत कथन सुन कर भृगु पुरोहित समझ गया। भृगु पुरोहित ने तथा उसकी पत्नी ने देवभद्र और यशोभद्र को सयम ग्रहण करने की सहर्ष अनुमति दी। इतना ही नही, किन्तु स्वय भी सयम ग्रहण करके आत्म-कल्याण किया। शास्त्रकारो ने यह घटना शास्त्र में सुरक्षित रखी। इस घटना से सार ग्रहण करके तुम भी आत्मसुधार करके आत्मकल्याण करो।

कहने का तात्पर्य यह है कि आस्तिक ही अर्हत्-प्ररूपित

धर्म की आराधना करता है वही वास्तव मे आस्तिक है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने भावसत्य को ही धर्म की आराधना का मूल कारण बतलाया है। अतएव धर्म की आराधना करने के लिए भावसत्य को जीवन मे स्थान दो और हृदय की शुद्धि करो ' इसी मे आत्मा का कल्याण है।



इक्यावनवाँ बोल

करणसत्य

पिछले बोल मे भावसत्य का विचार किया गया है। भावसत्य से होने वाले लाभ के विषय मे भगवान् ने कहा है—भावसत्य से जीवात्मा भावविशुद्धि प्राप्त करता है और भावविशुद्धि से करण तथा योग की भी विशुद्धि होती है। अब गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं कि करणसत्य क्या है ? और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? प्रश्नोत्तर यह है :—

मूलपाठ

प्रश्न—करणसच्चेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—करणसच्चेण करणसत्ति जणयइ । करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहा कारी यावि भवइ ॥५१॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! करणसत्य से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—करणसत्य (सत्य प्रवृत्ति करने) से सत्य क्रिया करने की शक्ति उत्पन्न होती है और सत्यप्रवृत्ति मे स्थित जीवात्मा जैसा कहता है वैसा ही करता है।

व्याख्यान

करण का सामान्य अर्थ है—साधन। कर्त्ता जिस साधन की सहायता से क्रिया करता है उस साधन को 'करण' कहते हैं। जैसे कुम्भार चाक की सहायता से घडा बनाता है, अतएव चाक करण है। इसी प्रकार इन्द्रिया भी करण हैं। कर्त्ता इन इन्द्रियो से जैसा चाहे वैसा काम ले सकता है। आत्मा (कर्त्ता) ससार की वृद्धि करने मे भी इन्द्रियो का उपयोग कर सकता है और ससार से मुक्त होने मे भी उपयोग कर सकता है।

आज लोग साधारण कलम के लिए भी परतन्त्र हो रहे है। प्राचीन समय मे बरू की कलम बनाई जाती थी, मगर अब तो होल्डर और फाउन्टेनपेन का प्रचार बढ गया है। लोग समझते हैं कि सुभीते के साधन बढ जाने से हम सुखी हो गए हैं पर वास्तव में इन साधनो द्वारा सुख नही बढा, परतन्त्रता ही बढी है और खर्च भी बढ गया है। पहले बरू की कलम बनाने मे कितना कम खर्च होता था? मैं जब ससारावस्था मे था तो बाजार से कुछ बरू खरीद लाया था। मैं जब तक ससारावस्था मे रहा तब तक वे बरू काम मे आते रहे और जो बचे वे मेरे दीक्षा के बाद दूसरो के काम आये होगे। इस प्रकार पहले थोड़े से खर्च मे काम चल सकता था और परतन्त्रता भी नही भोगनी पड़ती थी।

जैसे लिखने के लिए कलम करण है, उसी प्रकार कलम बनाने के लिए चाकू करण है । तुम लोग बम्बई जाते हो । जिस साधन से तुम बम्बई जाते हो वह साधन चाहे रेलगाडी हो, मोटर हो या हवाई जहाज हो, करण है । इसी तरह आत्मा के लिए इन्द्रिया करण हैं । आत्मा चाहे तो इन्द्रियो द्वारा ससारवृद्धि भी कर सकता है और चाहे तो ससार से मुक्त होने के काम भी कर सकता है ।

भगवान् कहते हैं– करणसत्य से करण मे सत्यता आती है और जब करण मे सत्यता आती है तो जीव जैसा कहता है वैसा ही करके दिखा देता है । अगर उससे कोई काम नही हो सकता तो वह स्पष्ट कह देता है । जैसे आनन्द आदि श्रावको ने भगवान् से कहा था कि हम में संयम धारण करने की शक्ति नही है, मगर हम जो बात स्वीकार करेंगे, उसका पूर्ण रूप से पालन करेंगे ।

करण में सत्यता होगी तो कार्य भी बराबर सिद्ध होगा । चाकू अच्छा होगा तो कलम भी अच्छी बन सकती है । अगर चाकू ही अच्छा न हुआ तो खराब चाकू से कलम की नोक ठीक नही निकलेगी । इसी भाति जिस व्यक्ति मे करण-सत्य होगा, वह जैसा बोलेगा वैसा ही कर दिखाएगा । करण मे सत्यता आ जाने से कार्य में सरलता आए बिना नही रहती । जब करण में सत्यता आ जायेगी तो हाथी के दात खाने के और तथा दिखाने के और, इस लोकोक्ति के अनुसार कहना कुछ, करना कुछ की भिन्नता नही रह सकती । फिर तो जैसा उच्चार होगा वैसा ही आचार होगा । अर्थात् वाणी तथा व्यवहार मे भिन्नता नही रह जाएगी ।

आजकल के लोग प्रायः उच्चार के अनुसार आचार

नहीं करते, अर्थात् कहने के अनुसार कार्य नही करते। मानो, वे यह सोचते हैं कि उच्चार के पश्चात् आचार की आवश्यकता ही क्या है! परन्तु शास्त्र कहता है कि वाणी के अनुसार कार्य न करने का कारण करणसत्य का अभाव ही है। जिसमें करणसत्य होगा वही व्यक्ति च ार को आचार मे उतारेगा, जो व्यक्ति जैसा बोलता है वैसा ही आचरण करता है, वही व्यक्ति लोक मे प्रशसा का पात्र बनता है। अरब देश के विषय में कहा जाता है कि वहा के लोग बहुत कम झूठ बोलते हैं। यह उन लोगो के लिए प्रशसा की बात है, मगर भारतवासी कैसा बोलते हैं, इस बात का विचार करो। भारतीय झूठ तो नही बोलते ? अगर कहा जाये कि भारत मे झूठ बोले बिना काम नही चलता, इस कारण झूठ बोलना पडता है तो इसका उत्तर यह है कि वास्तव मे सत्य बोले बिना काम नही चल सकता। उदाहरणार्थ - किसी आदमी को खूब भूख लगी है। वह झूठ बोलता है। कहता है—'मुझे भूख नही लगी।' ऐसी दशा मे क्या उसका काम चल सकेगा ? उसका भूख का दु ख दूर हो सकेगा ? अगर यह कहा जाये कि ऐसी जगह झूठ बोलने से काम नही चल सकता तो इसका अर्थ यह हुआ कि भोले लोगो को ठगने के लिए झूठ बोले बिना काम नही चल सकता।

लोग समझ बैठे हैं कि हम झूठ बोलकर चाहे जिस तरह ठगें। हमे कौन देखता है ? पर शास्त्रकार कहते हैं– दूसरा कोई देखे या न देखे, पर तुम्हारा खुद का आत्मा और परमात्मा तो देखता है। अगर तुम परमात्मा को और अपने आत्मा को प्रसन्न करना चाहते हो तो जैसा कहते हो वैसा

ही आचरण करके दिखाना चाहिए कहना कुछ और करना कुछ, इस पद्धति को अंगीकार करने से तुम्हारा आत्मा सतुष्ट नही होता और परमात्मा भी प्रसन्न नही होता। कथनी और करनी मे भिन्नता रखने से जीवन का व्यवहार ठीक तरह नहीं चल सकता। किसी ने कहा है- यह करना चाहिए-यह नही करना चाहिए' ऐसा दूसरो से तो कहा जाता है, परन्तु अपने कहने के अनुसार तू आप ही नही करता, यह कहा तक उचित कहा जा सकता है! कहना कुछ और करना कुछ, यह भेदनीति सर्वथा अनुचित है।

जब गृहस्थो के लिए भी यह भेदनीति अनुचित गिनी जाती है तो साधुओ के लिए वह अनुचित और वर्ज्य हो, यह स्वाभाविक ही है। ऐसा होने पर भी कितनेक साधु भी बोलने मे और करने मे भिन्नता रखते हैं। परन्तु इस प्रकार के अनुचित व्यवहार से परमात्मा प्रसन्न नही हो सकता। परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए उच्चार को आचार मे लाने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है।



बावनवां बोल

योगसत्य

करण सत्य अर्थात् सत्य प्रवृत्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह पहले बतलाया जा चुका है। अब सत्य योग अर्थात् मन, वचन और काय के सत्य व्यापार से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं—

मूलपाठ

प्रश्न—जोगसच्चेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर जोगसच्चेणं जोगे विसोहेई ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! योग सत्य से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—योग-सत्य से योगो की विशुद्धि होती है।

व्याख्यान

मन, वचन और काय का व्यापार योग कहलाता है। मन, वचन और काय का व्यापार पन्द्रह प्रकार का है। मूल मे योग के तीन भेद हैं मनोयोग, वचनयोग और काययोग । इनके पन्द्रह भेद हैं मनयोग के चार भेद, वचनयोग के चार भेद और काययोग के सात भेद हैं। वचन और काय के साथ मन रहता है किन्तु कभी मन सत्य मे प्रवृत्त होता है कभी असत्य मे प्रवृत्त होता है। असत्य मे मन प्रवृत्त तो होता है मगर योग को सत्य मन मे ही प्रवृत्त करना चाहिये । सत्य मन मे योग को प्रवृत करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह बतलाने के लिये ही गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है। भगवान् ने उत्तर दिया है कि सत्य-योग से योग की विशुद्धि होती है। मन मे सत्य योग को प्रवृत्त करना ही योगसत्य है और योगसत्य से योग की विशुद्धि होती है।

योग का अर्थ जोडना भी है। मन, वचन और काय को किसी के साथ जोडना भी योग कहलाता है। मन, वचन और काय को जिसके साथ जोडा जाता है उसी को योग कहते हैं। पानी मे कोई वस्तु डाली जाये तो वह उस वस्तु का रग अपना लेता है, इसी प्रकार अगर योग को सत्य में प्रवृत्त किया जाये तो वह सत्य-योग कहलायेगा और यदि असत्य मे प्रवृत्त किया जाये तो असत्ययोग कहा जायेगा। इसी तरह अगर सत्य असत्य दोनो मे योग मिश्रित किया जाये तो मिश्रयोग कहलाएगा।

तात्पर्य यह है कि योग को सत्य मे प्रवृत्त करना

चाहिये । अब प्रश्न यह है कि सत्य किसे कहना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देना कुछ कठिन है । सत्य की पूर्ण व्याख्या तो वही महापुरुष कर सकते हैं।जन्होंने अपने जीवन मे सत्य को तानेबाने की तरह बुन लिया हो । जिन महा-पुरुषो ने सत्य को सागोपाग सम्पूण रूप से जीवन में उतार लिया है, उनमे और ईश्वर मे कोई अन्तर नही रहता । क्योकि शास्त्र मे कहा है कि सत्य ही भगवान् है अर्थात् भगवत्प्राप्ति का सच्चा मार्ग सत्य ही है ।

सत्य की पूर्ण व्याख्या करना यद्यपि अपने लिए कठिन अवश्य है, फिर भी प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा सर्वथा न सही, आशिक रूप मे भी अपने ध्येय तक पहुच ही सकता है । इस कथन के अनुसार अपनी शक्ति के अनुसार यहा यह दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जायेगा कि सत्य क्या है ?

साधारणतया सभी मनुष्य सत्य का स्वरूप समझने की अभिलाषा रखते हैं, परन्तु वही लोग सत्य को ठीक तरह समझ सकते हैं, जिन्हे सत्य हृदय से प्रिय है . सत्य का उपासक बनने की इच्छा रखने वाला सत्य के समक्ष तीन लोक की सम्पदा को हो नही वरन् अपने प्राण को भी तुच्छ समझता है । किन्तु जो लोग किसी सम्प्रदाय, धर्म या मत के पीछे मतवाले बन जाते हैं और स्वार्थवश होकर सत्यासत्य का विवेक भूल जाते हैं, वे सत्य का स्वरूप नही समझ सकते । वे सत्य को अपने जीवन मे उतार भी नही सकते । जीवन को नीतिमय प्रामाणिक, धार्मिक तथा उन्नत बनाने के लिए सर्वप्रथम सत्यमय बनाना आवश्यक

है। अतएव यहां सत्य के विषय में कुछ विशेष विचार करने की आवश्यकता है।

जो नित्य है, अविनाशी है और विकारो से रहित है, वह सत्य कहलाता है। अविनाशीपन को प्राप्त करने के लिए जो व्यवहार किया जाता है वह भी सत्य है। श्रीस्थानागसूत्र के चौथे स्थान में सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है—

चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते तजहा काउज्जुयया, भासुज्जुयया भावुज्जुयया अविसवायणा जोगे।

अर्थात्—काय की सरलता, भाषा की सरलता और मन, वचन, काय के योगो की सरलता का नाम सत्य है।

जिस विचार, वाणी और कार्यप्रणाली मे त्रिकाल मे भी फेरफार न हो, जिसे आत्मा निष्पक्षभाव से ग्रहण करे, हृदय मे सम्पूर्ण रूप से जिसके स्थित हो जाने पर भय, ग्लानि, अहकार, मोह दम्भ, ईर्षा, द्वेष, क्रोध लोभ आदि कुत्सित भाव नष्ट हो जाएं तथा जो भूतकाल मे था, वर्त्तमान मे है और भविष्य मे होगा अथवा जिसके द्वारा आत्मा को सच्ची शाति प्राप्त हो, उसे सत्य कहते हैं।

योगदर्शन के साधन-पाद के तीसरे सूत्र के भाष्य में वेदव्यास जी ने सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है:—

सत्य यथार्थे वाङ्मनसो यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति।

परत्र स्वबोधसक्रान्तये वागुक्तायदि न वचिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवघ्या वा भवेदिति।

भाव यह है कि मनोयोगपूर्वक वाणी की यथार्थता होना सत्य कहलाता है। अर्थात् जैसा देखा हो, समझा हो,

वैसा ही दूसरों को दिखाया जाये, समझाया जाये तथा सुनाया जाये, यही सत्य है। किन्तु अगर वाक्‌चातुर्य से या असावधानी से उन्ही शब्दो द्वारा दूसरो को भ्रमणा उत्पन्न हो तो उसे सत्य नही कहा जा सकता। सक्षेप में वास्तविक विचार, वाणी तथा व्यवहार सत्य कहलाता है। महाभारत मे भी कहा है --

अविकारित्वम सत्य सर्ववर्णेषु भारत !

अर्थात्--समस्त वर्णों मे विकाररहित रहने वाले को सत्य कहते हैं।

सत्य की मूर्ति किसी पाषण की बनी नही होती और न उसका कोई स्थान ही नियत होता है। इस देह मे रहे हुए जीव की भाति सत्य सर्वत्र व्याप्त है। कोई वस्तु या कोई स्थान ऐसा नही जहा सत्य न हो। जिस वस्तु मे सत्य नही है वह वस्तु ही किसी काम की नही रहती। जैसे सूर्य मे सत्य वस्तु प्रकाश है। अगर सूर्य मे से प्रकाश निकल जाये तो उसे कोई भी सूर्य नही कहेगा। दूध मे सत्य वस्तु घी है। अगर दूध में से घी निकल जाये तो उसे वास्तव में दूध नही कहा जा सकता। कहने का आशय यह है कि सत्य उस स्वाभाविक और वास्तविक वस्तु का नाम है, जिसके होने से किसी वस्तु, विचार, वाणी या काय वगैरह के नाम रूप तथा गुणो मे परिवर्त्तन न हो सके। सत्य अपरिवर्त्तनशील और स्वाभाविक है।

सत्य एक व्यापक और सार्वभौम सिद्धान्त है ससार मे विभिन्न मत हैं और उनके सिद्धान्त अलग-अलग हैं। कुछ मतो के बाह्य सिद्धान्तो मे तो इतनी अधिक भिन्नता

होती है कि एक मतानुयायी दूसरे मत के अनुयायी से मिल भी नही सकता । यही नही वरन् इन सिद्धान्तो को पकडे रखकर वे प्राय महायुद्ध मचा देते हैं । ऐसा होने पर भी अगर सब मतावलम्बी गम्भीरतापूर्वक निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो उन्हे मालूम होगा कि धर्म का पाया सत्य पर ही टिका है और वह सत्य सब का एक है। अगर इस सत्य का सच्चा स्वरूप समझा जाये तो जो लोग धर्म के नाम पर परस्पर द्वेष रखकर कलह करते हैं, वे भी कलह और द्वेष का त्याग करके भाई-भाई की तरह एक दूसरे के गले मिलेगे और प्रेमपूर्वक भेटने के लिए तैयार हो जाएँगे ।

प्रत्येक मनुष्य सत्य का पूजन कर सकता है । सत्य का पूजन करने मे जाति या धर्म का कोई बन्धन नही है। यही नही वरन् जो कोई भी चाहे वह किसी भी जाति का या किसी भी धर्म का हो—सत्य का आचरण करता है। वह सच्चा धर्मात्मा बन जाता है । सत्य-पूजा की सामग्री के लिये साधारणतया एक कौडी भी नही खरचनी पडती, परन्तु कभी-कभी सत्यपूजा के लिये इतना अधिक आत्म-त्याग करना पडता है कि ससार का कोई भी त्याग उसकी बराबरी नही कर सकता । पूछा जा सकता है कि सत्य की पूजा किस प्रकार करनी चाहिए ? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर यही दिया जा सकता है कि—'सत्य चर ।' अर्थात् सत्य का आचरण करो। मन, वचन और काय से सत्य का आचरण करना ही सत्य की सच्ची पूजा है ।

सत्य का पूर्ण स्वरूप तो केवली भगवान् ही जानते हैं । हम लोग स्वय अपूर्ण हैं । हम पूर्ण सत्य का वर्णन

किस प्रकार कर सकते हैं ? केवली भगवान् जितना जानते हैं उतना वे भी कह नही सकते, क्योंकि योग तो समयानुसार ही प्रवर्तित होता है। ऐसी स्थिति मे वे जितना जानते है, उस सब का वणन किस प्रकार कर सकते हैं ? हम लोग भी जितना देखते हैं उतना वर्णन नही कर सकते, तो फिर जो अखिल संसार को हाथ की रेखा की तरह देखते हैं, वे सब का कथन किस प्रकार कर सकते हैं ? इस प्रकार पूर्ण सत्य तो अनिर्वचनीय अकथनीय है। पूर्ण सत्य की परिसीमा पर पहुचने से मन और वाणी भी उसी मे समा जाते है। अतएव पूण सत्य अनिर्वचनीय है। यहा जिस सत्य का कथन किया गया है वह तो व्यावहारिक सत्य है। जो वास्तविकता से विरुद्ध नही है और जिसके विषय में किसी प्रकार का कपट सेवन नही किया गया है, वह व्यावहारिक सत्य है। इस सत्य के साथ योग का सबन्ध जोडना योगसत्य है। इस योगसत्य से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—योगसत्य से योग की विशुद्धि होती है।

योगसत्य और योग-असत्य में क्या अन्तर है ? यह बात एक व्यावहारिक उदाहरण देकर समझाता हू। मान लीजिये एक सेठ के पास कोई आदमी दस रु० उधार लेने आया। सेठ के पास तिजोरी मे रुपया है मगर वह उस आदमी को देना नही चाहता और न यही चाहता है कि मागने वाले को बुरा लगे। अतएव सेठ मागने वाले से कहता है—"मैं तुम्हे रुपया अवश्य देता, मगर अभी शिलक में रुपया न होने के कारण असमर्थ हू।" ऐसा कहने वाले

सेठ ने अपना योग असत्य मे प्रवृत्त किया या नही ? सेठ मिथ्या बोला लेकिन उस आदमी को सेठ के कथन पर विश्वास नही हुआ। उसने मन मे यही सोचा होगा— यह सेठ झूठ बोलता है। यह कैसे माना जा सकता है कि उसके पास दस रुपया भी नही है ! सेठ तो यह सोचता है कि मेरे तिजोरी मे रुपया है या नही, यह कौन देखता है ? मगर वह यह नही सोचता कि दूसरा कोई देखे या न देखे, मेरा मन तो जानता है कि तिजोरी मे रुपया है, फिर भी मैं मिथ्या बोला और रुपया न देने के लिए कपट किया। इस प्रकार योग को असत्य मे प्रवृत्त करना योग असत्य है। अगर सेठ उस आदमी से यह कह देता कि मेरे पास रुपया तो है पर इस समय मैं तुम्हे रुपया नही दे सकता। ऐसा कहने से सत्य की रक्षा होती। ऐसे सत्य में योग को प्रवृत्त करना योगसत्य है। इसी प्रकार सेठ यदि यह कहता कि मैं दस रुपया तो नही देता पाच दे सकता हू, तो यह भी सत्ययोग ही कहलाता। हा, सेठ ने यह कहा होता कि मेरे पास दस रुपया तो नही हैं, पाच ही है। तुम पाच रुपया ले जा सकते हो, यह कथन भी एक प्रकार से असत्य है; पर इसे मिश्र कहा जा सकता है। क्योंकि इस कथन मे सत्य असत्य का मिश्रण है। ऐसे मिश्र मे योग को प्रवृत्त करना मिश्रयोग कहलाता है।

चौथा व्यवहारयोग है। वस्तु न होने पर भी विकल्प से वस्तु मानना अथवा एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का आरोप करके कथन करना विकल्प कहलाता है। जैसे— खाट शोर करती है। वास्तव मे खाट शोर नही करती वरन् खाट पर बैठे आदमी शोर मचाते हैं। कोई कहता है— गाव भाग

गया । यहा यह कथन किया गया है कि गाव भागता है, परन्तु गाव मे बसने वाले लोग भ गते है-गाव नही । फिर भी व्यवहार में यही कहा जाता है कि सारा गाव भाग गया । वस्तु में सत्-असत् का निर्णय न करके व्यवहार मे जैसा कहा जाता है, वैसा ही कपटरहित मन से कहना व्यवहार है ऐसे व्यवहार मे योग को प्रवृत्त करना व्यवहारयोग कहलाता है ।

वचनयोग और काययोग के भी इसी प्रकार जुदे-जुदे भेद हैं । सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार, इन चारो मे से जिस योग को जिसके साथ जोडा जायेगा वह योग वैसा ही कहलाएगा । भगवान् ने सत्य मे योग जोडने का फल यह वतलाया है कि योगसत्य से योग की विशुद्धि हाती है अर्थात् आत्मा क्लेश कर्म के विपाक से रहित होता है ।

जैसे झाडू से घर का कचरा साफ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे मन, वचन तथा काय की असत्य-प्रवृत्ति रूपी जो कचरा भरा हुआ है, उसे योगसत्य रूपी झाडू से साफ किया जाता है । किसी विशिष्ट व्यक्ति को घर आने का आमन्त्रण तभी दिया जाता है जव अपना घर पहले से ही साफ कर लिया हो । घर साफ-सुथरा न हो तो महान् पुरुष को घर पर आने का निमन्त्रण नही दिया जाता । इसी प्रकार अगर अपने आत्ममदिर मे परमात्मा-देव को पधराना हो तो हमे आत्म-मदिर मे से असत्य योग की प्रवृत्ति रूपी कचरे को वाहर निकाल देना चाहिए । ऐसा करना आवश्यक है ।

कितने ही लोग कहा करते हैं हमारा मन सामायिक मे नही लगता । पर जब तक मन असत्य योग मे प्रवृत्त हो रहा है तब तक वह सामायिक में कैसे लगेगा ? सामायिक मे मन एकाग्र करना हो तो मन को सत्ययोग मे प्रवृत्त करना चाहिए। जब मन सत्ययोग मे लग जायेगा तो मन सामायिक मे स्थिर हुए बिना नही रहेगा ।

अगर तुम्हारे मन, वचन और काय का व्यापार सत्ययोग मे प्रवृत्त होगा तो तुम्हारे योग की अवश्य विशुद्धि होगी और जब योग की विशुद्धि होगी तब तुम्हे किसी प्रकार का सकट नही सहन करना पड़ेगा और न दूसरे के शरण में ही जाना पडेगा । जो लोग योग को सत्य मे प्रवृत्त करते हैं, उनका सकट टल जाता है ।



तिरेपनवां बोल

मनोगुप्ति

ठीक तरह परमात्मा को पहचान कर विशुद्ध भाव से वन्दन–नमस्कार करके उसे सदा सहायक बनाने मे अनेक विघ्न बाधाए उपस्थित होती है। इन विघ्न-बाधाओ को दूर करने के लिए तथा उनसे बचने के लिए भी साधुत्व अगीकार किया जाता है । यद्यपि साधुजन विघ्न-बाधाओं को जीतने के लिए ही सांसारिक वस्तुओ का त्याग करके सयम स्वीकार करते हैं, फिर भी मन, वचन और काय कभी-कभी साधुता की मर्यादा से बाहर निकल जाते हैं। उन्हें मर्यादा मे रखने के लिए भगवान् ने मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और काय-गुप्ति का विधान किया है। मन की गुप्ति से अर्थात् मन को काबू मे रखने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह जानने के लिए गौतमस्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर मणगुत्त ाए जीवे एगग्गंजणयइ एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते सजमाराहए भवइ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न – भते ! मनोगुप्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— मनोगुप्ति (मन के सयम) से जीवात्मा में एकाग्रता उत्पन्न होती है और एकाग्र-चित्त वाला जीवात्मा सयम का आराधक बनता है ।

व्याख्यान

यह प्रश्न पहले योगसत्य के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर करने मे आया है । योगसत्य तभी रखा जा सकता है जब मन, वचन और काय की गुप्ति अर्थात् रक्षा की जाती है । इसलिए योगसत्य के अनन्तर तीन गुप्तियो के विषय में प्रश्न किया गया है ।

मानव-शरीर में मन की प्रधानता है । अगर मन की गुप्ति अर्थात् रक्षा की जाये तो वचनगुप्ति तथा काय-गुप्ति भी सरलतापूर्वक रखी जा सकती है । मन, मानव-शरीर का प्रधान अग होने के कारण उसकी रक्षा करना आवश्यक है । मन बहुत चचल होता है, अतएव मन की चचलता को रोकने के लिए शास्त्रो में तथा ग्रन्थो मे खूब ऊहापोह किया गया है । मन की चंचलता के विषय मे गीता मे भी कहा है । –

चञ्चल हि मनः कृष्ण ! प्रमादि बलवद् दृढम् ।
तस्याह निग्रह मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥

अर्थात्–हे कृष्ण ! मन बहुत चचल है । वह प्रमथन स्वभाव वाला है, दृढ है और बलवान् है। उसे वश मे करना मुझे तो वायु को वश मे करने के समान अत्यन्त दुष्कर जान पडता है ।

इस प्रकार मन की चंचलता दूर करने के सबन्ध मे अर्जुन को भी शका हुई थी । दूसरे भक्त भी कहते हैं कि–हे प्रभो ! मेरा मन ऐसा है कि जिन कामो के करने से हानि सहनी पडती है, उन्ही कामो मे बार-बार प्रवृत्त होता है । ऐसा मन किस प्रकार वश मे किया जा सकता है ?

इस तरह मन को वश मे करना कठिन माना जाता है । परन्तु ज्ञानियो का कथन है कि यह कार्य जितना कठिन समझा जाता है, उतना कठिन नही है । यह ठीक है कि मन चचल है मगर ऐसी बात नही है कि वह वश मे हो ही न सके । यदि मन वश मे किया हो न जा सकता हो तो शास्त्रकार ऐसा करने का उपदेश ही क्यो देते ? जो कार्य वास्तव मे अशक्य है उसे करने का उपदेश कौन देता है ? तिलो से तेल निकालने का उपदेश देना तो स्वाभाविक और उचित है किंतु बालू मे से तेल निकालने का उपदेश कोई नही देता । क्योकि ऐसा होना अशक्य है । मन वश मे तो किया जा सकता है परन्तु उसके लिये सक्रिय प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इसीलिये यह उपदेश दिया जाता है कि मन को वश मे करने का प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो। जिन प्रयत्नो द्वारा मन वश मे किया जा सकता है उन प्रयत्नो द्वारा उसे वश मे करके अनेक पुरुषो ने मुक्ति प्राप्त की हैं, करते हैं और करेगे ।

मन, वचन और काय को वश में करने के लिए ही

शास्त्रकारो ने तीन गुप्तियो का विधान किया है। तीन गुप्तियां और पाच समितिया तो साधुता का प्राण हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जाये तो यह आठो प्रवचनमाता हैं।

गुप्ति का अर्थ रक्षा करना होता है। मन, वचन और काय को वश मे रखना, उनकी रक्षा करना गुप्ति है। मन, वचन और काय को वश मे रखने का अर्थ उन्हे नष्ट कर देना नही है। इसका अर्थ यह हैं कि जैसे घोडे को लगाम आदि द्वारा वश मे रखा जाता है, उसी प्रकार मन, वचन, काय को वश मे रखना गुप्ति है।

जैसे सीखा हुआ घोडा अपने सवार को निर्दिष्ट स्थान पर पहुचा देने मे समर्थ होता है, उसी प्रकार मन, वचन तथा काय आत्मसिद्धि प्राप्त करने मे अगर सहायक बन जाएँ तो कहना चाहिए कि उनकी गुप्ति हुई है। निर्दिष्ट स्थान पर पहुच कर सवार घोडे से उतर पडता है, उसी प्रकार आत्मसिद्धि होने के बाद इन्द्रियो की सहायता लेने का भी त्याग कर दिया जाता है। अलबत्ता जब तक आत्मा का उद्देश्य सिद्ध नही हुआ है तब तक मन, वचन, काय से विवेकपूर्वक काम लेना पडता है। मन, वचन तथा काय से विवेकपूर्वक काम लेना ही गुप्ति है। मन, वचन, काय को नष्ट कर देना गुप्ति नही है। यह तो आत्महत्या है। अतएव मन, वचन तथा काय को निवृत्ति मे प्रवृत्त करना ही गुप्ति है। किसी भी वस्तु से निवृत्त होने के लिए प्रवृत्ति करना आवश्यक है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति नही हो सकती और निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति नही हो सकती। अतएव मन, वचन और काय को निवृत्त करने के लिए सर्वप्रथम उन्हे आर्त्तध्यान से हटा कर धर्म-ध्यान

मे प्रवृत्त करना चाहिए। ऐसा न करके अगर इन्द्रियो को एकान्त निवृत्तिमय बनाया जाये तो परिणाम सुन्दर नही आ सकता। इस कारण इन्द्रियो को सर्व प्रथम आर्त्तध्यान से बाहर करके धर्मध्यान मे प्रवृत्त करना चाहिए।

प्रसग के अनुसार यहा आर्त्तध्यान पर विचार करना आवश्यक है। दु खपूर्ण ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है। शास्त्र में भी कहा है

अट्टज्झाणे चउविहे चउपडियारे पण्णत्ते।

अर्थात्—आर्त्तध्यान कैसा होता है और उसका स्वरूप क्या है यह नीचे की कविता में स्पष्ट रूप से समझाया गया है —

इष्ट वियोग विकलता भारी, अरु अनिष्ट संयोग दुखारी।
तन की व्याधि मन हि मन झूरे अग्र सोच करि वञ्छित पूरे।
ये आरत के चारो पाये, महा मोह-रस से लिपटाये।

अर्थात् किसी इष्ट वस्तु का वियोग होने पर व्याकुल होना पहला आर्त्तध्यान है। शास्त्र कहता है कि जिस वस्तु के वियोग से तू दु खी हो रहा है, वह वस्तु अगर वास्तव मे तेरी होती तो उसका वियोग ही क्यो होता? जो वस्तु नष्ट हो गई है, वह वास्तव मे तेरी नही है। फिर भी उस वस्तु से तू दु ख मानता है, इसका प्रधान कारण तेरा मिथ्या मोह है।

अनिष्ट वस्तु के सयोग के कारण विकल होना दूसरा आर्त्तध्यान है। व्याधि उत्पन्न होने से दुखी होना तीसरा आर्त्तध्यान है और भविष्य सम्बन्धी चिन्ता करके दुःखी होना चौथा आर्त्तध्यान है। इस चौथे आर्त्तध्यान का रूप बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं —

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं ।
त एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ?

— उ० १४, १५

अर्थात्– यह मेरा है और यह मेरा नही है, यह मुझे करना है और यह नही करना है, इस प्रकार बडबडाते हुए प्राणी को रात और दिन रूपी चोर (आयु को) चुरा रहे हैं। ऐसी दशा मे प्रमाद क्यो करना चाहिए ?

इस प्रकार भविष्य के विचार से जो दुःख उत्पन्न होता है, वह आर्त्तध्यान का चौथा भेद है ।

किसी भी साधारण वस्तु के कारण किस प्रकार प्रपच खडा हो जाता है, इस विषय मे एक घटना सुनी है । एक आदमी नीलाम मे पलग खरीद लाया। वह पलग कारीगरी का अद्भुत नमूना था । अतएव उस पलग के कारण उस आदमी के घर साठ हजार का दूसरा सामान खरीदा गया। यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण जान पडती है किन्तु घर मे एक चीज बसाने पर कितना प्रपच और कितना खर्च करना पडता है, इस घटना से यह बात समझी जा सकती है । तुम एक सुन्दर बटनो का सेट खरीदोगे तो बटनो के अनुकूल सुन्दर सिलाई वाले घुले कपडे पहनने की भी आवश्यकता प्रतीत होगी । जब तुम सुन्दर वस्त्रो से सुसज्जित होओगे तो बढिया छतरी और सुन्दर बूट आदि की भी आवश्यकता रहेगी । अब विचार करो कि एक सामान्य बटन के कारण कितना खर्च करना पड़ा ? इसी प्रकार तुम

लोग बारीक वस्त्र पहन कर सोचते हो कि हमें कपड़ा सस्ता मिला, परन्तु इस बारीक वस्त्र के पीछे कितना अधिक खर्च करना पड़ता है और परिणाम-स्वरूप किस प्रकार आर्त्तध्यान मे पडना पड़ता है, इस बात का विचार करोगे तो तुम्हे पता चलेगा कि जीवन में संयम और सादगी रखने से ही आर्त्तध्यान से बचाव हो सकता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि मोह के कारण यह चार प्रकार का आर्त्तध्यान किया जाता है। इस प्रकार के आर्त्त-ध्यान को धर्मध्यान या शुक्लध्यान के द्वारा ही जीता जा सकता है । शुक्लध्यान आत्मविकास की उच्च श्रेणी है। अतएव अगर धर्मध्यान किया जाये तो आर्त्तध्यान से बचाव हो सकता है और फिर धीरे-धीरे शुक्लध्यान की स्थिति तक पहुंचा जा सकता है।

धर्मध्यान किसे कहते हैं और धर्मध्यान से आर्त्तध्यान किस प्रकार दूर हो सकता है, इस विषय में कहा है:—

केवलिभाषित वाणी माने, कर्मनाश का उद्यम ठाने।
पूरब कर्म उदय पहचाने, पुरुषाकार लोकथिति जाने।
धर्मध्यान के चारो पाये, जे समझे ते मारग आये।

अगर इष्टवियोग के कारण आर्त्तध्यान हो तो केवलि-भाषित वाणी पर विश्वास करके धर्मध्यान मे प्रवृत्ति करनी चाहिये और यदि अनिष्टसयोग के कारण आर्त्तध्यान हो तो कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। शास्त्रकार का कथन है कि आर्त्तध्यान के प्रसग पर धमध्यान करने से कठिन बन्ध भी शिथिल पड जाता है । शरीर में व्याधि हो तो पूर्व कर्मों का स्मरण करके सोचना चाहिए कि—मैंने ही यह व्याधि उत्पन्न की है, तो मुझे दु:ख क्यों मनाना

चाहिए ? जब किसी की वस्तु मैंने उधार ली है तो मुझे वापिस सौंपनी ही चाहिए।

गांधीजी जब अफ्रीका मे थे तो उन्हे ईसाई बनाने के लिए एक बाई ने बहुत प्रयत्न किया था। जब उसके सब प्रयत्न निष्फल हुए तब उसने गांधीजी से कहा अपन पापी तो हैं ही और अपने से पाप होते ही रहते हैं। अगर हम इन पापो का फल भोगने बैठें तो कही अन्त ही नही आएगा। अतएव हमे ईसा की शरण मे जाना चाहिए। जो ईसा की शरण मे चले जाते हैं उनके पाप का फल ईसा भोग लेते हैं और शरणागत लोग पाप के फल से बच जाते हैं। इस कथन के उत्तर मे गांधीजी ने कहा— 'यह कैसा धर्म है! पाप से तो डरना नही और पाप के फल से डर कर ईसा की शरण मे जाना! यह सर्वथा अनुचित है। जब हमने पाप किया है तो उसका फल भी हमे ही भोगना चाहिए।'

इसी प्रकार जब रोग आवे तो सोचना चाहिए कि मेरे किये कर्म मुझे भोगना ही चाहिए। इसमें मुझे दुःख का अनुभव नही करना चाहिए। इस प्रकार विचार करके वेदना के समय दुःख न मानने से अर्थात् आर्त्तध्यान न करने से और उसके बदले धर्मध्यान करने से कर्मबन्ध भी ढीला पड जाता है।

इस श्लोक को पुरुषाकार मानकर लोकस्थिति के विषय मे विचार करना चाहिए, यह धर्मध्यान का चौथा प्रकार है। स्वर्ग और नरक इस शरीर मे है। शरीर मे नीचे नरक, मध्य में मनुष्यलोक और ऊपर स्वर्ग है। नवग्रैवेयक के विषय मे कहा जाता है कि अपनी गर्दन ही

नवग्रैवेयक है । इस प्रकार अपने शरीर को चौदह राजू लोक का नक्शा मानकर लोकस्थिति के विषय में विचार किया जाये तो मन धर्मध्यान मे प्रवृत्त होता है।

कहने का आशय यह है कि धर्मध्यान की सहायता से आर्त्तध्यान से बचाव हो सकता है और मन को एकाग्र किया जा सकता है । धर्मध्यान करना और आर्तध्यान से बचते रहना भी मनोगुप्ति का साधन है । मनोगुप्ति के विषय मे कहा भी है:—

विमुक्तकल्पनाजालं समत्वेषु प्रतिष्ठितम् ।
आत्माराम मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिः सदाहृता ॥

अर्थात् कल्पना के जाल से बाहर निकलकर समभाव में स्थिर होना, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान मे से निकलकर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में प्रवृत्त होना और मन को आत्म-विचार में ही तन्मय कर देना मनोगुप्ति है । मन जब आत्मा में ही रमण करता है अन्यत्र नही जाता, तभी पूर्ण मनोगुप्ति होती है ।

साधारणतया तो समिति और गुप्ति का मार्ग साधुओं के लिए है, परन्तु इस मार्ग को समझकर तुम लोग भी अगर मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करोगे तो तुम्हारे आत्मा का भी बहुत लाभ होगा । आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से निवृत्त होना ही गुप्ति है । इस प्रकार की गुप्ति का पालन गृहस्थ भी कर सकता है । मनोगुप्ति का पालन करने से दुःख भी सुख मे परिणत हो सकता है ।



चौपनवाँ बोल



वचनगुप्ति

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यहा सामान्य रूप से गुप्ति के विषय मे विचार किया गया है। मानव शरीर मे मन की प्रधानता होने से सर्वप्रथम मन की गुप्ति करना आवश्यक है। जब तक मनोगुप्ति नही की जाती तब तक वचनगुप्ति और कायगुप्ति नही हो सकती।

वचन की गुप्ति से अर्थात् वाणी पर काबू रखने से जीव को क्या लाभ होता है, यह जानने के लिए गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा :—

मूलपाठ

प्रश्न— वयगुत्तयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— वयगुत्तयाए निव्वियारत्तं जणयइ, निव्वियारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न--- भगवन् ! वचनगुप्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर--- हे गौतम ! वचनगुप्ति (वाणी के सयम) से जीवात्मा विकाररहित होता है और निर्विकार जीव आध्यात्मिक योग के साधनो से युक्त होकर विचरता है ।

व्याख्यान

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर मन पर नियंत्रण कर लिया जाये तो फिर वाणी के नियन्त्रण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर तो कोई योगी महात्मा ही दे सकते हैं, फिर भी मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर देने का प्रयत्न करता हू :—

तालाब मे जैसे पानी की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार पानी की रक्षा करने के लिए पाल बाँधने की भी आवश्यकता होती है । पानी के अभाव मे पाल बांधने की आवश्यकता नही है और पाल बांधे बिना पानी टिक नही सकता । तालाब मे पाल बंधी हो तो पानी भी टिक सकता है और पानी को टिकाए रखने के लिए पाल बांधना आवश्यक होता है । इसी प्रकार मनोगुप्ति के साथ वचनगुप्ति का होना भी आवश्यक है ।

वचनगुप्ति का साधारण अर्थ वाणी पर काबू रखना है । वचन पर एकदम काबू पा लेना कठिन है । अतएव सर्वप्रथम अप्रशस्त वचन बोलना कम करके प्रशस्त वचन बोलने का अभ्यास करना चाहिए । ऐसा करने से वचनगुप्ति का

सम्पूर्ण रूप से पालन हो सकेगा। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में वचनगुप्ति के चार भेद बतलाए गए हैं। उसमे कहा है:—

सच्चा तहेव मोसा य सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य वयगुत्तो चउव्विहा॥

अर्थात्—वचनगुप्ति चार प्रकार की है—(१) सत्य-वचनगुप्ति (२) असत्यवचनगुप्ति (३) सत्य-असत्य-वचन-गुप्ति और (४) व्यवहारवचनगुप्ति। जो व्यक्ति यह चार प्रकार की वचनगुप्ति रखता है, उसके लिए भगवान् ने कहा है कि वचनगुप्ति रखने के कारण वह व्यक्ति निर्विकार दशा प्राप्त करता है।

आत्मा का निज स्वरूप मे रमण करना निर्विकारीपन है और परवस्तु मे रमण करना विकारीपन है। पर-वस्तु चाहे जैसी हो, उसमे रमण करना आत्मा का विकार ही है। पानी मे चाहे शक्कर डाली जाये, चाहे नमक डाला जाये, पर-वस्तु के सयोग से कारण पानी विकृत ही माना जाता है। पानी की प्रकृति तो तभी कहलाएगी जब वह अपने स्वरूप मे स्थित होगा। इसी प्रकार आत्मा में निर्विकारपन तभी आ सकता है जब आत्मा वचनगुप्ति का पूरा-पूरा पालन करे। बोलने के कारण आत्मा को अपने प्रकृत स्वभाव से च्युत होना ही पडता है। लेकिन जब आत्मा मौन अवस्था में रह ही न सकता हो तो ऐसी स्थिति मे असत्य वचन न बोलकर सत्य वचन बोलना ही आत्मा के लिए श्रेयस्कर है। अर्थात् अशुभ वचन न बोलकर शुभ वचन बोलना ही लाभकारक है। यद्यपि सत्य वचन बोलना शुभ है परन्तु आत्मा की निज दशा की दृष्टि से तो सत्य

वचन भी उसी प्रकार विकृतिजनक है जैसे शक्कर पानी मे विकृतिजनक है । फिर भी जैसे पानी मे नमक मिलाने की अपेक्षा शक्कर मिलाना शुभ माना जाता है, उसी प्रकार जब तक वचनगुप्ति का पूर्णरूप से पालन न किया जा सके तब तक असत्य, मिश्र और अशुभ मे प्रवृत्त न करते हुये शुभ मे अर्थात् सत्य मे ही प्रवृत्त करना चाहिए । इस प्रकार सत्य वचन का व्यवहार करने से भी आत्मा में निर्विकार दशा उत्पन्न हो सकती है । विकाररहित पानी किस प्रकार गुणकारी होता है, यह बात डाक्टर लोग भलीभाति जानते हैं । इसी प्रकार आत्मा जब निर्विकार होता है तो उसमे क्या विशेषता आ जाती है, यह बतलाने के लिए भगवान् ने कहा है कि जब आत्मा निर्विकारी बनता है तभी वह निज-स्वरूप मे रमण करता है ।

भगवान् के इस कथन से एक सूचना यह भी मिलती है कि वचनगुप्ति का पालन करके आत्मा को निज-स्वरूप मे रमण करना चाहिए । जब तक आत्म-स्वरूपरमणता प्रकट नही होती तब तक वचनगुप्ति का पालन सार्थक नही होता । साधारण रूप से तो बगुला मछलियो को पकडने के लिए चुपचाप रहता है, परन्तु उसकी वचनगुप्ति के पीछे स्वार्थवृत्ति अथवा पर-वस्तु को अपनाने की वृत्ति होने से वह वचनगुप्ति निरर्थक हो जाती है । अतएव वचनगुप्ति अगर आत्म स्वरूपरमण मे सहायक न हो तो वह सार्थक नही हो सकती । वचनगुप्ति के बिना निर्विकारपन नही आ सकता और निर्विकारपन प्रकट हुए बिना निज स्वरूप नही साधा जा सकता । अतएव वचनगुप्ति आवश्यक है । परन्तु वचन-गुप्ति निज-स्वरूप साधने के लिए ही होनी चाहिए, स्वार्थ-

पूर्ति के लिए नही ।

वचनगुप्ति का जितना अधिक पालन हो सके उतना ही श्रेयस्कर है । आज घर-घर जो क्लेश-कलह होता देखा जाता है, उसका प्रधान कारण वचन पर अकुश न होना भी है । वचन पर अकुश रखा जाये तो बहुतसा कलह शात हो सकता है । क्षत्रियत्व न रहने के कारण लोग तलवार चलाना तो भूल गये है, उसके बदले वचन बाण चलाना सीख गये हैं । मगर वचन-बाण तलवार से भी ज्यादा तीखे होते हैं, अतएव अधिक आघात पहुचाते हैं । कोणिक की रानी पद्मा ने कठोर वचनो द्वारा कोणिक को इतना उत्तेजित कर दिया था कि महायुद्ध मच गया । इस महायुद्ध मे एक करोड, अस्सी लाख मनुष्य स्वाहा हो गए । लोग तलवार को तो सभाल रखते हैं परन्तु जीभ को वश मे नही रखते इसी कारण क्लेश-कलह होता है । जीभ कैसी है और किस लिए तथा किस प्रकार उसकी सभाल रखनी चाहिए, इस सम्बन्ध मे एक लोककवि ने कहा है । —

जीभ जोग अरु भोग जीभ ही रोग बढावे,
जिम्या से यश होय, जीभ से आदर पावे ।
जीभ नरक ले जाय, जीभ वैकुण्ठ पठावे,
जीभ करे फजीत जीभ से जूता खावे ।
अदल तराजू जीभ है, गुण—अवगुण दोउ तोलिये,
वैताल' कहे विक्रम सुनो जीभ सम्हाल कर बोलिये ॥

इस प्रकार जीभ की नोंक पर गुण और अवगुण दोनो बसे हैं । अगर हम गुण ग्रहण करना चाहते हैं तो हमे जिह्वा से सत्य, प्रिय और पथ्य बोलना चाहिए । हमे एक भी ऐसा

कटुक वचन नही बोलना, जिससे दूसरे को दु.ख हो और भविष्य मे अपने को पश्चात्ताप करना पडे। अगर जीभ का सदुपयोग करना न आता हो तो मौन साध लेना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है— मौन सर्वार्थसाधकम्।' अर्थात् मौन सभी अर्थों को सिद्ध करने वाला है। परन्तु जब बोलना ही हो तो आगे-पीछे का विचार करके सत्य, प्रिय और पथ्य ही बोलना चाहिए। योगशास्त्र मे कहा है कि—'जो सत्य वचन बोलता है उसके वचन में सिद्धि बसती है' अर्थात् सत्यभाषी को प्रत्येक कार्य मे सिद्धि मिलती है। श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र मे कहा है कि सत्य के प्रभाव से आग भी शीतल हो जाती है और तलवार भी फूल की माला बन जाती है। इस प्रकार सत्य वचन मे सिद्धि का निवास है। जिस जीभ द्वारा सिद्धि देने वाले सत्य वचन बोले जा सकते हैं, उस जीभ को खराब कामो मे प्रवृत्त करना सर्वथा अनुचित है। जो व्यक्ति सत्य वचन बोलता है वह कभी वचनगुप्ति का पूर्णत पालन करने के लिए निर्विकार बन सकता है और अध्यात्मयोग साध सकता है। अगर कोई व्यक्ति मुख से अविवेकपूर्ण वचन निकालता रहे और अध्यात्मयोग साधने की बात करे तो वह बकवादी व्यक्ति अध्यात्मयोग की साधना किस प्रकार कर सकता है? अध्यात्मयोग साधने के लिये वचन पर काबू रखने का प्रयत्न करो। ऐसे अनेक प्रसङ्ग आ जाते हैं जब गृहस्थ लोग वचन पर काबू नही रख सकते, परन्तु उस पर काबू रखने का अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए।

कल्पना करो, तुम्हे एक ऐसा मन्त्र बता दिया जाये कि जिससे तुम्हारे सभी काम सिद्ध होते हो, तो ऐसा मन्त्र

सीखने के लिए कौन उत्सुक नही होगा ? ऐसे लोग बहुत ही कम निकलेंगे जो ऐसा मन्त्र सीखने के लिए तैयार न हो जाएँ। तो अब तुम्हे बतलाया जाता है कि तुम वचन पर काबू रखो और वचन को अशुभ से निकालकर सत्यरूप शुभ में स्थिर करो तो तुम्हे अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी। किन्तु यह करना तुम्हें कठिन मालूम होता है। वास्तव मे वचनसिद्धि प्राप्त करने के लिए वचनगुप्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। वचनगुप्ति का पालन करने से वचनसिद्धि अवश्य प्राप्त होगी। अगर तुम वचन सत्य को स्थिर करोगे तो समस्त सिद्धियां तुम्हे खोजती आएँगी। वचनगुप्ति का पालन साधु और श्रावक दोनो के लिए उपयोगी और कल्याणकारी है। दूसरा कोई वचनगुप्ति का पालन करे या न करे, तुम अपना कर्तव्य समझकर वचनगुप्ति का पालन करो। इसी मे तुम्हारा कल्याण है। अपने कर्तव्य में दृढ रहने वाला व्यक्ति आत्म-कल्याण अवश्य करता है। सकट के समय भी कर्तव्य का पालन करना ही कल्याण का मार्ग है।



पचपनवां बोल

कायगुप्ति

शास्त्र का कथन है कि पांच समिति और तीन गुप्ति मे समस्त द्वादशाग वाणी का समावेश हो जाता है। इसी कारण उन्हे प्रवचनमाता भी कहते हैं। प्रवचनमाता का पूर्ण-रूप से गुणानुवाद करना सरल काम नही है। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी माता का गुणानुवाद तथा भक्तिप्रदर्शन अपनी शक्ति के अनुसार करता ही है। इसी प्रकार मैं प्रवचनमाता का गुणानुवाद करने के लिए उद्यत हुआ हूं।

गौतम स्वामी ने मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न किया है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने मन-गुप्ति और वचनगुप्ति से होने वाले लाभ के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका विवेचन पहले किया गया है। अब यह विचार करना है कि कायगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

मूलपाठ

प्रश्न—कायगुत्तयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर — कायगुत्तयाए संवरं जणयइ, सवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न— कायगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— कायगुप्ति (कायिक सयम) से संवर (पापो का निरोध) होता है और फिर सवर द्वारा जीवात्मा पाप के प्रवाह का निरोध कर सकता है ।

व्याख्यान

कायगुप्ति के पालन से होने वाले लाभ का विचार करने से पहले यह विचार करना आवश्यक है कि मन और वचन के साथ काया भी रहती है, तो फिर काय के विषय मे अलग प्रश्न क्यो किया गया है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे काया मन के साथ रहती है, उसी प्रकार मन से पृथक् भी है । किसी भी सम्पूर्ण शरीर का वर्णन किया जाये तो उस शरीर के सब अङ्ग उसमे आ जाते हैं, परन्तु जब शरीर के प्रत्येक अग का भिन्न-भिन्न वर्णन किया जाता है तो प्रत्येक को अलग मानकर ही वर्णन करना पडता है ।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा— हे गौतम ! कायगुप्ति से जीव को सवर की प्राप्ति होती है और सवर के कारण जीवात्मा आने वाले पापकर्मों का निरोध करने में समर्थ होता है ।

साधारणतया कायगुप्ति का अर्थ है — काय की रक्षा करना अर्थात काय को निश्चल कर लेना या काय का ममत्व तज देना । परन्तु काय को अप्रशस्त मे से हटाकर प्रशस्त

में प्रवृत्त करना भी कायगुप्ति ही है। प्रशस्त और अप्रशस्त की व्याख्या मनःकल्पित नही होनी चाहिए वरन् शास्त्र में इनकी जो व्याख्या की गई है वही स्वीकार करना चाहिए। हरएक आदमी अपनी मनमानी व्याख्या करने लगेगा तो ऐसी दशा मे प्रशस्त और अप्रशस्त के अनेक रूप हो जाएँगे। अतएव प्रशस्त और अप्रशस्त की शास्त्रसम्मत व्याख्या ही स्वीकार करना चाहिए।

शास्त्र कहते हैं—कायगुप्ति दो प्रकार की होती है। एक सामान्य और दूसरी विशेष। अप्रशस्त मे से निकालकर प्रशस्त मे काय को स्थिर करना सामान्य कायगुप्ति है और कायगुप्ति के विशेष नियमो का पालन करना विशेष कायगुप्ति। कायगुप्ति का पालन करने वाले को शयन, आसन और वस्तु-स्थापन आदि क्रियाएँ शास्त्रसम्मत रीति से ही करना चाहिए। साधु के शयन के विषय में शास्त्र मे कहा है कि साधु को बिना कारण निद्रा नही लेना चाहिए। निद्राशील साधु काय-गुप्ति का पालन नही कर सकता। अगर निद्रा लिए बिना काम चल ही न सकता हो तो गीतार्थ साधु को एक पहर और अगीतार्थ साधु को दो पहर से अधिक नीद नही लेना चाहिए। निद्रा लेने के इस विधान मे भी अपवाद है। इस अपवाद का सेवन न किया जाये तो अच्छा ही है परन्तु अप-वाद सेवन के बिना काम न चल सकता हो तो शास्त्रविधि के अनुसार ही निद्रा ली जा सकती है।

वस्तु को धरने-उठाने तथा मल-मूत्र का त्याग करनें आदि मे भी शास्त्र विहित नियमो का पालन करना चाहिए। इसी प्रकार कायगुप्ति पालने वाले साधु को बैठने आदि में भी कुचेष्टा नही करना चाहिए किन्तु शांत तथा गम्भीर

होकर बैठना चाहिए । साधु के बैठने तथा गमनागमन के तरीके से साधु की परीक्षा होती है । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि श्रेणिक राजा ने अनाथी मुनि को शात तथा गम्भीर भाव से बैठा देखकर ही समझ लिया था कि वे मुनि हैं । कहने का भावार्थ इतना ही है कि साधु का उठना-बैठना वगैरह शास्त्रानुकूल ही होना चाहिए ।

साधुओ के लिए शास्त्र मे विशेषतः कायोत्सर्ग करने का विधान किया गया है । कायोत्सर्ग तो तुम श्रावक भी 'झाणेणं मोणेण अप्पाणं वोसिरामि' आदि पाठ बोलकर करते हो। पर केवल पाठ बोल देने से कायोत्सर्ग नही होता। कायोत्सर्ग करना सरल नही है । कायोत्सर्ग अर्थात् काय का त्याग करना—काया पर तनिक भी ममता न रखना । चाहे जैसा उपसर्ग आवे, काया को डिगने न देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है । उदाहरण के लिए— किसी प्रकार का अपराध न करने पर भी सोमल ब्राह्मण ने गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकती हुई आग रख दी थी । फिर भी गजसुकुमार मुनि तनिक भी विचलित न होते हुए कायोत्सर्ग मे ही स्थिर रहे । आज जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें तो मच्छर के काटने पर भी स्थिर नही रहा जाता । कायोत्सर्ग करना कठिन अवश्य है परन्तु अभ्यास करने पर वह सरल भी है। आजकल के लोग कायोत्सर्ग करने मे कितने सहनशील बने रहते हैं, इसके लिए एक सुनी हुई घटना कह सुनाता हूं ।

एक गरीब श्रावक था । उसने सोचा मेरी नीयत साफ है, फिर भी मुझे कोई उधार नही देता । ऐसी दशा मे काम चलाने के लिए कोई उपाय करना चाहिये । पडौस में रहने वाला सेठ धार्मिक है । जब वह सामायिक में बैठे

तो गले में पहना हुआ उनका कठा क्यो न उतार लिया जाये ? ऐसा विचार कर वह श्रावक, सामायिक में बैठे हुए सेठजी के पास गया । बोला सेठजी ! आपने सामायिक ली है । संसार को समस्त वस्तुओ से सामायिक श्रेष्ठ है । अतएव आप अपनी सामायिक मे स्थिर रहे— विचलित न हो । इतना कहकर श्रावक ने सेठ के गले मे से कठा निकाल लिया । सेठ सामायिक मे स्थिर ही बैठे रहे । वह न कुछ भी बोले और न उन्होने अपना चित्त ही चचल होने दिया।

सामायिक पालकर सेठ घर पहुचा । मुनीम आदि ने पूछा आज आपके गले मे कठा क्यो नजर नही आता ? सेठ ने सोचा— सच कह दूगा तो लोग गरीब श्रावक को हैरान करेंगे तो उसने कह दिया— पड गया होगा कही । तुम कठा की इतनी ज्यादा चिन्ता क्यो करते हो ? इस विषय मे किसी को कुछ भी चिन्ता करने की आवश्यकता नही । जब यह शरीर ही मेरा नही तो कठा मेरा कैसे हो सकता है !

कठा ले जाने वाले श्रावक की नीयत साफ थी । जब उसका काम निकल गया तो वह श्रावक कठा वापस ले आया । सेठ ने कहा—कठा मेरा नही है । जब यह शरीर ही मेरा नही तो कठा मेरा कैसे हो सकता है ? उस श्रावक ने कहा—कठा तुम्हारा नही तो मेरा भी नही है । मैं इसे अपने पास कैसे रख सकता हूं ? इतना कहकर श्रावक ने सेठ के सामने कठा रख दिया और वह चलता बना ।

कहने का भावार्थ यह है कि उपसर्ग का आघात लगने पर भी अगर काया विचलित न हो तो ही सच्चा कायोत्सर्ग कहा जा सकता है। तुम्हे भी कायोत्सर्ग मे दृढ रहना चाहिए

श्रौर मानना चाहिए कि हमारे प्रभु ने जब सदैव के लिए कायोत्सर्ग कर दिया है तो मैं थोड़ी देर के लिए भी कायोत्सर्ग मे स्थिर क्यों न रहूं ।

इस प्रकार कायोत्सर्ग करना भी कायगुप्ति है। कायोत्सर्ग मे काया की ममता तज देनी चाहिए । काया पर से थोडा-थोडा ममत्व भी उतारने का अभ्यास किया जायेगा तो भी कल्याण होगा। जब एक बार किया हुश्रा नमस्कार भी कल्याणकारी होता है तो हमेशा किया जाने वाला ऐसा कायोत्सर्ग लाभकारी क्यो नही होगा ? मगर कायोत्सर्ग लाभकारी तभी हो सकता है जब काया की ममता छोडकर कायोत्सर्ग किया जाये । जो व्यक्ति लक्ष्य चूक कर तीर चलाता है, उसका तीर वृथा जाता है । लक्ष्य साधकर चलाया गया तीर ही इष्ट कार्य-साधक होता है । श्रतएव कायोत्सर्ग करने का लक्ष्य सामने रखकर कायोत्सर्ग किया जायेगा तो अवश्य कल्याण होगा ।



छप्पनवां बोल



मनः समाधि

पिछले बोलों में मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के विषय में कहा जा चुका है। अब गुप्ति की रक्षा करने के लिए मन को सत्यमार्ग (समाधि) में स्थापित करने की आवश्यकता है। अतएव मन को समाधि में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं.—

मूलपाठ

प्रश्न—मणसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मणसमाहारणयाए एगग्गं जणयइ, एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ, नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं य निज्जरेइ ॥५६॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भंते ! मन को समाधि में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर मन को समाधि में स्थापित करने से एकाग्रता उत्पन्न होती है। एकाग्रता उत्पन्न करके जीव ज्ञान की पर्यायें उत्पन्न करता है। ज्ञान की पर्यायें उत्पन्न करके सम्यक्त्व की विशुद्धि करता है और मिथ्यात्व का नाश करता है।

व्याख्यान

मन का निरोध करने की बात करना जितना सरल है, निरोध करना उतना सरल नही है। जहाँ तक मन का निरोध नही किया जाता अर्थात् मन को समाधिस्थ नही किया जाता तब तक मन एकाग्र नही हो सकता। जब मन मे एकाग्रता आ जाये तभी समझना चाहिए कि मन समाधिस्थ हो गया है अर्थात् मन का निरोध हो गया है। मन को बहिर्मुख न होने देना–अन्तर्मुख बनाना और आत्मसमाधि मे सलग्न करना ही मन का समाधारण है। जब मन मे ऐसी समाधि होती है तब मन एकाग्र बनता है और अज्ञान-शक्ति नष्ट होकर ज्ञान की पर्यायें (शक्तिया) उत्पन्न होती हैं। ज्ञानशक्ति उत्पन्न होने पर सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व का नाश होता है।

सक्षेप मे मन की समाधि से एकाग्रता उत्पन्न होती है. एकाग्रता से ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है। ज्ञानशक्ति से मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने मन की समाधि का जो फल बतलाया है उसे दृष्टि मे रखकर मन का निरोध करने का प्रयत्न करना चाहिए और इस बात की संभाल रखनी चाहिए कि मन किसी खराब काम मे प्रवृत्त न हो।

माता-पिता अपनी संतान को गहने पहनाते हैं तो इस बात की सावधानी भी रखते हैं कि कोई गहने न ले जाए अथवा गहनो के लोभ से कोई सन्तान को खराब रास्ते पर न ले जाए या कोई उसे मार न डले । इसी भांति यह सावधानी भी रखनी चाहिए कि मन खराब संगति में न पड़ जाये । मन जब खराब कामो मे प्रवृत्त होने लगे तब उसे वहा से रोककर सत्कर्मों मे प्रवृत्त करना ही मन के निरोध का प्रारम्भ है। इस प्रकार निरोध करने से ही मन एकाग्र होगा और जब मन एकाग्र होगा तभी जीवन मे ज्ञानशक्ति प्रकट होगी। ज्ञान बाहर से नही आता । वह तो आत्मा में ही मौजूद है, मगर मन एकाग्र न होने से ज्ञान पर आवरण आ जाता है । अगर मन को एकाग्र किया जाये तो ज्ञान का आवरण हट जाए और ज्ञानशक्ति प्रकट हो जाए । जब ज्ञानशक्ति प्रकट हो जाती है तब मिथ्यात्व का नाश हो जाता है और सम्यक्त्व को विशुद्धि होती है।

वस्तु को विपरीत रूप मे जानना, समझना या मानना मिथ्यात्व है । जीव को अजीव, अजीव को जीव, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। अज्ञान के कारण ही भ्रम होता है और भ्रम का निवारण ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। ज्ञान मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है और मन की एकाग्रता मन की समाधि से उत्पन्न होती है । अतएव मन को खराब कामो मे जाने से रोकने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए। मन की समाधि मोक्ष-प्राप्ति का कारण है। मनोयोग मोक्षप्राप्ति के लिए सहजयोग है और सहजयोग से

आत्मा का कल्याण होता है। रथनेमि में पहले कितना अज्ञान था। अपने भाई अर्थात् भगवान् नेमिनाथ द्वारा त्यागी हुई राजीमती को अपनी पत्नी बनाने के लिए वह तैयार हो गया था। परन्तु राजीमती ने सदुपदेश द्वारा उसका अज्ञान दूर किया तब वह सयम मे प्रवृत्त हो गया, क्योकि उसने ज्ञान द्वारा वस्तु का स्वरूप समझ लिया था। इस प्रकार जब वस्तु का स्वरूप समझ में आ जाता है तो किसी प्रकार का भ्रम नही रहने पाता। भ्रम तो अज्ञान के कारण हो उत्पन्न होता है। वस्तु के प्रति जो मोहबुद्धि पाई जाती है वह भी अज्ञान के कारण ही होती है। ज्ञान उत्पन्न होते ही मोहबुद्धि भी नष्ट हो जाती है। मोहबुद्धि का जब नाश हो जाता है तब जड-चेतन का विवेक उत्पन्न होता है। विवेक उत्पन्न हो जाने पर प्रतीत होने लगता है कि पुद्गल जड है, चल है और जगत् की जूठन है और चेतन अनन्त शक्तियो से सम्पन्न ज्योतिर्मय है। इस प्रकार विवेकज्ञान से सासारिक पदार्थों का वास्तविक स्वरूप समझ मे आ जाता है। वस्तु का वास्तविक स्वरूप मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की विशुद्धि हुये बिना समझ मे नही आ सकता। अतएव आत्मकल्याण के लिए मन को समाधिस्थ करने की अत्यन्त आवश्यकता है। मन को सत्यमार्ग पर स्थापित किये बिना एकाग्रता नही आती और ज्ञानशक्ति उत्पन्न नही होती और ज्ञानशक्ति उत्पन्न न होने के कारण मिथ्यात्व का नाश नही होता तथा सम्यक्त्व की विशुद्धि नही होती। परिणामस्वरूप आत्मा का कल्याण भी नही हो सकता। संक्षेप मे, आत्मकल्याण के लिए मन का निरोध करना आवश्यक है।

मन का निरोध करना कठिन है, परन्तु भगवान् कहते

हैं कि अभ्यास करने से मन का निरोध भी किया जा सकता है। आत्मा का कल्याण मन को समाधिस्थ करने से हो सकता है। अतएव मन को सत्यमार्ग पर स्थापित करने मे ही कल्याण है।

हम सबका ध्येय आत्मा को सुखी बनाना ही है। मगर प्रश्न यह है कि इस ध्येय की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है? शास्त्र मे आत्मा को सुखी बनाने के जो उपाय बतलाये गये हैं, उन्हे अपनाओ, आत्मकल्याण करो। आत्म-कल्याण ही आत्मसुख की चाबी है। ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख प्राप्त करने से ही आत्मा सुखी हो सकता है। अतएव तुम अगर अपने मन को सत्यमार्ग पर स्थापित करके अर्थात् समाधिस्थ करके आत्मकल्याण की साधना का प्रयत्न करोगे तो निस्सन्देह निराबाध आत्मसुख प्राप्त कर सकोगे।



सत्तावनवां बोल

वचन-समाधि

मन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से होने वाले लाभ का वर्णन किया जा चुका है। अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि वचन को सत्यमार्ग मे स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न—वयसमाहारणयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ?

उत्तर— वयसमाहारणयाए वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ, वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ ॥५७॥

शब्दार्थ

प्रश्न - भगवन् ! वचन के समाधारण से अर्थात् वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— वचन को सत्यमार्ग मे स्थापित करने से जीवात्मा दर्शनपर्याय-सम्यक्त्वपर्याय निर्मल बनाता है और

सम्यक्त्व की विशुद्धि करने से सुलभबोधिता प्राप्त करता है तथा दुर्लभबोधिता से निवृत्त होता है।

व्याख्यान

वचन को खराब कामो से निवृत्त करके, अच्छे कामों मे प्रवृत्त करना ही वचन निरोध का प्रारम्भ है। इस प्रकार वचन का निरोध करने से आत्मा मे बहुत शक्ति आती है। वचन का दुरुपयोग न करते हुए परमात्मा के गुणगान में उपयोग करने से स्वाध्याय होता है और स्वाध्याय से आत्मा की शक्ति बढती है।

कहा जा सकता है कि स्वाध्याय तो पांच प्रकार का बतलाया गया है। उसमे परमात्मा के गुणगान को स्वाध्याय नही गिना। ऐसी स्थिति मे परमात्मा का गुणगान स्वाध्याय कैसे कहा जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि स्वाध्याय दो प्रकार से होता है—भाव से और अर्थ से। परमात्मा का गुणगान करने वाला भाव से तो स्वाध्याय ही करता है। परमात्मा का गुणगान करने मे वचन का सदुपयोग करना अथवा शास्त्र मे णमोकारमन्त्र की बडी महिमा बतलाई है—अत' णमोकार मन्त्र का जाप करने मे वचन का सदुपयोग करना भावस्वाध्याय ही है। णमोकारमन्त्र मे मन लगाकर वचन द्वारा उसका जाप करना स्वाध्याय ही है। इस प्रकार स्वाध्याय करने से आत्मा का बहुत लाभ होता है।

जिस वचन का सदुपयोग करने से आत्मा को एकान्त लाभ होता है, उसका दुरुपयोग करके आत्मा का अहित

करना कहां तक उचित है। शास्त्र में तो वचन का महत्त्व वतलाया ही है उपनिषद् मे भी वचन का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि 'व णी की शक्ति को नष्ट न किया जाये तो आत्मा को बहुत ही लाभ हो सकता है।'

इसी अध्ययन के चौदहवें वोल मे गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि स्तवस्तुतिमगल से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—स्तवस्तुतिमगल से जीव ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप वोधिलाभ करता है।

इस प्रकार वचन का समाधारण करने से अर्थात् वचन का खराव कामो मे दुरुपयोग न करके, अच्छे कामो से सदुपयोग करने से सम्यक्त्व को विशुद्धि होती है। सम्यक्त्व और दर्शन–दोनो पर्यायवाची शब्द है। काया से अच्छे काम न हो सके तो भी अगर वचन को अच्छे कामो मे प्रयुक्त किया जाये तो भी लाभ हो सकता है।

वचन द्वारा मनुष्य के स्वभाव की परीक्षा होती है। वाणी के आधार पर मनुष्य के हृदय के भावो का अनुमान किया जा सकता है। जब साधारण मनुष्य भी वाणी से मन के भाव जान लेता है तो क्या परमात्मा वाणी से हृदय के भाव नही जानता होगा? परमात्मा सर्वज्ञ होने के कारण सभी भाव हस्तामलकवत् जानता है। अतएव अपने मन और वचन को खराव कामो में प्रवृत्त न करके परमात्मा के गुणगान मे ही प्रवृत्त करो। इससे तुम्हारी दृष्टि को भी शुद्धि होगी और आचरण की भी। परमात्मा के गुणगान में ही मन और वचन का उपयोग करने से आत्मा का हित किए

प्रकार होता है इस सम्बन्ध मे एक सुना हुआ दृष्टान्त देकर समझाता हू —

सुनते हैं, श्रीपति नामक एक कवि ने निश्चय किया था कि मैं परमात्मा के सिवाय किसी दूसरे का गुणगान नहीं करूँगा। वह कवि बादशाह अकबर के दरबार मे रहता था। कुछ लोगो को श्रीपति कवि की इस प्रतिज्ञा का पता चला। कवि अपनी प्रतिज्ञा मे कितना दृढ है, इस बात की परीक्षा करने के लिए उन्होने बादशाह से कवि की प्रतिज्ञा की बात कही। बादशाह ने कहा—अवसर देखकर कवि की प्रतिज्ञा की परीक्षा करके देखूगा।

एक दिन कवि राजदरबार मे बैठा था। बादशाह नें कवि से कहा— 'कविराज ! अज एक समस्या की पूर्ति कीजिए।' श्रीपति कवि बोले–समस्या की पूर्ति करना मेरा काम है, आप समस्या दीजिये। बादशाह ने कहा—

'करो मिल आश अकब्बर की।'

इस समस्या की पूर्ति कीजिये। समस्या सुनकर कवि समझ गया कि आज मेरी प्रतिज्ञा की परीक्षा हो रही है। पर हर्ज क्या है? अगर मैं सच्चा कवि हूं तो समस्या की पूर्ति भी करूँगा और अपनी प्रतिज्ञा का पालन भी करूँगा। इस प्रकार विचार कर कवि ने इस प्रकार समस्यापूर्ति की —

हरि को यश छाडि औरन को भजे,
जिह्वा जो फटो उस लम्बर की,
अब की दुनिया गुनिया को रटे,
सिर बांधत पोट अटम्बर की।

श्रीपति एक गोपाल भजे,
नहि मानत शक कोउ जब्बर की।
जिसको हरि की परतीति नहीं,
'करो मिल आश अकब्बर की।'

अर्थात् श्रीपति कहते हैं कि जो व्यक्ति परमात्मा का भजन करने मे अपनी जीभ का सदुपयोग न करके लोभ-लालच से अथवा किसी अन्य कारण से दूसरे के गुणगान करने मे जीभ का दुरुपयोग करता है, वह दूसरे की झूठी प्रशंसा करके वास्तव मे अपने मस्तक पर पाप का बोझा लादता है, ऐसे पापी की जिह्वा फटो। श्रीपति कवि कहते है— मैं तो सिर्फ गोपाल का ही भजन कर सकता हू और उन्ही का गुणगान कर सकता हू। जिन्हें परमात्मा पर विश्वास न हो वे लोग भले ही अकबर की आशा करें, मगर मैं तो गोपाल के सिवाय और किसी से कोई आशा नही करता।

श्रीपति का कवित्त सुनकर बादशाह प्रसन्न हुआ। लोग समझ गये कि श्रीपति अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं। बादशाह ने स्वीकार किया कि परमात्मा के सिवाय और कोई बडा नही है।

यह घटना वास्तव मे घटी है या नही, इससे हमारा कोई सम्बन्ध नही है। हमे तो इस घटना के वर्णन से इतना ही सार ग्रहण करना है कि जीभ का उपयोग अगर परमात्मा का भजन करने मे किया जा सकता है तो फिर दूसरे सांसारिक कार्यों में उसका दुरुपयोग करने की क्या आवश्यकता है? परमात्मा को छोडकर अन्य कामो मे जीभ का उपयोग

करेगा तो, कवि के कथनानुसार एक प्रकार की धृष्टता है। परमात्मा त्रिभुवननाथ हैं, अतः उनका ही गुणगान करना उचित है। परमात्मा तीन भुवन के नाथ हैं अर्थात् तीनों लोकों में रहने वाले समस्त जीवों के स्वामी हैं। अतएव जगत् मे रहने वाले किसी भी प्राणी, भूत, जीव तथा सत्त्व की आसातना न करना परमात्मा की प्रार्थना है। जिसमें जो गुण न हो, उस गुण का उसमे आरोप करना भी उसकी आसातना है। जिसमे जो गुण है, उसके यथार्थ गुण का वर्णन करना और अगर अपने मे ऐसा करने की शक्ति न हो तो यह कहना कि—'जिन भगवान् ने जो कुछ कहा है वह नि.शंक है, सत्य है।' इस प्रकार कह कर आत्मा को परमात्मा के गुणगान मे प्रेरित करो। ऐसा करने से समझ लो कि तुम्हारा कल्याण तुम्हारे ही हाथ मे है।

भगवान् ने वचननिरोध से अनेक लाभ बतलाये हैं। जिस व्यक्ति को भगवान् पर भरोसा होगा वह परमात्मा का गुणगान करने में ही वचन का सदुपयोग करेगा। इस प्रकार वचन का सदुपयोग और निरोध करने वाला पुरुष अपने आत्मा का अवश्य कल्याण साध सकता है।



अट्ठावनवाँ बोल



कायसमाधि

मनःसमाधि और वचनसमाधि करने मे जीवात्मा को ज्ञानविशुद्धि और दर्शनविशुद्धि का लाभ होता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है । सब कायसमाधि अर्थात् काय का निरोध करने अ जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते है:—

मूलपाठ

प्रश्न—कायसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?

उत्तर— कायसमाहारणयाए चरित्तपज्जवे विसोहेइ, चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ, अहक्खायचरित्तं विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमतं करेइ ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! कायसमाधि से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर-हे गौतम ! काया को सत्यभाव से सयम में स्थापित करने से अर्थात् काया का निरोध करने से जीवात्मा चारित्र के पर्यायो को निर्मल करता है और चारित्र के पर्याय निर्मल करके अनुक्रम से यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि करके चार केवली कर्मांशो को खपाता है और तत्पश्चात् वह जीवात्मा सिद्ध बुद्ध मुक्त तथा शान्त होकर सब दुःखो का अन्त करता है।

व्याख्यान

काया का निरोध करने से सर्वप्रथम तो चारित्रपर्याय की विशुद्धि होती है । अर्थात् उदयभाव के कारण मलीन हुआ क्षायोपशमिकचारित्र निर्मल हो जाता है । उदयभाव की वृद्धि के कारण क्षायोपशमिकचारित्र दब जाता है और ज्यो-ज्यो उदयभाव घटता जाता है, त्यो-त्यो क्षायोपशमिक बढता जाता है । इस प्रकार जो उद्यभाव क्षायोपशमिकभाव को दबाता है वह उदयभाव काया का निरोध करने से हीन हो जाता है और फलस्वरूप क्षायोपशमिकभाव की शुद्धि होती है और जीवात्मा यथाख्यातचारित्र प्राप्त करता है ।

यथाख्यातचारित्र कुछ बाहर से नही आता । वह तो आत्मा के स्वभाव मे ही विद्यमान है। जैसे सूर्य पर बादल आ जाने के कारण सूर्य ढका हुआ या मलीन दिखाई देता है, उसी प्रकार कर्म के प्रभाव से यथाख्यातचारित्र भी ढका हुआ और मलीन रहता है । जब काया का निरोध किया जाता है तो मोहकर्म के कारण यथाख्यातचारित्र पर चढा हुआ आवरण दूर हो जाता है तथा यथाख्यातचारित्र प्रकट हो

जाता है। महावीर भगवान् कहते हैं कि यथाख्यातचारित्र प्रकट होने से केवली अवस्था में विद्यमान रहने वाले चार कर्म - नाम, गोत्र वेदनीय और आयुकर्म - नष्ट हो जाते हैं। यह चारो कर्म अघाति कर्म कहलाते हैं, क्योंकि यह चारो आत्मा के गुणो का घात नही करते, वरन् मोक्ष-प्राप्ति में बाधा उपस्थित करते हैं। इन चारो कर्मों का नाश होने से आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है और परिनिर्वाण पाता है।

काया का निरोध करने मे आत्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय का ऊपर थोडा-सा विचार किया गया है। काया का निरोध करने के सम्बन्ध मे विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि मन और वचन का निरोध कर लेने के बाद भी काया का निरोध करने की क्या आवश्यकता है ? तथा काया स्थूल है और चारित्र के पर्याय सूक्ष्म है। ऐसी स्थिति में स्थूल काया का निरोध करने पर भी सूक्ष्म चारित्रपर्याय किस प्रकार विशुद्ध हो सकते है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के बीच श्रीभगवतीसूत्र मे जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनका उल्लेख कर देना सहायक होगा। गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया—'आया भते ! काया वा अन्ने भते ! काया ?' अर्थात् हे भगवन् ! आत्मा और काया एक ही हैं या अलग-अलग ?

भगवान् ने फरमाया—'गोयमा ! आया वि काया अन्ने वि काया।' अर्थात् आत्मा और शरीर एक भी है और दोनो भिन्न-भिन्न भी है।

जिस प्रकार दूध और घी एक भी हैं और जुदे-जुदे भी हैं, उसी प्रकार आत्मा और काया एक भी है और

भिन्न-भिन्न भी हैं । अगर दूध और घी एक ही होता तो दूध मे से घी निकलता ही कैसे ? और निकालने की आवश्यकता भी क्या थी ? और यदि दोनो भिन्न ही हो तो पानी की तरह दूध में से घी कैसे निकलता ? इसी भांति आत्मा और काया एक भी है और भिन्न भिन्न भी हैं । काया के नाम पर यह प्रश्न आत्मा के सम्बन्ध में ही किया गया है, अतः काया के सम्बन्ध मे किया हुआ यह जुदा प्रश्न अनुचित नही है ।

कुछ लोग आत्मा को काया से सर्वथा भिन्न मानते हैं और कुछ लोग दोनो को सर्वथा एक ही मानते हैं । परन्तु यह दोनो एकान्तवाद सच्चे नही हैं । क्योकि आत्मा और शरीर किसी दृष्टि से एक भी हैं, किसी दृष्टि से अलग-अलग भी है । यद्यपि आत्मा और शरीर कथचित् एक भी हैं परन्तु दोनो मे अलग हो जाने की शक्ति है और इस कारण वे भिन्न-भिन्न भी हैं ।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब आत्मा और शरीर किसी अपेक्षा से एक हैं तो फिर इन दोनो का सयोग कब से हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन दोनो का सयोग अनादि से है । कहा जा सकता है कि यदि दोनो का सयोग अनादिकाल से है तो अनादि सयोग छूट कैसे सकता है ? इस शका का समाधान यह है कि दोनों का सयोग अनादि होने पर भी वह सयोग छूट सकता है । धातु और पाषाण का सयोग तथा घी और दूध का सयोग कब से है? पहले कौन था और पीछे कौन हुआ ? इस प्रश्न का यही उत्तर दिया जा सकता है कि दोनो का सयोग एक ही साथ हुआ है, फिर भी उसे भिन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार

कर्म के कारण आत्मा और शरीर का सयोग हुआ है। कर्म का भी आत्मा के साथ सयोग अनादि से है। ऐसा कदापि नही हो सकता कि आत्मा कभी कर्मरहित हो गया था और फिर कर्म से युक्त हो गया हो। आत्मा एक बार कर्मरहित हो जाने के बाद भी फिर कर्म से लिप्त हो जाता है, ऐसा मान लिया जाये तो सिद्ध भगवान् भी जो कर्मों से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, फिर कर्मों से लिप्त हो जाएँगे। वास्तव मे कर्म और आत्मा का सयोग-सम्बन्ध अनादिकालीन होने पर भी, दूध और घी तथा धातु और पाषण की तरह दोनों अलग अलग हो सकते हैं। आत्मा और कर्म का बध है और इसी कारण आत्मा का मोक्ष होता है अर्थात् आत्मा और कर्म का सम्बन्ध टूट जाता है। साख्यमत का कथन है कि आत्मा बधरहित अर्थात् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त है, उनके मतानुसार आत्मा के साथ कर्म का बध होना ही नही है। किन्तु यदि आत्मा का किसी के साथ बध न माना जाये तो आत्मा का मोक्ष भी नही हो सकता। क्योंकि जब बध ही न होगा तो मोक्ष कैसे होगा? बध है तभी मोक्ष भी है। मोक्ष का अर्थ ही बधन का छूटना है। जहा बन्धन ही न होगा वहां उसका छूटना किस प्रकार कहा जा सकता है।

कहने का आशय यह है कि आत्मा और कर्म का सयोग अनादिकालीन होने पर भी टूट सकता है। आत्मा कर्म के सयोग से पृथक् हो सकता है। आत्मा और कर्म का जो सयोग अनादिकालीन कहा गया है, वह प्रवाह की अपेक्षा है। जैसे नदी का बहता पानी देखकर कहा जाता है कि यह वही पानी है जो कल था। परन्तु वास्तव में कल जो पानी था, वह तो बह गया है; फिर भी पानी के

सतत प्रवाह के कारण ऐसा जान पडता है कि आज भी वही कल वाला पानी है। इसी तरह कर्म भी प्रवाहरूप में आते रहते हैं और इसी कारण उनका सयोग अनादिकालीन है। वास्तव मे कर्म सदा-सर्वदा सरीखे नही रहते। जिस प्रकार नदी का पानी पलटता रहता है उसी प्रकार कर्म भी बदलते रहते हैं। कर्म प्रवाहरूप से आत्मा मे आते ही रहते हैं, इसीलिए कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल का माना जाता है।

ऐसा समझकर आत्मा को शरीर से पृथक् करना चाहिए। काया को विषमता मे से बाहर निकालकर समता-भाव मे प्रवर्तित करना ही काया का समाधारण कहलाता है।

मन, वचन और काय के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न रीति से और इसी क्रम के अनुसार प्रश्न करने का कारण यह भी हो सकता है कि केवली भगवान् पहले मनोयोग का निरोध करते हैं, फिर वचनयोग का निरोध करते हैं और तत्पश्चात् काययोग का निरोध करके सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होकर परि-निर्वाण प्राप्त करते हैं। अतएव अपन को भी काया का निरोध करने का प्रयत्न करना चाहिए। काया के निरोध से हम लोग भी सिद्ध हो सकते हैं। कहा भी है:—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म–मैल का अन्तरा, बूझे विरला कोय॥
जीव-कर्म भिन्न-भिन्न करो, मनुष्य जनम को पाय।
ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज धर्म लगाय॥

जीव और शिव अर्थात् सिद्ध मे केवल कर्म का ही अन्तर है। जीव कर्मसहित है और सिद्ध कर्मरहित है। सिद्ध

पहले से ही कर्मरहित नही होते वरन् जीव में से ही सिद्ध होते हैं। जो जीव कर्मरहित हो जाता है वही सिद्ध कहलाने लगता है। अतएव जीवात्मा को कर्मरहित होकर सिद्ध बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म सिद्धत्व प्राप्त करने के लिए ही प्राप्त हुआ है। मनुष्यजन्म मोक्ष का द्वार है। मोक्ष-मन्दिर मे पहुचने के बाद वहां से फिर वापिस नही आना पडता। वहा आत्मा अनन्त आनन्द मे रमण करता है। मोक्ष मे जाने के लिए तत्त्व का विचार करके, धर्म की सहायता लेकर जीवात्मा को मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। जीवात्मा कर्म से मुक्त होने का मार्ग जान सके, इसीलिए कायसमाधारण का प्रश्न पूछा गया है। शास्त्र मे सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होने का जो मार्ग बतलाया गया है, उस मार्ग पर अगर जीवात्मा प्रस्थान करे तो वह अवश्य ही अपना कल्याण कर सकता है।



उनसठवां बोल



ज्ञानसम्पन्नता

आत्मा को परमात्ममय बनाने का श्रेष्ठ साधन ज्ञान है। अतएव ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे श्री गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—नाणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—नाणसंपन्नयाए जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ, जहा सुई ससुत्ता न विणस्सइ तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ, नाणविणयतवचरित्ताजोगे संपाउणइ, ससमय-परसमयविसारए य संघायणिज्जे भवइ ॥५९॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! ज्ञानसम्पन्न होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— ज्ञानसम्पन्न होने से जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकता है और चतुर्गति रूप ससार-अटवी में दु खी नही होता । जैसे सूत्र (सूत-डोरा) सहित सुई गुम नही होती, उसी प्रकार सूत्र (आगमज्ञान) से युक्त ज्ञानी पुरुष ससार मे भूलता नही है और ज्ञान चारित्र, तप तथा विनय के योगो को प्राप्त करता है । साथ ही अपने सिद्धान्त और दूसरो के सिद्धान्त को ठीक तरह जानकर असत्य मार्ग मे नही फँसता है ।

व्याख्यान

मन, वचन और काय के निरोध के विषय में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनके विषय में विवेचन किया जा चुका है । इन प्रश्नोत्तरो मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि का खास तौर पर कथन किया गया है । अतएव गौतम स्वामी ने अब ज्ञान की प्राप्ति से होने वाले लाभ के विषय मे प्रश्न किया है । इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् फरमाते हैं--ज्ञानसम्पन्न जीवात्मा सभी भावो को अर्थात् तत्त्वो को जान सकता है और तत्त्वो का ज्ञान हो जाने के कारण यह चारगति रूप संसार में विनष्ट नही होता। जैसे डोरा वाली सूई कदाचित् नीचे गिर जाये तो भी डोरे के कारण जल्दी मिल जाती है, उसी प्रकार जो जीवात्मा श्रुतज्ञानरूप सूत्र से युक्त है, वह भी चतुर्गतिरूप ससार मे विनष्ट नही होता। कदाचित् उसे ससार मे भ्रमण करना भी पडता है तो वह जल्दी ही ससार से बाहर निकल जाता है । इसके सिवाय वह ससूत्र जीव श्रुतज्ञान के प्रभाव से ससार मे रहते हुए भी ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को शीघ्र प्राप्त करके मुक्त हो

जाता है और श्रुतज्ञान के प्रभाव से उस जीवात्मा को प्रत्यक्ष, ज्ञान-अवधि, मन पर्यय, केवल आदि ज्ञान-- भी प्राप्त होते हैं और विनय, तप तथा चारित्र की भी प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, वह श्रुतज्ञानी जीव स्वसमय (स्वसिद्धान्त) और परसमय (पर-सिद्धान्त) का ज्ञाता हो जाने के कारण विद्वानो के समागम मे भी आता है और उनका सशय निवारण करने में भी समर्थ होता है।

यहाँ ज्ञान के विषय में जो प्रश्न किया गया है, उसका सम्बन्ध श्रुतज्ञान के साथ है, क्योकि उद्देश, समुद्देश, आज्ञा और अनुज्ञा श्रुतज्ञान में ही होते हैं अर्थात् प्रारम्भ और समाप्ति श्रुतज्ञान की ही होती है। 'श्रुतज्ञान प्राप्त करो' ऐसा उपदेश श्रुतज्ञान के लिए ही दिया जाता है। मतिज्ञान आदि के लिए ऐसा उपदेश देने की आवश्यकता नही रहती। यहाँ ज्ञान का सामान्य रूप से कथन किया है, अतः पाँचो ज्ञानो का उसमे समावेश हो सकता है किन्तु वास्तव मे इस प्रश्नोत्तर का सम्बन्ध श्रुतज्ञान के साथ ही है।

इस बोल में यह प्रश्न पूछा गया है कि ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस पर विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि ज्ञान का अर्थ क्या है?

शब्दशास्त्री ज्ञान की तीन प्रकार से व्याख्या करते है—भावप्रधानता से, कर्तृ प्रधानता से और करणप्रधानता से। 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' अर्थात् वस्तु को जानना भावप्रधान ज्ञान है। 'जानातीति ज्ञानम्' अर्थात् जो वस्तु को जानता है वह कर्तृप्रधान ज्ञान है और 'ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानम्' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु जानी जाये वह करणप्रधान ज्ञान है। इस

तरह भाव, कर्ता और करण को प्रधानता देकर ज्ञान की तीन प्रकार से व्याख्या की जाती है । परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि यहा जो ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है उसी मे तीनो पदार्थ गतार्थ हो जाते हैं । ज्ञान के तीनो अर्थ वस्तुस्वरूप समझने के लिए हैं--एक दूसरे का खडन करने के लिए नही। जिस प्रकार सूत्र साहित्य मे वस्तुस्वरूप समझने के लिए सात नयों का वर्णन किया गया है । यह सातो नय एक दूसरे का विराध नही करते किन्तु वस्तुस्वरूप समझने मे सहायता पहुचाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान की तीन व्याख्याए एक दूसरे का विरोध नही करती किन्तु वस्तुस्वरूप समझने मे सहायता देती हैं। यद्यपि सामान्यतया सातो नयो मे भेद है, परन्तु नयभेद एक नय द्वारा दूसरे नय का खडन करने के लिए नही है। इसी प्रकार ज्ञान की तीनो व्याख्याएं वस्तु-स्वरूप समझने के लिए है--आपस के खण्डन के लिए नही ।

अगर एक नय दूसरे का खडन करे तो वह दुर्नय कहलाता है, उसी प्रकार ज्ञान की व्याख्याए भी अगर एक दूसरी का विरोध करे तो वह भी मिथ्या हो जाएगी ।

कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु का स्वरूप सरलतापूर्वक समझने के लिए ज्ञान आदि की विभिन्न व्याख्याए की जाती हैं । हमे भी ज्ञान की व्याख्याओ का उपयोग वस्तु-स्वरूप समझने में करना चाहिए । क्लेशोत्पादक वाद-विवाद करने मे ज्ञान की व्याख्याओ का दुरुपयोग नही करना चाहिए ।

अब मूल प्रश्न पर विचार करें। श्रुतज्ञान प्राप्त करने

से जीवात्मा को क्या लाभ होता है. इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा ही है कि श्रुतज्ञान द्वारा जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थभाव को जान सकता है । प्रत्यक्षज्ञानियो ने जो कुछ देखा है, वह श्रुतज्ञान से ही जाना जा सकता है । उदाहरणार्थ— हम लोगो ने मेरु पर्वत नही देखा है, परन्तु जिनके ज्ञान का आवरण हट गया है और जिन्हे प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया है, उन्होने मेरु पर्वत देखा है । अतएव हम लोग श्रुतज्ञान से मेरु पर्वत जानते हैं। प्रत्यक्ष-ज्ञानी पदार्थों को प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु श्रुतज्ञानी, प्रत्यक्ष-ज्ञानी द्वारा देखे हुए पदार्थों को श्रुतज्ञान से जानकर उन पर श्रद्धा रखता है । भगवान् महावीर ने जो कुछ देखा या जाना था उसे हम प्रत्यक्ष रूप से नही देख सकते । भग-वान द्वारा देखी और जानी हुई वस्तु हम लोग श्रुतज्ञान से जान सकते हैं। इसी कारण श्रीदशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन मे श्रुतज्ञान की महिमा बतलाते हुए कहा है –

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावग ।
उभय पि जाणइ सोच्चा, ज सेयं त समायरे ।।

अर्थात् पुण्य को भी सुनकर जान सकते हैं और पाप को भी सुनकर जान सकते हैं तथा पुण्य-पाप को भी सुन-कर जान सकते हैं अतएव श्रुतज्ञान प्राप्त करके जो कल्या-णकारी हो उसी का आचरण करो ।

पुण्य-पाप सुनकर ही जाना जा सकता है, परन्तु सुन-कर हमे करना क्या चाहिए, इस सम्बन्ध मे कहा गया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

अर्थात्— संक्षेप में धर्म का सार सुनकर उसे जीवन मे उतारो। सब धर्मों का सार यही है कि जो कार्य तुम्हे अपने प्रतिकूल जान पडता हो, दूसरो के प्रति उसका आचरण मत करो।

श्रीसूयगडांग सूत्र में भी ऐसा ही कहा.—

एवं खु नाणिणो सार, ज न हिंसइ किंचणं।

अर्थात् – ज्ञानीजनो के कथन का सार मात्र यही है कि तुम किसी की हिंसा मत करो–किसी को सताओ नही।

श्रीउत्तराध्ययसूत्र के छठे अध्ययन मे सर्वभूत-समभाव रखने के लिए स्पष्टरूप से कहा है:—

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए॥

(श्री उ० अ० ६)

अर्थात्– अपने ही आत्मा की तरह सर्वत्र, सब प्राणियो को देखकर अर्थात् यह जानकर कि अन्य प्राणियो को भी अपने प्राण उसी प्रकार प्रिय हैं जैसे मुझे हैं, भय और वैर से निवृत्त हुआ आत्मा किसी भी प्राणी के प्राणो का हनन न करे।

शास्त्र के इस सारगर्भित सूत्र को स्पष्टरूप से समझाने के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण देता हू.—

मान लो, कोई क्रूर मनुष्य हाथ मे तलवार लेकर तुम्हें मारने के लिए तैयार हुआ है। इसी समय कोई दयालु मनुष्य आता है और वह उसे मारने से रोकता है। अब इन दोनो मे से तुम्हे कौन-सा मनुष्य अच्छा लगेगा? इस

प्रश्न का निश्चितरूप से तुम यही उत्तर दोगे कि हमें बचाने वाला मनुष्य ही अच्छा लगेगा । यह बात किसी के कहने से या किसी दूसरे की प्रेरणा से नही कहते । यह कथन आत्मसाक्षी का कथन है तो जिस प्रकार तुम्हे यह पसन्द नही है कि कोई तुम्हे मारे, उसी प्रकार दूसरे प्राणियो को भी यह पसन्द नही है कि तुम उन्हे मारो । अतएव किसी को न मारना धर्म है । तुम्हारे सामने भूठ बोलकर कोई तुम्हे ठग ले जाये अथवा तुम्हारी कोई चीज चुरा ले जाये तो क्या तुम यह पसन्द करोगे ? तो क्या दूसरो को ठगना या दूसरो की कोई चीज छीन लेना तुम्हारे लिए उचित है ? अतएव जैसा व्यवहार तुम अपने लिए पसन्द नही करते वैसा व्यवहार तुम दूसरो के साथ भी मत करो। इतना ही नही, बल्कि अगर तुम्हारी शक्ति है तो उस शक्ति का उपयोग दूसरो की सहायता के लिए करो । अपनी शक्ति का सदुपयोग करना स्व-पर का कल्याण करना है । शक्ति होने पर भी अगर दूसरो की सहायता मे उसका उपयोग नही करते तो तुम्हारी शक्ति किस काम की है ? शक्ति होने पर भी दूसरो की सहायता न करने वाला कैसा कहलाता है, इस विषय मे एक प्राचीन कथा सुनाता हू ।

राजशेखर नामक एक पडित बहुत संकटमय अवस्था मे था । खाने के लिए उसे भरपूर अन्न भी नही मिलता था । ऐसी दुखद अवस्था मे भी उसने धीरज नही छोड़ा। उसने विचार किया-- अगर मैं पुरुषार्थ करूँगा तो मेरी दरिद्रता दूर हो जायेगी। इस प्रकार विचारकर वह आजीविका की पूर्ति के लिए धारा नगरी मे (वर्तमान धार में) आया ।

एक दिन राजशेखर पंडित मिट्टी के सकोरा में खराब अनाज साफ कर रहा था। राजा भोज ने घूमने जाते समय यह दृश्य देखा। यह देखकर राजा समझ गया कि यह कोई विद्वान पुरुष जान पडता है। उसकी विद्वत्ता की जाच करने के लिए उसे लक्ष्य करके राजा भोज ने संस्कृत में कहा-- जो लोग अपना पेट भी नही भर सकते, वे इस ससार मे जीवित रहे तो क्या और जीवित न रहे तो क्या ?

राजा का यह कथन सुनकर राजशेखर के हृदय को बडा आघात लगा। उसने संस्कृत भाषा मे ही उत्तर दिया- जो शक्तिशाली होकर दूसरो की सहायता नही करते वे इस ससार मे रहे तो क्या और न रहे तो क्या ?

राजशेखर का करारा उत्तर सुनकर भोज को विश्वास हो गया कि यह कोई विद्वान् पुरुष है। मगर इतना विद्वान् होने पर भी यह इतना गरीब क्यो है ? यह जानने के लिए भोज ने पूछा— किस कारण तुम्हारी ऐसी दशा हुई है ? राजशेखर ने कहा—तुम सरीखे उदार राजा सब जगह नही हैं। इसी कारण मेरी यह दशा हुई है। यह रहस्यपूर्ण उत्तर सुनकर राजा ने मन मे विचार किया -अब मुझे इस विद्वान् की पूरी-पूरी सहायता करनी ही चाहिए।

इस प्रकार विचार कर राजा हाथी से उतर पडा और हाथी राजशेखर को दे दिया। राजशेखर सोचने लगा- मुझे तो पेटभर खाना नही मिलता ! अब मैं इस हाथी को अपने घर कैसे बांधू ! इस प्रकार विचार कर राजशेखर ने हाथी के मुख के पास अपने कान लगा दिये और अपना सिर इस तरह हिलाने लगा, मानो हाथी पंडित के कान मे कुछ कह रहा हो ! यह विचित्र दृश्य देखकर राजा ने पूछा-

'क्या हाथी कुछ कह रहा है ?'

राजशेखर – जी हां। हाथी मुझसे कह रहा है कि मुझे लेकर तुम बांधोगे कहाँ ? अतएव भलाई इसी मे है कि तुम राजा को फिर भेंट रूप में मुझे सौंप दो। ऐसा करने से मैं भी आनन्द में रहूगा और राजा द्वारा जो धन तुम्हे पुरस्कार मे मिलेगा, उसे पाकर तुम भी आनन्द में रहोगे।

राजा भोज राजशेखर का आशय समझ गया। उसने राजशेखर को बहुत-सा धन देकर सुखी बना दिया।

कहने का आशय यह है कि अपने पास शक्ति हो तो प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को दूसरो के दुख दूर करने में उसका व्यय करना चाहिए। दूसरो की सहायता करने वाला ही दूसरो से सहायता लेने का अधिकारी है। जो लोग ज्ञान दर्शन-चारित्र की वृद्धि करने में सहायक बनते हैं, वे स्व-पर का कल्याण करते हैं।



साठवां बोल



दर्शनसम्पन्नता

पिछले बोल मे ज्ञानसम्पन्नता से होने वाले लाभ का विचार किया गया है। ज्ञानसम्पन्नता से जीवात्मा समस्त पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकता है और फलस्वरूप चतुर्गतिरूप ससार अटवी में दुख नही पाता। जैसे डोरा वाली सुई गुमती नही, उसी प्रकार ज्ञानी जीव ससार की भूल-भूलैया मे नही पडता और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा विनय के योग प्राप्त करता है। इसी प्रकार अपने और दूसरो के सिद्धान्त को भलीभाति जानकर असत्य मार्ग मे फँसता नही है।

भगवान् महावीर ने ज्ञानप्राप्ति का मार्ग बतलाया है। सच्चा ज्ञान, सम्यक्त्व अर्थात् सच्चे दर्शन के अभाव मे उत्पन्न नही होता। अतएव अब दर्शन के विषय मे प्रश्न किया जाता है।

ज्ञान और दर्शन का परस्पर मे सहयोग है। जब ज्ञान होता है तो दर्शन भी होता है और जब दर्शन होता है तब ज्ञान भी होता है। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है तो दर्शन

के विषय में अलग प्रश्न क्यो किया गया है ? इम प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रुतज्ञान सांव्यवहारिक है, जब कि दर्शन सांव्यवहारिक नही है। ज्ञान का तो आदान प्रदान हो सकता है पर दर्शन का आदान-प्रदान नही हो सकता। इसके अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान तभी उत्पन्न होता है, जब सम्यग्दर्शन विद्यमान हो । दर्शन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नही हो सकती। शास्त्र मे कहा है--'नादसणिस्स नाण।' अर्थात् जिस व्यक्ति में दर्शन अर्थात् सम्यक् श्रद्धा नही होती उसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता । उसका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है । वही ज्ञान सच्चा है जो सम्यक्त्व के साथ होता है। ज्ञान भी क्षायोपशमिक भाव है और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) भी क्षायोपशमिक भाव है । मगर दोनो मे सम्यक्त्व होने और न होने के कारण ही अन्तर है। अतएव गौतम स्वामी अब दर्शन के विषय मे भगवान् से प्रश्न करते हैं --

मूलपाठ

प्रश्न—दणसपन्नयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—दसणसपन्नयाए गं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, पर न विज्झायइ, पर अविज्झमाणे अणुत्तरेण नाणदसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

प्रश्न-- भगवन् ! दर्शन प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर-- गौतम ! दर्शनसम्पन्न (सम्यग्दृष्टि) जीव ससार के मूल मिथ्यात्व अज्ञान का छेदन करता है । उसके

ज्ञान का प्रकाश बुझता नही है और उस प्रकाश में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन से अपने आत्मा को सयोजित करके सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

व्याख्यान

भगवान् ने दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का नाश होना बतलाया है। परन्तु मिथ्यात्व का नाश तो क्षयोपशम सम्यक्त्व से भी होता है, फिर दर्शनसम्पन्नता से विशेष लाभ क्या हुआ? इसका उत्तर यह है कि जैसे खुली हवा मे रखे दीपक के बुझ जाने का भय रहता है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के नष्ट होने का भी भय बना रहता है। क्षायिक सम्यक्त्व के लिए भय नही है। इसी कारण भगवान् ने उत्तर मे 'पर' शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का पूर्ण नाश होता है और वह क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है जिसके नाश होने का भय नही रहता। दर्शनसम्पन्नता से जीव को मिथ्यात्व के नाश के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की भी प्राप्ति होती है।

ससार-भ्रमण का प्रधान कारण मिथ्यात्व ही है। कारण के विना कार्य नही होता। ससार-भ्रमण कार्य का कारण मिथ्यात्व है। दर्शनसम्पन्नता मिथ्यात्व का नाश करती है और कारण के अभाव मे कार्य किस प्रकार हो सकता है? जो वस्तु जैसी है उससे विपरीत मानना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का छेद हो जाने से ससार-भ्रमण भी नहीं करना पडता।

मिथ्यात्व ससार का कारण है और सम्यक्त्व मोक्ष का कारण है। दर्शनसम्पन्न व्यक्ति मिथ्यात्व का छेदन करके

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला पुरुष या तो उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है या भव-स्थिति अधिक होने पर अधिक से अधिक तीन भव में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न होकर नष्ट भी हो जाता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् फिर नष्ट नही होता। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से परम ज्ञान और परम दर्शन प्राप्त करके दर्शनसम्पन्न व्यक्ति आनन्दपूर्वक क्षायिक ज्ञानदर्शन में रमण करता है।

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं:- (१) उपशम गुण से प्राप्त होने वाला, (२) क्षयोपशम गुण से प्राप्त होने वाला और (३) क्षायिक गुण मे प्रकट होने वाला सम्यक्त्व। इन तीनो प्रकार के सम्यक्त्वो मे कितना अन्तर है, यह बात पानी का उदाहरण देकर समझाई जाती है। एक पानी ऐसा होता है जो मलीन होता है परन्तु दवा डालने से उसका मैल नीचे जम गया है। दूसरे प्रकार का पानी ऐसा होता है कि वह ऊपर से तो स्वच्छ दिखाई देता है परन्तु उसमे मैल साफ नजर आता है। तीसरे प्रकार का पानी वह है जो पहले मलीन था किन्तु उसका मैल नीचे बैठ जाने पर निर्मल पानी नितार कर अलग कर लिया गया है। इस तीसरे प्रकार के पानी के फिर मलीन होने की सम्भावना नही है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के विपाक मे शान्त हो किन्तु प्रदेश मे उदयाधीन रहता हो, वह क्षयोप-शम से प्राप्त सम्यक्त्व कहलाता है। मिथ्यात्व का उदय जब प्रदेश और विपाक— दोनो मे शान्त हो तब उपशम सम्यक्त्व होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से औपशमिक

सम्यक्त्व अच्छा है । तीसरा सम्यक्त्व क्षायिक है । जब मिथ्यात्व प्रदेश और उदय-- दोनो से पृथक् हो गया हो अर्थात् मिथ्यात्व किसी भी प्रदेश मे अथवा उदय में न रहे तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है ।

एक सम्यक्त्व के होने से ही आत्मा किस प्रकार उन्नत हो सकता है, इस सम्बन्ध मे श्रेणिक का उदाहरण दिया गया है । सम्यक्त्व होने पर उसके सहायक अन्य गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं और उस अवस्था मे आत्मा का भी अभ्युदय होता है ।

राजा श्रेणिक की रानी चेलना थी । चेलना की सदैव भावना बनी रहती थी कि मेरा पति किस प्रकार धार्मिक बने ? उसकी यह मान्यता थी कि अगर मैं अपने पति को धर्मभावना से ओतप्रोत करू तो ही सच्ची पतिव्रता पत्नी कहलाऊँ । दूसरी तरफ श्रेणिक सोचता था-- 'पत्नी को क्या अभी से धर्म की लत लग गई है । इसे इस लत से किसी प्रकार छुडाना चाहिए ।' इस प्रकार पति और पत्नी- दोनो का ध्येय एक दूसरे से विपरीत था और दोनो ही अपने अपने ध्येय के अनुसार कार्य करने मे जुटे हुए थे । रानी सोचती थी महाराज मुझे ठगने का प्रयत्न करते हैं और मैं राजा को शुद्ध करने का प्रयत्न करती हू । राजा सोचता था-रानी को धर्म की बीमारी लग गई है और मैं उसे इस बीमारी से बचाने की कोशिश कर रहा हू ।

श्रेणिक राजा रानी को धर्मश्रद्धा से विचलित करने के लिए कई बार छल-कपट करता था । अतएव रानी ने सबको सूचना कर दी थी कि जो महात्मा चार ज्ञान के

धारक, समर्थ तथा व्रतपालन मे दृढ हो, वही यहां पधारें, क्योंकि यहा राजा की तरफ से, धर्मश्रद्धा से विचलित करने के लिए छल किया जाता है। यहा कोई साधारण साधु न पधारें। इस सूचना पर ध्यान न देकर अगर कोई साधारण साधु यहा पधारेंगे तो वे राजा के कपट-जाल मे फँस जाएँगे और नतीजा यह होगा कि धर्म की अवहेलना होगी। रानी की इस सूचना के कारण श्रेणिक के राज्य मे समर्थ साधु ही आते थे। सामान्य साधुओ ने तो उनके राज्य मे जाना भी बन्द कर दिया था।

एक महात्मा ग्रामानुग्राम विचरते हुए राजगृह में पधारे। राजा ने सुना कि रानी के गुरु राजधानी मे आये हैं। यह सुनकर उसने सोचा— रानी के गुरु को अपमानित करने का यह ठीक अवसर हाथ लगा है। रानी का गुरु भ्रष्ट होगा तो रानी का धर्मगौरव भी हल्का पड जायेगा।

इस प्रकार विचार कर राजा ने एक वेश्या को बुलाकर कहा— तू उस साधु के स्थान पर जा और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट करके वापिस यहा आ। तू मेरा यह काम कर देगी तो तुझे मुह-मागा इनाम दूगा। वेश्या तो राजा का काम मुफ्त मे ही करने को तैयार थी, तिस पर राजा की सहायता और इनाम मिलने की आशा से उसने तुरन्त हाँ भर ली। वह सिंगार सजकर और कामोत्तेजक अन्य सामान लेकर साधु के स्थान पर गई। साधु ने उसे देखते ही कहा—'खबरदार! रात्रि के समय हमारे स्थान पर स्त्रियो का आना निषिद्ध है। यह कोई गृहस्थ का मकान नही है। यहा साधु रहते हैं।'

वेश्या बोली—महाराज! आपका कहना सही है, मगर

आपका कहना वही मान सकती है जो आपकी आज्ञा माथे चढाती हो । मैं तो दूसरे ही कारण म यहा अ ई हूं । मैं आपको किसी प्रकार का कष्ट देने नही आई ' आपका मनो-रजन करने और आपको सुव पहुंचाने के लिए ही आ ई हूं।

इतना कहते-कहते वेश्या, साधु के स्थान मे घुस गई। साधु समझ गये कि यह मुझे भ्रष्ट करने की बुद्धि मे यहा आई है। मैं अपने शीलव्रत पर दृढ हू किन्तु जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैं साधु के शीलव्रत का भग कर आई हु, तब मेरा कहा कौन सुनेगा ?

महात्मा ने उस समय अपनी लब्धि द्वारा विकराल रूप धारण किया । यह देखकर वेश्या घबराई और कहने लगी - महाराज ! क्षमा करो । मुझे बचाओ । मैं तो राजा श्रेणिक के कहने से आई हू । मैं तो अभी यहा से भाग जाती, मगर क्या करू लाचार हूं ' बाहर ताला लग गया है । बाहर निकलने का कोई उपाय नही है । आप मुझ पर दया कीजिये ।

उन महात्मा ने वैक्रिय लब्धि द्वारा अपना वेष ही बदल डाला था । शास्त्र मे कारणवश वेष बदल लेने का विधान है । अपवादरूप मे साधुलिंग को बदलने का शास्त्र मे कथन किया गया है । चारित्र की रक्षा तो उस समय भी की जाती है किन्तु अवसर आ जाने पर लिंग बदल डालने का अपवाद मार्ग मे कथन है ।

एक ओर यह घटना घट रही है। दूसरी ओर राजा, रानी से कह रहा है तुम अपने गुरु की इतनी प्रशसा करती थी, अब जरा उनका हाल तो देखो ! उन्होने तो एक वेश्या घर मे घुसेड रखी है ।

चेलना ने आश्चर्यपूर्ण स्वर से कहा-- ऐसा ? मगर जब तक मैं अपनी आखो न देख लू तब तक मान नही सकती। अगर यह बात सच होगी तो मैं उन्हे अपना गुरु नही मानूगी। अपन तो सत्य के उपासक हैं। आप जैसा कहते हैं दिखलाइए।

राजा-- मैं तो देख ही चुका हूं। अब बात बढाने से क्या लाभ है ?

रानी--जब तक मैं अपनी आखो से देख न लूं तब तक हर्गिज मानने को तैयार नही। अगर मैं ऐसा देखूंगी तो उसी घड़ी उन्हे साधु मानना छोड़ दूगी।

आखिर राजा, चेलना रानी को साथ लेकर साधु के स्थान पर आया। दरवाजा खोला गया। दरवाजा खुलते ही वेश्या ऐसी भागी आई, मानो पीजरा खुलते ही पक्षी भागकर निकला हो ! आते ही उसने कहा— आप और कोई भी काम मुझ सौंप दें, मगर साधु के पास जाने का काम मुझे न बताइएगा। आज इन महात्मा के तपस्तेज में मैं भस्म ही हो गई होती, मगर उन्ही की दया से मेरे प्राण बच गए !

वेश्या की बात सुनकर रानी ने राजा से कहा— महाराज ! यह वेश्या क्या कह रही है ? इसके कहने से तो मालूम होता है कि आपने ही इसे यहा भेजा था। भले ही आपनें इसे भेजा हो मगर मैं तो पहले ही कह चुकी हू कि मेरे गुरु को इन्द्राणी भी नही डिगा सकती। पर यह जो कह रही है, उस पर विचार कीजिए।

रानी की बात सुनकर राजा लज्जित हो गया।

देव को देखकर राजा से कहा-- देखिये महाराज ! यह आपके धर्मगुरु जा रहे है । हाथ मे मछली पकडने का जाल लिए, जाते हुए साधु वेषधारी देव को देखकर राजा ने विस्मय के साथ पूछा--'यह क्या है ?' उसने उत्तर दिया-राजन् ! मैं मछलिया पकडने जा रहा हू । मैं तुम्हारी आँखो के सामने आ गया हू, इसलिए भले ही मुझे दोषी गिन लो, पर वास्तव मे महावीर भगवान् के सभी साधु मेरे समान ही हैं ।

राजा के लिए यह समय सम्यक्त्व से विचलित होने का था, मगर उसकी श्रद्धा तो वज्रलेप के समान दृढ थी । उसने उत्तर मे कहा-अपनी शिथिलता के लिए अपने आत्मा को दोष दो । सब साधुओं को झूठा कलक मत लगाओ । भगवान् महावीर के साधु तुम सरीखे शिथिलाचारी हो ही नही सकते !

राजा श्रेणिक साधु वेषधारी देव को फटकार बतलाकर थोडा और आगे बढे वहा उन्होने गर्भवती स्त्री की तरह मोटे पेट वाली साध्वी अपनी ओर आती देखी । साध्वी कभी गर्भवती नही हो सकती, फिर भी साध्वीवेष मे उस गर्भवती को देखकर राजा ने कहा--'यह कौन अभागिनी है !' साध्वीवेषधारी देव ने कहा--राजन् ! मैं आज अचानक तुम्हारी दृष्टि में आ पडी हूं । नही तो भगवान् महावीर की सभी साध्विया मुझ जैसी दुराचारिणी ही है। राजा ने उसे उपालम्भ देते हुए कहा--'तुम आप दुराचारिणी हो, इस कारण सभी साध्वियो को कलकित करना चाहती हो !'

धर्मश्रद्धा को डिगा देने वाली घटनाएँ देखकर भी

राजा श्रेणिक की निश्चल श्रद्धा मे भगवान् महावीर के धर्म के प्रति लेशमात्र भी सन्देह उत्पन्न नही हुआ। देव, राजा की धर्मश्रद्धा देखकर चकित रह गया। अन्त में उसने अपना मायाजाल समेट लिया। वह राजा के पास आया और कहने लगा––महाराज! तुम्हारी धर्मपरीक्षा करने के लिए ही मैंने यह स्वाग रचे थे।

कहने का आशय यह है कि व्रत-प्रत्याख्यान करने की शक्ति न होने पर भी अगर सच्ची धर्मश्रद्धा कायम रहे अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व हो तो आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। अगर तुम अपने आत्मा का कल्याण करना चाहते हो तो तुम्हे भी सम्यक्त्व मे दृढ रहना चाहिए। इस विषम पचमकाल मे श्रद्धा को विचलित करने वाली अनेक बातें सुनी और देखी जाती हैं। मगर हृदय में सच्ची श्रद्धा हो तो ससार मे कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो तुम्हे धर्म से डिगा सके। धर्मश्रद्धा मे दृढ रहने से ही तुम्हारा कल्याण होगा।



कहने लगा वेश्या की बातो पर अधिक ध्यान देना ठीक नही है । अब यह ब त जाने दो !

रानी ने कहा—ठीक है । यह वेश्या अ त्मा की दृष्टि से मेरी बहिन के समान है फिर भी इसको बात छोड देती हू । मगर आप भी यह बात जाने दीजिए । अच्छा जरा उन महात्मा के पास तो चलें ।

दोनो महात्मा के पास पहुचे । देखा, महात्मा किसी दूसरे ही वेष मे थे । यह देखकर रानी ने राजा से कहा—यह देखो, यह मेरे गुरु ही नही हैं ! मैं तो द्रव्य और भाव-दोनो से जो युक्त हो उसी को अपना गुरु मानती हूं । इन महात्मा का वेष मेरे गुरु का वेष नही है जब मेरे गुरु का वेष ही नही है तो इन्हे अपना गुरु कैसे मान लू ?

कुछ लोग कहते हैं कि रजोहरण और मुखपत्ती में क्या धरा है ! परन्तु वास्तव मे इनका अधिक महत्व है । चिह्न का कितना अधिक महत्व है ! स्टीमर, मोटर आदि पर जो चिह्न रखा जाता है उनका कितना अधिक महत्व गिना जाता है ? इसी प्रकार मुखवस्त्रिका भी जैनधर्म के साधुओ की निशानी है । श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे रजोहरण-मुखवस्त्रिका आदि को ऋषीश्वर की ध्वजा कहा है । इसी शास्त्र मे कहा है—'लोगे लिगपयोयण' अर्थात् लोक मे लिग का प्रयोजन है ।

कहने का आशय यह है कि धर्मी द्वारा ही धर्म की पहचान होती है । रानी ने राजा से कहा—महाराज ! धर्म के प्रति इस प्रकार छल-कपट करना छोड दो । आखिर रानी की बात राजा के गले उतर गई । बाद मे अनाथी

जैसे महानिर्ग्रन्थ के ससर्ग में आने से उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हुई। राजा श्रेणिक सम्यक्त्व के प्रभाव से कसा आत्मलाभ प्राप्त कर सके इस सम्बन्ध मे ग्रन्थो मे कहा है.-

न सेणिग्रो ग्रासितया बहुस्सुग्रो,
न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो।
सो ग्रागमिस्साइ जिणो भविस्सइ,
समिक्ख पन्नाइ वर खु दसणं॥

ग्रर्थात्-- राजा श्रेणिक एक नवकारसी भी नही कर सका था। वह बहुश्रुत भी नही था। साधुपना उसने धारण नही किया था ग्रौर न वह वाचक व्याख्याता ही था। फिर भी शुद्ध सम्यक्त्व के कारण वह भविष्य में पद्मनाम तीर्थङ्कर होगा।

श्रेणिक राजा पहले तो धर्म की आवश्यकता ही स्वीकार नही करता था। किन्तु भगवान् महावीर के तथा महानिर्ग्रन्थ अनाथी मुनि के ससर्ग मे ग्राने के बाद उसमे वज्रलेप जैसी निशक श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। धर्म के प्रति निश्चल श्रद्धा होने के कारण ही श्रेणिक आत्मकल्याण साध सके।

राजा श्रेणिक सम्यक्त्व मे बहुत दृढ थे। उनकी धर्मदृढता की प्रशसा सुनकर एक देव ने विचार किया—आखिर तो श्रेणिक एक मनुष्य है! मनुष्य को धर्म से विचलित करना कौन बडी बात है। एक दिन जब श्रेणिक राजा बाहर घूमने के लिए निकला तो वह देव साधु के वेष मे शिकारी का स्वाग सजकर, शकित होता हुआ राजा के पास से निकला। राजा के कर्मचारियो ने साधु वेषधारी शिकारी

देव को देखकर राजा से कहा-- देखिये महाराज ! यह आपके धर्मगुरु जा रहे है। हाथ मे मछली पकड़ने का जाल लिए, जाते हुए साधु वेषधारी देव को देखकर राजा ने विस्मय के साथ पूछा--'यह क्या है ?' उसने उत्तर दिया-राजन् ! मैं मछलिया पकडने जा रहा हू। मैं तुम्हारी आँखो के सामने आ गया हूं, इसलिए भले ही मुझे दोषी गिन लो, पर वास्तव मे महावीर भगवान् के सभी साधु मेरे समान ही हैं।

राजा के लिए यह समय सम्यक्त्व से विचलित होने का था, मगर उसकी श्रद्धा तो वज्रलेप के समान दृढ थी। उसने उत्तर मे कहा-अपनी शिथिलता के लिए अपने आत्मा को दोष दो। सब साधुओ को झूठा कलक मत लगाओ। भगवान् महावीर के साधु तुम सरीखे शिथिलाचारी हो ही नही सकते !

राजा श्रेणिक साधु वेषधारी देव को फटकार बतलाकर थोडा और आगे बढे वहा उन्होंने गर्भवती स्त्री की तरह मोटे पेट वाली साध्वी अपनी ओर आती देखी। साध्वी कभी गर्भवती नही हो सकती, फिर भी साध्वीवेष मे उस गर्भवती को देखकर राजा ने कहा--'यह कौन अभागिनी है!' साध्वीवेषधारी देव ने कहा--राजन् ! मैं आज अचानक तुम्हारी दृष्टि में आ पडी हू। नही तो भगवान् महावीर की सभी साध्विया मुझ जैसी दुराचारिणी ही हैं। राजा ने उसे उपालम्भ देते हुए कहा-- 'तुम आप दुराचारिणी हो, इसे कारण सभी साध्वियो को कलकित करना चाहती हो !'

धर्मश्रद्धा को डिगा देने वाली घटनाएँ देखकर भी

राजा श्रेणिक की निश्चल श्रद्धा मे भगवान् महावीर के धर्म के प्रति लेशमात्र भी सन्देह उत्पन्न नही हुआ। देव, राजा की धर्मश्रद्धा देखकर चकित रह गया। अन्त में उसने अपना मायाजाल समेट लिया। वह राजा के पास आया और कहने लगा--महाराज ! तुम्हारी धर्मपरीक्षा करने के लिए ही मैंने यह स्वाग रचे थे।

कहने का आशय यह है कि व्रत-प्रत्याख्यान करने की शक्ति न होने पर भी अगर सच्ची धर्मश्रद्धा कायम रहे अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व हो तो आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। अगर तुम अपने आत्मा का कल्याण करना चाहते हो तो तुम्हे भी सम्यक्त्व मे दृढ रहना चाहिए। इस विषम पचमकाल मे श्रद्धा को विचलित करने वाली अनेक बातें सुनी और देखी जाती हैं। मगर हृदय में सच्ची श्रद्धा हो तो संसार में कोई ऐसी शक्ति नही है जो तुम्हे धर्म से डिगा सके। धर्मश्रद्धा मे दृढ़ रहने से ही तुम्हारा कल्याण होगा।



एकसठवां बोल

चारित्रसम्पन्नता

शास्त्र में कहा है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र--यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। तत्त्वार्थसूत्र मे भी कहा है- 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' अर्थात्--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-- तीनो मिलकर मोक्ष का मार्ग है। ज्ञान से वस्तु जानी जाती है, दर्शन से जानी हुई वस्तु पर श्रद्धा की जाती है और तब तदनुसार आचरण किया जाता है। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के वीच जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उन पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अब गौतम स्वामी चारित्र के विषय मे भगवान् से प्रश्न करते हैं.--

मूलपाठ

प्रश्न— चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— चरित्तसंपन्नयाए सेलेसीभाव जणयइ, सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! चारित्रसम्पन्नता से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—चारित्र-सम्पन्नता से जीव शैलेशी (मेरु पर्वत की तरह निश्चल) भाव को प्राप्त करता है। शैलेशीभाव को प्राप्त अनगार बाकी बचे हुए चार कर्मों को खपाता है और फिर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा परिनिर्वाण को प्राप्त करके समस्त दुःखों का अन्त करता है।

व्याख्यान

पूर्ण चारित्रसम्पन्नता से जीव शैलेशी-अवस्था प्राप्त करता है। शैलेशी अवस्था अर्थात् कंपन-रहित अवस्था प्राप्त करना। जैसे शैल अर्थात् पर्वत अकंपन होता है, उसी प्रकार शैलेशी अवस्था को प्राप्त जीवात्मा भी निष्कंप बन जाता है। शैल का अर्थ पर्वत और ईश का अर्थ प्रधान है। जैसे सुमेरु पर्वत अटल-अडोल-अचल और अकंप है, उसी प्रकार पूर्ण चारित्रसम्पन्नता से जीवात्मा मन, वचन तथा काय के योगो को रोककर सुमेरु के समान निश्चलता प्राप्त करता है। चारित्रसम्पन्नता से आत्मा लेश्यारहित अवस्था पाता है, ऐसा अर्थ भी घट सकता है, क्योंकि लेश्या के होने पर ही कंपन होता है। जीव जब लेश्याहीन हो जाता है तब वह अचल बन जाता है।

चारित्र का अर्थ है—पूर्ण शील अथवा पूर्ण संवर की प्राप्ति। अहिंसा, सत्य आदि उत्कृष्ट संवर की प्राप्ति होना उत्कृष्ट चारित्र है। उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त करके आत्मा

तेरहवे गुणस्थान से चोदहवां गुणस्थान प्राप्त करके अडोल-अकंप बन जाता है। अर्थात् मन, वचन तथा काय के योगो का निरोध करके अयोगी बन जाता है । अयोगी होने के बाद जीवात्मा केवली सम्बन्धी चार कर्मों को नष्ट करके पाच लघु अक्षरो के उच्चारण जितनी स्थिति भोगकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है । इस प्रकार वह जीव सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होकर समस्त दुःखो का अन्त करता है ।

साधारणतया पुरुष के लिए स्त्री का और स्त्री के लिए पुरुष का त्याग करना शील समझा जाता है । मगर शास्त्र कहते हैं कि शील मे समस्त संवर के गुणों का समावेश हो जाता है । सवरगुण में आना ही शील कहलाता है । सब प्रकार से पूर्ण अहिंसक, सत्यवादी अस्तेयव्रती, ब्रह्मचारी तथा निष्परिग्रही होना ही सम्पूर्ण शील है । शील के इन साधनो को कोई पूर्ण रूप मे स्वीकार करते हैं, कोई आंशिक रूप मे । श्रीसूयगडांगसूत्र मे कहा है— जो व्यक्ति एक देश से भी शील के साधनो को स्वीकार करता है, वह भी मोक्ष का पथिक है। शील का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला ही मोक्ष के मार्ग पर जा सकता है, अन्यथा नही ।

शीलवान् बनने के लिए सर्वप्रथम हेय, ज्ञेय और उपादेय वस्तु का विवेक करने की आवश्यकता है । हेय, ज्ञेय तथा उपादेय वस्तु का विवेक करके शील का जितना हो सके, उतना पालन निष्कपटभाव से करना चाहिये ।

ससार का कोई भी बल चारित्र-बल का मुकाबला नही कर सकता । लोग धन-जन आदि के बल को बल मानते हैं, मगर शास्त्र का कथन है कि चारित्रबल की तुलना कोई बल नही कर सकता। चारित्रबल हो तो दूसरे

बल स्वतः आ जाते हैं और चारित्रबल के अभाव में दूसरे बल निर्बल हो जाते हैं। राम के पास चारित्रबल को छोड़कर और क्या था ? लेकिन चारित्रबल की बदौलत सभी बल उनके पास आ जुटे। इसके विरुद्ध रावण के पास धनबल, सत्ताबल, सेनाबल आदि अनेक प्रकार के बल मौजूद थे, सिर्फ चारित्रबल उसके पास नही था । इसी कारण उसके सब बल निर्बल और निष्फल सिद्ध हुए। इस प्रकार चारित्रबल की मौजूदगी में सभी बल आ जाते हैं और चारित्रबल के अभाव मे सभी बल निष्फल हो जाते हैं। अतएव सिद्ध है कि चारित्रबल सभी बलो मे महान् है। आज लोग दुःखी होकर दर-दर भटकते हैं। इसका प्रधान कारण चारित्रबल का अभाव है। चारित्रबल से ही आत्मा का अक्षय कल्याण होता है।



बासठ, त्रेसठ, चौंसठ, पैंसठ छांसठवां बोल



इन्द्रिय-निग्रह

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रश्नोत्तर मे भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा कि चारित्र की उत्कृष्टता से जीवात्मा को शैलेशी-अवस्था प्राप्त होती है । इसके बाद वह मुक्त हो जाता है । सवर ही चारित्र है । संवर का स्वरूप बतलाते हुए शास्त्र मे कहा है—इन्द्रियो का निग्रह करना ही सवर है । मगर इन्द्रियनिग्रह क्या है और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे अब प्रश्न किया जाता है ।

प्रत्येक कार्य का फल तो मिलता ही है और फल जानने के बाद ही कार्य मे शीघ्र प्रवृत्ति होती है । फल दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर । लौकिक फल की इच्छा करना उचित नही है । लोकोत्तर फल तो धर्म के साथ ही होता है और उसे जान लेने के बाद धर्मकार्य मे प्रवृत्ति हो सकती है ।

आत्मदमन करने के लिए इन्द्रियो का निग्रह करना आवश्यक है। इन्द्रियो का निग्रह किये बिना आत्मविजय प्राप्त नही की जा सकती। आत्मा का कल्याण करने के लिए श्रोत्रेन्द्रिय आदि का निग्रह करना आवश्यक है। इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय आदि इन्द्रियो का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न—सोइंदियनिग्गहेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— सोइंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गह जणयइ, तप्पच्चइय कम्मं न बधइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ॥ ६२ ॥

प्रश्न—चक्खिन्दियनिग्गहेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— चक्खिन्दियनिग्गहेण मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइय कम्म न बधइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ॥ ६३ ॥

प्रश्न—घाणिन्दियनिग्गहेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— घाणिन्दियनिग्गहेण मणुण्णामणुण्णेसु गधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्म न बधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६४ ॥

प्रश्न जिब्भिन्दियनिग्गहेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— जिब्भिन्दियनिग्गहेण मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागदोसनिग्गह जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६५ ॥

प्रश्न—फासिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— फासिन्दियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से मनोज्ञ या अमनोज्ञ (सुन्दर या असुन्दर) शब्दो में राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति होती है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नही होता और पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है ।

प्रश्न— भगवन् ! चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से सुन्दर-असुन्दर रूपों (दृश्यो) में राग-द्वेषरहित प्रवृत्ति होती है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नही होता और पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है ।

प्रश्न—भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय (नाक) का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— घ्राणेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव सुगन्ध और दुर्गन्ध में राग-द्वेष रहित हो जाता है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नही होता और पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है ।

प्रश्न – भगवन् ! जीभ का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जीभ का निग्रह करने से स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट रसों में जीव राग-द्वेष रहित हो जाता है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नही होता और पहले बंध हुए कर्मों का क्षय करता है ।

प्रश्न—भगवन् ! स्पर्शन इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह से जीव सुन्दर-असुन्दर स्पर्शों मे राग-द्वेष से रहित हो जाता है और रागद्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नही करता और पहले बन्धे हुए कर्मों का क्षय करता है ।

व्याख्यान

इन्द्रियो के निग्रह करने का अर्थ यह नही है कि उन्हे नष्ट कर दिया जाये । इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ है इन्द्रियो पर काबू पाना—उन्हे अपने वश मे रखना । स्वय इन्द्रियों के वश में न हो जाना इन्द्रिय-निग्रह है । जैसे घुड़सवार घोड़े को अपने काबू में रखता है, वह घोडे के वश मे नही हो जाता, उसी प्रकार इंद्रियो को अपने वश में रखना ही इंद्रियनिग्रह है । सवार घोडे को अपने काबू में नही रखेगा तो नतीजा यह होगा कि वह नीचे पड जाएगा । इसी प्रकार इंद्रियो पर काबू न पाने का परिणाम है—आत्मा का पतन । इंद्रियो का निग्रह करने से आत्मा का उद्धार होता है और निग्रह न करने से पतन अवश्यम्भावी है ।

इन्द्रियों का निग्रह करने और न करने में क्या अंतर है और क्या हानि-लाभ है, यह बतलाते हुये एक संस्कृत के कवि ने कहा है :—

विभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्ति च कांक्षसि ।
तदेन्द्रियजय कर्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥
आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो, येनेष्ट तेन गम्यताम् ॥
इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतानि सृष्टाणि स्वर्गाय नरकाय च ॥

अर्थात—अगर तू इस ससार से डरता हो और मोक्ष प्राप्त करना चाहता हो तो इन्द्रियो का निग्रह करने का प्रयत्न कर। इन्द्रियो को वश मे न करना आपदा का मार्ग है और उन्हें वश मे करना सपदा का मार्ग है। इन दोनों में से तुझे जो मार्ग रुचिकर हो, उसी पर तू चल। स्वर्ग और नरक भी इन्द्रियो में ही हैं। इन्द्रियो के निग्रह से स्वर्ग मिलता है और निग्रह न करने से नरक मिलता है। इन दोनो में तुझे जो पसन्द हो, उसे पाने का प्रयत्न कर।

इन्द्रियो का निग्रह करने के लिए तो सभी कहते हैं, विकट प्रश्न तो यह है कि इन्द्रियो का निग्रह किया किस प्रकार जाये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पदार्थों के असली स्वरूप का विचार करके उन्हे निस्सार समझना चाहिये और उन निस्सार पदार्थों से विरक्त होकर, इन्द्रियों को उनकी ओर जाने नही देना चाहिए। साथ ही, जिन कामो से आत्मा का कल्याण होता हो उन्ही कामो मे आत्मा को प्रवृत्त करना चाहिए। इन्द्रियों को वश में करने का यही उपाय है।

शास्त्र का कथन है कि कान, आँख आदि इन्द्रियां स्वर्ग भी दिलाती हैं और नरक भी दिलाती हैं। चारित्र को भ्रष्ट करने वाली बातें कान से सुनना नरक-प्राप्ति का मार्ग है और आत्मकल्याण करने वाली बातें सुनना स्वर्ग-प्राप्ति का रास्ता है। सक्षेप मे, आशय यह है कि इन्द्रियों को बुरे कामो में प्रवृत्त न करके भले कामो मे प्रवृत्त करना ही इन्द्रियनिग्रह का उपाय है।

यहा यह प्रश्न हो सकता है कि बुरा काम किसे कहना चाहिए और भला काम किसे कहना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस कार्य को करने के लिए तुम्हारे अन्त करण मे विषम भाव उत्पन्न हो वह बुरा काम है और जिसे करने के लिए समभाव उत्पन्न हो वह भला (प्रशस्त) काम है। अगर तुम्हारा आत्मा इन्द्रियो का दास न होगा तो वह स्वय ही बुरे-भले काम की परीक्षा कर लेगा। अगर तुम्हारी सत्-असत् का विवेक करने का शक्ति का विकास न हुआ हो तो ज्ञानीजनो की शिक्षा के अनुसार बुरे कामो से हटकर भले कामो मे लगना चाहिए। यो करते-करते एक न एक दिन तुम्हारा आत्मा इन्द्रियो पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर सकेगा।

इन्द्रियो का निग्रह करने के लिए सबसे पहले यह देखो कि चीजें महँगी हैं या इन्द्रिया महँगी हैं ? तुम्हारे कान महँगे हैं या मोती महगे हैं ? कहने को तो कह दोगे कि मोती की बनिस्बत कान महगे हैं, परन्तु मोती गुम जाने पर उसके लिए जितनी चिन्ता करते हो, उतनी चिन्ता क्या उस वक्त भी करते हो जब कान बुरी बातें सुनने को तैयार होता है ? साधारण तौर पर कान से अच्छे और बुरे शब्द

सुनाई देते हैं। कहने का आशय यह नहीं है कि कान का निग्रह करने के लिए कान को नष्ट कर डालो या कानो में फोहा लगा लो! परन्तु खराब वातों की तरफ कान को जाने मत दो। फिर भी अगर खराव शब्द कान में आ पड़ें तो उन पर ध्यान मत दो, जैसे कि माता-पिता की निन्दा के शब्दो पर ध्यान नही दिया जाता है। कान मे जो शब्द पड़ें, उनके कारण आत्मा मे राग द्वेष उत्पन्न नही होने देना चाहिए। शब्द के कारण राग द्वेष उत्पन्न न होने देना ही श्रोत्र-विजय प्राप्त करने का मार्ग है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के मनोज्ञ (पसन्द) और अमनोज्ञ (नापसन्द) विषय प्राप्त करके उन पर राग द्वेष न होने देना ही इन्द्रियनिग्रह का मार्ग है। आख से माता भी देखी जाती है, वहिन भी देखी जाती है और दूसरी स्त्री भी देखी जाती है। सबको देखने वाली आंख एक ही है, पर दृष्टि मे अन्तर होता है। इसी अन्तर के कारण राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। अतः यह अन्तर न रखते हुए अपनी पत्नी के अतिरिक्त समस्त स्त्रियो को माता या वहिन के समान मानने से आंख का निग्रह हो सकेगा। आंख का निग्रह हो जाने से राग-द्वेष उत्पन्न नही होगा।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय आदि का भी निग्रह करना चाहिए। सारांश यह है कि पसद या नापसद — कोई भी वस्तु सूंघने मे- चखने में या छूने में आ जाये तो इद्रियों को इस प्रकार प्रवृत्त न किया जाये कि इन परिवर्तनशील पदार्थों मे राग-द्वेष उत्पन्न हो। यह विचार करना चाहिए कि वस्तु तो अच्छी से वुरी और वुरी से अच्छी होती ही रहती है। इसमें मैं रागद्वेष क्यो

करूं ? इस प्रकार विचार करने से इन्द्रियविजय प्राप्त होती है। पदार्थ किस प्रकार परिवर्तनशील हैं, यह बात एक शास्त्र-प्रसिद्ध उदाहरण द्वारा समझाता हूं :—

जितशत्रु नामक एक राजा था। उसके प्रधान का नाम सुबुद्धि था। सुबुद्धि बडा विचारशील था। एक दिन सुबुद्धि राजा के साथ भोजन करने बैठा था। भोजन स्वादिष्ट था। राजा ने प्रधान से कहा—'देखो, कितना स्वादिष्ट भोजन है!' राजा के इस कथन के उत्तर में सुबुद्धि ने कहा—'इसमें क्या है? इष्ट से अनिष्ट हो जाना और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तुओं का स्वभाव ही है।' राजा ने कहा—'प्रधान, तुम तो नास्तिक जान पडते हो। क्या यह भी कभी सम्भव है कि अच्छी वस्तु बुरी और बुरी वस्तु अच्छी बन जाए!'

राजा अपने दूसरे कर्मचारियों से इस सम्बन्ध मे बात करता तो वे सब राजा की ही बात का समर्थन करते थे। मगर सुबुद्धि तो यही कहता कि तुम लोग चाहो सो कहो। मेरे गुरु ने तो मुझे यही सिखलाया है और मैं यही मानता हूं कि इष्ट का अनिष्ट और अनिष्ट का इष्ट हो जाना ही पुद्‌गल का स्वभाव है। पुद्‌गल का स्वभाव नष्ट हो जाना है, अतएव वस्तु का इष्ट-अनिष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

राजा ने प्रधान को बहुत समझाने की कोशिश की पर प्रधान ने अपनी बात नही बदली। प्रधान को अपनी बात पर पूरा भरोसा था। उसने राजा से कहा—जिस बात को मैं सत्य मानता हूं, उस सत्य को मैं असत्य कैसे कह सकता हूं? राजा ने समझ लिया कि प्रधान इस समय हठ पकड़ कर बैठा है। अब इस बात को जाने

दिया जाये !

एक दिन राजा नगर-निरीक्षण करने निकला। प्रधान साथ ही था। नगर के चहुं ओर खाई थी। पानी भर जाने के कारण खाई में से बदबू निकल रही थी। राजा और प्रधान उसी खाई के पास से निकले। खाई से निकलने वाली दुर्गन्ध असह्य थी। राजा ने प्रधान से कहा - प्रधान, देखो इस खाई का पानी कितना बदबूदार है ? इतना कहकर राजा ने अपनी नाक दबा ली। उस समय भी प्रधान ने यही उत्तर दिया —'महाराज ! इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तु का स्वभाव ही है।' प्रधान का उत्तर सुनकर राजा ने कहा—'प्रधान तुम बहुत हठी हो। क्या सब चीजें ऐसी हो सकती हैं ?' प्रधान बोला—महाराज मैं हठ नही करता, वस्तु का सच्चा स्वरूप कह रहा हू। आप कुछ भी फरमावें, मुझे तो आपके प्रति भी समभाव रखना है और वस्तु के प्रति भी समभाव रखना है।

घर पहुचकर प्रधान ने विचार किया— वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में राजा के साथ मेरा मतभेद बढता चला जा रहा है मुझे किसी प्रकार राजा को अपनी बात की खातिरी करा देना चाहिए कि मैं जो कुछ कहता हू वह सत्य है— असत्य नही। इस प्रकार विचार कर उसने अपना एक विश्वस्त आदमी भेजकर, खाई का बदबूदार पानी एक घडा भरवाकर मगवाया। प्रधान ने उस पानी को अपने ४९ प्रयोगो द्वारा परिष्कृत किया। तत्पश्चात् उसने वह पानी राजा के पानी भरने वाले को दिया और कहा—'महाराज जब भोजन करने बैठें तो पीने के लिए यह पानी रख देना।

राजा जब भोजन करने बैठा तो उस आदमी ने वही पानी पीने के लिए रख दिया। पानी पीकर राजा ने कहा- अरे. यह पानी तो बहुत मीठा है। यह कहा से भर लाया है ? आदमी ने उत्तर दिया—'यह पानी प्रधानजी ने भेजा है।' राजा ने प्रधान को उसी समय बुलवाकर कहा— 'तुम इतना मीठा पानी पीते हो और मेरे लिए आज यह भिजवाया है।' प्रधान ने कहा—'इस पानी मे ऐसा क्या है ? यह तो वस्तु का स्वभाव ही है कि वह अनिष्ट के इष्ट और इष्ट से अनिष्ट हो जाती है।

राजा ने कहा— फिर वही बात करने लगे ?

प्रधान मैं जो कहता हूं, ठीक कहता हूं। यह पानी उसी खाई का पानी है, जिसकी बदबू के मारे आपने नाक दबा लिया था।

राजा— वह बदबू वाला पानी इतना मीठा कैसे बन सकता है।

प्रधान—महाराज ! मैं प्रयोग द्वारा आपके सामने भी उस पानी को ऐसा मीठा बना सकता हू।

आखिर राजा ने खाई का दुर्गन्ध वाला पानी मंगवाया। प्रधान से उसे शुद्ध और सुगन्धित बन ने के लिए कहा। प्रधान ने पहले की तरह उस पानी को परिष्कृत कर दिया। इस घटना से राजा को विश्वास हो गया कि वस्तु मे परिवर्तन हो सकता है। राजा ने प्रधान के सिद्धांत को स्वीकार करके कहा - प्रधानजी ! आप धर्मज्ञ और विचारशील हैं। अतः मुझे केवली प्ररूपित धर्म सुनाइए। सुबुद्धि प्रधान श्रावक था और धर्मतत्त्व का ज्ञाता था।

उसने राजा को धर्मतत्त्व समझाया । श्रावक को धर्म समझाने का अधिकार है, मगर जब वह स्वयं ज्ञाता हो तभी दूसरों को समझा सकता है ! सुबुद्धि प्रधान से धर्मतत्त्व समझकर राजा बारह व्रतधारी श्रावक बना । धीरे–धीरे उसने आत्मकल्याण किया ।

कहने का आशय यह है कि धर्म का ज्ञाता व्यक्ति तो यही मानता है कि इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट होना ही वस्तु का स्वरूप है । इस प्रकार वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर मनुष्य इष्ट वस्तु पर राग और अनिष्ट वस्तु पर द्वेष धारण नही करता, वह समभाव ही रखता है । वह भलीभाँति जानता है कि जो वस्तु थोडी देर के लिए इष्ट प्रतीत होती है और फिर अनिष्ट मालूम होने लगती है, उसके खातिर मैं अपने आत्मा में राग द्वेष क्यो उत्पन्न होने दूं ! वस्तु आत्मा का उत्थान भी करती है और पतन भी करती है । वस्तु के निमित्त से जब आत्मा में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तो ऐसी अवस्था मे आत्मा का पतन होता है और समभाव उत्पन्न होने से आत्मा का उत्थान होता है । जिस वस्तु के निमित्त से आत्मा का उत्थान हो सकता है, उसे आत्मपतन का कारण क्यो बनाया जाये ?

इस प्रकार विचार कर इद्रियो का निग्रह करने वाला व्यक्ति अवश्य ही आत्मकल्याण का भागी होता है ।

सभी शास्त्रकार और सभी धर्मावलम्बी इद्रियो के निग्रह की बात करते हैं । इस विषय मे प्राय. किसी का मतभेद नही है । सभी लोगो का कथन है कि इद्रियो का निग्रह करने से आत्मा का कल्याण हो सकता है । गीता मे भी कहा है—हे अर्जुन ! तुझे आत्मा का कल्याण करना

हो तो सबसे पहले इन्द्रियो का निग्रह कर इन्द्रियनिग्रह से आत्मा का उत्थान होता है और इन्द्रियो के अधीन बनने से आत्मा का पतन होता है। अतएव इन्द्रियों को वश में रखो। उन्हे पदार्थों के प्रलोभन मे मत जाने दो। पर्वत पर से एक ही पैर फिसल जाये तो कौन कह सकता है कि कितना पतन होगा ? इसी प्रकार एक भी इन्द्रिय अगर काबू से बाहर हो गई तो कौन कह सकता है कि आत्मा का कितना पतन होगा ! इसलिए अगर तुम अपने आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा शांत करके दु:ख-मुक्त करना चाहते हो तो सर्वप्रथम इन्द्रियो का निग्रह करो। इन्द्रिय-निग्रह ही आत्मविजय का अमोघ साधन है।



सड़सठवां बोल



क्रोधविजय

पिछले बोल में इन्द्रिय-निग्रह के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। इद्रियो का निग्रह करने से राग और द्वेष जीते जा सकते हैं और इसी कारण लोग इंद्रियो को जीतने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं। इन्द्रियनिग्रह से जीते जाने वाले राग और द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ से उत्पन्न होते हैं। इसलिए अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि क्रोध आदि कषाय किस प्रकार जीते जा सकते हैं और उनके जीतने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न—कोहविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— कोहविजएणं खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! क्रोध को जीतने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! क्रोध को जीतने से जीव क्षमा गुण प्राप्त करता है, क्रोध से उत्पन्न होने वाले कर्मों का बन्ध नही करता और पहले बन्धे हुए कर्मों का क्षय करता है।

व्याख्यान

भगवान् ने क्रोध को जीतने से क्षमा गुण का प्रकट होना कहा है। नाम से तो क्षमा को सभी लोग जानते हैं मगर वास्तविक क्षमा कैसी होती है यह बहुत कम लोगों को मालूम है। क्रोध की उत्पत्ति के कारण और क्रोध के चरितार्थ करने की शक्ति मौजूद होने पर भी क्रोध न पैदा होने देना ही असली क्षमा है।

क्षमा धारण करना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन काम है। कभी-कभी शस्त्र का आघात सहन कर लेना सरल होता है, परन्तु वचन का आघात शस्त्र के आघात की अपेक्षा अधिक दु.खदायक होता है। इसी कारण कटुक वचन सुनकर क्षमाशील रहना मुश्किल हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं—लोहे के तीखे वाण सह लेना सरल है, पर वचन-वाण सहना कठिन है। शास्त्र मे कहा है.—

मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया, अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधाणि महब्भयाणि ॥

(दस०, ९-३-७)

अर्थात्—लोहे के कांटों को सह लेना, उन्हे निकाल-कर बाहर फेंक देना तथा उनकी पीड़ा से मुक्त हो जाना इतना ज्यादा कठिन नही है, मगर वचन-वाण का आघात महाभयानक, दु.खदायक तथा वैर का अनुबन्ध कराने वाला

होने के कारण सहन करना कठिन है।

तात्पर्य यह है कि कटुक वचन सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक है। क्रोध आने पर क्षमा धारण करने वाले वहुत थोड़े होते है। क्रोध का परिणाम कितना बुरा होता है, इस सम्वन्ध मे शास्त्र मे कहा है —

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो।
मायामित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥
(दस० ८—३७)

इस गाथा में शास्त्रकार ने कहा है कि जब क्रोध उत्पन्न होता है तो प्रीति नष्ट हो जाती है और अनुकम्पा का भी नाश हो जाता है। इस प्रीतिनाशक क्रोध को क्षमा के द्वारा ही जीतना चाहिए। क्रोध को जीत लेने से क्षमा प्रकट होती है और क्षमा के होने पर क्रोध जीता जा सकता है। इस प्रकार क्रोधविजय और क्षमा मे अन्योन्य सम्बन्ध है।

जब कोई कटुक वचन कहता है तभी क्रोध और क्षमा की परीक्षा होती है। कहा भी है —

जी जी कर बतलावतां, काने क्रोध न आय।
आड़ा टेढ़ा बोलतां, खबर क्षमा की थाय॥

अर्थात्— जब कोई नम्रता-पूर्वक बोल रहा हो तो सामने वाले को क्रोध उत्पन्न ही कैसे होगा ? यह क्रोधी है या क्षमावान् है, इस बात की परीक्षा तो तभी होती है जब उससे आडे टेढे वचन बोले जाए।

तुम लोग हमारे साथ भक्तिपूर्वक बातचीत करते हो और हमारे प्रति नम्रता का व्यवहार रखते हो। ऐसी दशा मे हमे क्रोध क्यो उत्पन्न होगा ? हाँ, कही बाहर जाने पर

हमें कटुक वचन सुननें पड़ें और उस वक्त भी हम क्रोध न करें, वरन् क्षमा रखें, तभी कहा जा सकता है कि हमने क्रोध पर विजय पा ली है।

जब क्रोध उत्पन्न हो तब ऐसा विचार करना चाहिए कि यह कटुक वचन इस बात की कसौटी हैं कि हमारे अन्त करण में क्षमा है या नही ? कसौटी पर चढाने से ही खरे सोने का पता चलता है। इसी प्रकार कटुक वचन की कसौटी पर ही क्षमा की परीक्षा होनी है।

क्रोध करने से कितनी अधिक हानियाँ होती हैं, इस विषय मे कहा है :—

कोहो अप्पीइकरो उव्वेयकरो य सगइनिद्दलणो ।
वेरणुबधज्जलणो जलणो वरगुणगण-वणस्स ॥
कोहंधा निहणंति पुत्तं मित्तं गुरुं कलत्तं च ।
जणय जणणि अप्पि पि निग्घणा किं च न कुणंति ॥
कोहग्गी पज्जलिओ न केवलं दहइ अप्पणो देह।
सत्ताविईय परपिहु पहवइ परभवविणासाय ।
ता कोहमहाजलणो विज्झबियव्वो खमाजलेण सया ॥

यहां कहा गया है कि क्रोध अप्रीति उत्पन्न करता है, उद्वेग पैदा करता है और सद्गति का नाश करता है। क्रोध वैरानुबन्ध का बाप है और सद्गुणो के समूह रूपी वन को भस्म कर देता है। क्रोधाग्नि दूसरो को ही नही जलाती किन्तु क्रोधी को भी अवश्य जलाती है। क्रोध यह भव भी बिगाड़ देता है और पर भव भी बिगाड देता है। अत: इस क्रोधाग्नि को क्षमा के जल से सदा बुझाना चाहिए।

क्रोध अग्नि से भी अधिक भयानक है। अग्नि एक

होने के कारण सहन करना कठिन है ।

तात्पर्य यह है कि कटुक वचन सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक है । क्रोध आने पर क्षमा धारण करने वाले बहुत थोडे होते हैं । क्रोध का परिणाम कितना बुरा होता है, इस सम्बन्ध मे शास्त्र मे कहा है —

कोहो पोइ पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
मायामित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥

(दस० ८–३७)

इस गाथा मे शास्त्रकार ने कहा है कि जब क्रोध उत्पन्न होता है तो प्रीति नष्ट हो जाती है और अनुकम्पा का भी नाश हो जाता है । इस प्रीतिनाशक क्रोध को क्षमा के द्वारा ही जीतना चाहिए । क्रोध को जीत लेने से क्षमा प्रकट होती है और क्षमा के होने पर क्रोध जीता जा सकता है । इस प्रकार क्रोधविजय और क्षमा मे अन्योन्य सम्बन्ध है ।

जब कोई कटुक वचन कहता है तभी क्रोध और क्षमा की परीक्षा होती है । कहा भी है —

जी जी कर बतलावतां, काने क्रोध न आय ।
आड़ा टेढ़ा बोलतां, खबर क्षमा की थाय ॥

अर्थात् — जब कोई नम्रता-पूर्वक बोल रहा हो तो सामने वाले को क्रोध उत्पन्न ही कैसे होगा ? यह क्रोधी है या क्षमावान् है, इस बात की परीक्षा तो तभी होती है जब उससे आडे टेढे वचन बोले जाए ।

तुम लोग हमारे साथ भक्तिपूर्वक बातचीत करते हो और हमारे प्रति नम्रता का व्यवहार रखते हो । ऐसी दशा मे हमे क्रोध क्यो उत्पन्न होगा ? हाँ, कही बाहर जाने पर

हमें कटुक वचन सुनने पड़े और उस वक्त भी हम क्रोध न करें, वरन् क्षमा रखें, तभी कहा जा सकता है कि हमने क्रोध पर विजय पा ली है।

जब क्रोध उत्पन्न हो तब ऐसा विचार करना चाहिए कि यह कटुक वचन इस बात की कसौटी हैं कि हमारे अन्त.करण में क्षमा है या नही ? कसौटी पर चढाने से ही खरे सोने का पता चलता है। इसी प्रकार कटुक वचन की कसौटी पर ही क्षमा की परीक्षा होनी है।

क्रोध करने से कितनी अधिक हानियाँ होती हैं, इस विषय मे कहा है.—

कोहो अप्पीइकरो उव्वेयकरो य सगइनिद्दलणो।
वेरणुबधज्जलणो जलणो वरगुणगण-वणस्स ॥
कोहंधा निहणंति पुत्तं मित्तं गुरुं कलत्तं च।
जणय जणणि अप्पि पि निग्वणा किं च न कुणंति ॥
कोहग्गी पज्जलिओ न केवल दहइ अप्पणो देह।
सत्ताविईय परपिहु पहवइ परभवविणासाय।
ता कोहमहाजलणो विज्झवियव्वो खमाजलेण सया ॥

यहा कहा गया है कि क्रोध अप्रीति उत्पन्न करता है, उद्वेग पंदा करता है और सद्गति का नाश करता है। क्रोध वैरानुबन्ध का बाप है और सद्गुणो के समूह रूपी वन को भस्म कर देता है। क्रोधाग्नि दूमरो को ही नहीं जलाती किन्तु क्रोधी को भी अवश्य जलाती है। क्रोध यह भव भी विगाड़ देता है और पर भव भी विगाड देता है अत इस क्रोधाग्नि को क्षमा के जल से सदा बुझाना चाहिए।

क्रोध अग्नि से भी अधिक भयानक है। अग्नि एक

ही भव का नाश करती है मगर क्रोध इह-पर भव दोनों का विनाशक है । अर्थात् दोनों भवों को बिगाड़ता है। क्रोध की यह आग आत्मा में ही उत्पन्न होती है । अपना आत्मा स्वतः क्रोध को पैदा करता है। क्रोध से क्रोध बढ़ता ही जाता है, इस कारण अनेक भवों का वैरानुबन्ध क्रोध से ही होता है। जब प्रीति का नाश हो तो समझना चाहिए कि मुझमे क्रोध उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार उद्वेग होने पर भी यही समझना चाहिए कि मुझमे क्रोध पैदा हुआ है, क्योंकि अप्रीति या उद्वेग उत्पन्न होने का कारण क्रोध ही है। क्रोध ही दुर्गति मे ले जाता है। जैसे अग्नि थोड़े ही समय में रुई के ढेर को भस्म कर डालती है उसी प्रकार क्रोध भी आत्मा के समस्त शुभ गुणों को भस्म कर देता है। क्रोध उत्पन्न होने पर मनुष्य आंखे होते हुए भी अन्धा बन जाता है। तब वह क्रोधान्ध मनुष्य अपने पुत्र, मित्र, गुरु तथा स्त्री आदि स्वजनो को भी नष्ट कर देता है। उस समय क्रोधान्ध मनुष्य में से दयाभाव निकल जाता है।

सुना है, मेवाड़ के एक गांव मे किसी मनुष्य ने क्रोध के आवेश मे आकर पत्थरी से अपनी स्त्री का सिर फोड़ डाला था। यह देखकर उसकी लड़की चिल्लाई - 'मेरे पिता मेरी माँ को मार रहे हैं !' लड़की की चिल्लाहट सुनकर वह अपनी लड़की पर भी क्रुद्ध हो गया। उसने लड़की को पत्थर पर पछाड़ दिया और अन्त में आप भी अपघात करके मर गया।

क्रोध के आवेश में ऐसे-ऐसे न जाने कितने अनर्थ होते रहते हैं ! अतएव क्षमा द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए।

सूत्र में भी कहा है :—

उवसमेण हणे कोहं ।

अर्थात्— उपशम–क्षमा से क्रोध का नाश करना चाहिए ।

जब अग्नि बढती जा रही हो तो उसे बुझाने के लिए उसके विरोधी पदार्थ - पानी का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार क्रोध को उपशान्त करने के लिए क्षमा का ही अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिये । क्रोध करने से दूसरो को जो हानि होती है उसकी अपेक्षा स्वय क्रोध करने वाले को अधिक हानि उठानी पडती है। क्रोधी मनुष्य क्रोध करते समय समझता है कि मैं दूसरे की हानि कर रहा हूं, परन्तु यह मान्यता पडौसी का घर जलाने के लिए अपने घर मे आग लगाने के समान मूर्खतापूर्ण है । अपने घर मे आग लगाने से पडौसी का घर जल भी सकता है और नही भी जल सकता, किन्तु अपना घर तो जल ही जाता है । इसी प्रकार क्रोध करने से दूसरो की हानि हो या न हो, मगर क्रोध करने वाले की हानि तो हो ही जाती है ।

स्व० केसरीचन्द जी भंडारी ने मुझे अगरेजी की एक पुस्तक दिखाई थी । उस पुस्तक मे यह बतलाया गया था कि क्रोध उत्पन्न होने पर शरीर से बर्छी, कटार, छुरी आदि शस्त्रो सरीखे पुद्‌गल निकलते हैं । जिस मनुष्य पर क्रोध किया जाता है उसे अगर क्रोध न आये अर्थात उसमे क्षमा-भाव हो तो वे शस्त्र सरीखे पुद्‌गल शात हो जाते हैं । अगर सामने वाले में भी क्रोध उत्पन्न हुआ तो उस दशा मे दोनो

कारण दस प्रकार के यतिधर्म में क्षमा को पहला स्थान दिया गया है ।

जैसे साधुओं के लिए क्षमा की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई जाती है उसी प्रकार श्रावको के लिए भी क्षमा धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता है । साधु को लक्ष्य करके चतुर्विध सघ को क्षमा धारण करने की बात कही गई है । अतएव जो पुरुष क्रोध के वश न होकर क्षमाशील रहेगा, वही अपना कल्याण कर सकेगा ।



अड़सठवां बोल

मानविजय

मानव-जीवन को सफल तथा सार्थक करने के लिए शास्त्रकारो ने चार कषायो का त्याग करना आवश्यक बतलाया है। कषाय का सामान्य अर्थ है—संसार। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ—यह चार कषाय ससार को वृद्धि करते हैं। संसार से मुक्त होने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है। कषायों का त्याग न करने से ससार की वृद्धि होती रहती है। शास्त्र में कहा भी है.—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइ पुणब्भवस्स ॥

(दश० ८, ४०)

अर्थात्—क्रोध तथा मान का निग्रह करना कठिन है

के वे शस्त्र सरीखे पुद्गल आपस में टकराते हैं और फलस्वरूप संग्राम मच जाता है। शास्त्र में कहा है कि कषाय-समुद्घात से भयङ्कर सग्राम हो जाता है । क्रोध हो तो सग्राम होता ही है। इसीलिए शास्त्रकार ऊँचे स्वर मे कहते है—क्षमा के द्वारा क्रोध को जीतो । अगर तुम्हारे भीतर क्षमाभाव होगा तो दूसरे का क्रोध आप ही शात हो जाएगा। परन्तु लोग थप्पड़ का जवाब घूंसे से और गाली का उत्तर गाली से देना चाहते हैं । नतीजा यह होता है कि रगड़े-झगड़े बढते हैं । शास्त्रो मे और ग्रन्थो मे कहा है कि वैर से वैर बढता है और क्रोध करने से क्रोध अधिक-अधिक बढता जाता है। अतएव क्रोध का जवाब क्रोध से न देकर और गाली का वदला गाली से न देकर क्षमा द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए । इसी मे आत्मा का कल्याण है। कहा भी है:—

दीधा गाली एक है, पलटे होय अनेक ।
जो गाली पलटे नहीं, रहे एक की एक ।

अर्थात् किसी ने किसी को गाली दी और गाली खाने वाला अगर वदले में गाली नही देता है तो वह गाली एक की एक ही रह जायेगी और गाली देने वाला आखिर शान्त हो जाएगा । इससे विपरीत, अगर गाली का वदला गाली से दिया गया तो गालियो की परम्परा वढती ही जायेगी और झगड़ा हुए विना नही रहेगा । अत: क्रोध उत्पन्न होने पर उसे क्षमा से जीतना उचित है । शास्त्र में साधु के लिए तो यहां तक कहा है कि—हे साधु ! अगर किसी के साथ तुम्हारा क्लेश हुआ है तो जब तक तुम उसे उपशात नही कर लेते, तब तक तुम आहार-पानी लेने के

लिए नही जा सकते । क्रोध को उपशांत किये बिना तुम लाये हुए आहार-पानी का उपभोग नही कर सकते, विहार नही कर सकते. यहा तक कि शौच के लिए भी नही जा सकते । कदाचित् तुम कहोगे कि जिसके साथ क्लेश हुआ है, उसे क्षमा कर मैं उपशाति करता हू लेकिन सामने वाला शात नही होता तो मैं क्या करूँ ? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है-- सामने वाला उपशात हो या न हो, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है, किन्तु तुम तो क्षमा का याचन-प्रदान करके उपशात बनो ! इससे तुम आराधक ही रहोगे ।

क्रोध को जीतने का सरल उपाय क्षमा ही है । दस प्रकार के यतिधर्म मे भी क्षमा को ही सर्वप्रथम स्थान दिया गया है । कारण यह है कि जैसे समस्त पदार्थों के लिए पृथ्वी ही आधार है, उसी प्रकार क्षमा ही समस्त गुणो का आधार है । आधारभूत पृथ्वी ही स्थिर न रहे तो आधेय पदार्थ किस प्रकार स्थिर रह सकेंगे ? इसी प्रकार सब गुणो का आधार क्षमा ही न रही तो दूसरे गुण किस प्रकार टिक सकेंगे ? अतएव क्षमा की सर्वप्रथम आवश्यकता है । साधुओ का वर्णन करते हुए कहा है :--

पहलुं लक्षण साधुनुं, क्षमा तणो भडार ।
कठिन वचन सहे जगतनां, क्रोध न करे लिगार ।।

तुम लोग प्रतिक्रमण मे 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ बोलते हो, कि--'हे क्षमाश्रमण ! मैं तुम्हे वन्दन करता हूं ।' साधुओ मे क्षमा के साथ और-और गुण भी होते हैं, मगर क्षमागुण की प्रधानता के कारण ही उन्हे 'क्षमाश्रमण' कहते हैं । साधु का प्रधान गुण क्षमा ही है और इसी

कारण दस प्रकार के यतिधर्म में क्षमा को पहला स्थान दिया गया है ।

जैसे साधुओं के लिए क्षमा की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई जाती है उसी प्रकार श्रावकों के लिए भी क्षमा धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता है । साधु को लक्ष्य करके चतुर्विध सघ को क्षमा धारण करने की बात कही गई है । अतएव जो पुरुष क्रोध के वश न होकर क्षमाशील रहेगा, वही अपना कल्याण कर सकेगा ।



अड़सठवां बोल

मानविजय

मानव-जीवन को सफल तथा सार्थक करने के लिए शास्त्रकारो ने चार कषायो का त्याग करना आवश्यक बतलाया है। कषाय का सामान्य अर्थ है—संसार। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ—यह चार कषाय ससार की वृद्धि करते हैं। संसार से मुक्त होने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है। कषायों का त्याग न करने से ससार की वृद्धि होती रहती है। शास्त्र में कहा भी है.—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचति मूलाइ पुणब्भवस्स॥

(दश० ८, ४०)

अर्थात्—क्रोध तथा मान का निग्रह करना कठिन है

और माया तथा लोभ दिन-प्रतिदिन बढते ही जाते हैं। सक्षेप मे, यह चारों कषाय संसार के मूल का सिंचन करते रहते हैं।

मुमुक्षु जीवो को ससार की असारता जानकर चारों कषायो का त्याग करना चाहिए। चारो कषायो को जीतने का उपाय शास्त्रकारो ने यह बतलाया है:—

उवसमेण हणे कोहं, माण मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोहं संतोसओ जिणे॥

(दश० ८, ३९)

अर्थात्— क्रोध को क्षमा द्वारा जीतना चाहिए, मान को मृदुता-नम्रता से जीतना चाहिए, माया को सरलता से जीतना चाहिए और लोभ को सतोष से जीतना चाहिए।

क्रोध को जीतने से जीवात्मा को क्षमागुण की प्राप्ति होती है, क्रोध से उत्पन्न होने वाले नवीन कर्मों का बंध नही होता और पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है। क्रोध को जीतने से आत्मा को यह अपूर्व लाभ होता है। अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि मान किस प्रकार जीता जा सकता है और उसे जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न— माणविजएण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न — भगवन् ! मान जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— मान को जीतने से आत्मा मे मृदुता का अपूर्व गुण प्रकट होता है, मानजन्य कर्म का बन्ध नहीं करता और पहले बन्धे कर्म का क्षय करता है ।

व्याख्यान

मृदुता एक महान् गुण है। शास्त्र में कहा है कि मान पर विजय प्राप्त करने से ही मृदुता का महान् गुण प्रकट हो सकता है । जिसमें नम्रता होती है, वह व्यक्ति महान् समझा जाता । धातुओ में सोना इस कारण कीमती माना जाता है कि उसमे नम्रता होती है। सोने को जितना ज्यादा पीटा जाता है, वह उतना ही नम्र बनता जाता है और जब वह एकदम निर्मल और नम्र हो जाता है तब वह कुन्दन कहलाता है । रत्न को ग्रहण करने की शक्ति कुन्दन मे ही होती है । इसीलिए पहले के लोग रत्न को सोने में जडने के लिए कुन्दन का उपयोग करते थे । जिस प्रकार नम्र बनाया हुआ सोना, रत्न को पकड लेता है, उसी प्रकार गुणरूपी रत्न को वही ग्रहण कर सकता है, जिसमे नम्रता हो । नम्रता प्राप्त करने के लिए मान को जीतने की आवश्यकता है । मान को जीतने से ही नम्रता आती है और जब नम्रता आती है तब मान-जन्य नवीन कर्मों का बन्ध नही होता और मान के कारण पहले बन्धे हुए कर्मों की भी निर्जरा होती है।

शका की जा सकती है कि मानजन्य बन्धे हुए कर्म तो भोगने ही पडते हैं ? इसका समाधान यह है कि अगर मान के कारण पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा न हो सकती तो शास्त्र मे ऐसा न कहा गया होता कि मान को जीतने से पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

यहा यह भी पूछा जा सकता है कि शास्त्र में एक जगह ऐसा कहा है कि 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात किये कर्मों को भोगे बिना उनसे छुटकारा नही मिलता । इससे विपरीत यहा यह कहा गया है कि मान को जीतने से पहले बन्धे हुए कर्मों की निजरा होती है। इन दोनो कथनो मे परस्पर विरोध जान पडता है। इसकी सगति किस प्रकार बिठलाई जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है –

कम भोगने तो पडते हैं, परन्तु उनके भोगने के मुख्य दो तरीके हैं। पहला तरीका यह है कि कर्मों को तपस्या आदि के द्वारा उदीरणा करके भोगा जाये और दूसरा तरीका यह है कि कर्म अपना अबाधा काल समाप्त होने पर स्वाभाविक रीति से उदय मे आयें और तब भोगे जाएँ। उदाहरणार्थ— रोगी को रोग का दुःख तो सहन करना ही पड़ता है, परन्तु दवा का उपयोग करने स रोग की तीव्रता कम हो जाती है और साथ ही रोग जल्दी और सरलता से भोग लिया जाता है। इसी प्रकार कर्म भोगने तो पडते हैं परन्तु जो कर्म स्वाभाविक रूप से उदय मे आते हैं वे लम्बे समय तक और कष्टपूर्वक भोगे जाते हैं। लेकिन जिन कर्मों की तपश्चर्या आदि द्वारा उदीरणा की जाती है वे जल्दो और सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं। कर्मों को प्रदेश से भोगना

भी भोगना है और विपाक से भोगना भी भोगना है। दोनो प्रकार से कर्म भोगे जाते हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष क्रोध, मान, माया और लोभ आदि को जीतकर तथा तपश्चर्या द्वारा कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को उज्ज्वल बनाते हैं। इस प्रकार धर्मक्रियारूपी आग मे अगर कर्मांकुर दग्ध न किये जाएँ तो उन्हे विपाक से भोगना पडता है और तब महान् कष्ट होता है। इस तरह जब कर्म सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं तो फिर उन्हे महाकष्टपूर्वक क्यो भोगना चाहिए? इस प्रकार विचार करके ज्ञानीजन कर्म की निर्जरा करने का प्रयत्न करते हैं। जब थोडा-सा प्रयास करने से ही कर्म-विपाक का घोर कष्ट टल सकता है तो पहले थोडा सा कष्ट सहन न करके विपाक के समय महादुःख सहना कौनसी बुद्धिमत्ता है? कर्म-विपाक के महान कष्ट से बचाने के लिए ही भगवान् ने मान को जीतने का उपदेश दिया है। क्योकि मान को जीतने से जीवन मे नम्रता आएगी और नम्रता से कर्मों की निर्जरा होगी। इस शास्त्रीय विषय को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए :—

एक रोगी को भयङ्कर रोग हुआ। उसने वैद्य से शरीर की परीक्षा करवाई। वैद्य ने रोगी से कहा अगर तुम्हें 'इन्जेक्शन' लगा दिया जाये तो तुम रोग की भयङ्करता से बच सकते हो। तुम एक–दो इन्जेक्शन लगवा लो। यह सुनकर रोगी ने वैद्य से कहा –'मेरा शरीर बहुत कोमल है, इन्जेक्शन कैसे ले सकता हूं? कोई पीने की दवा दे दो।' वैद्य बोला—'जैसी तुम्हारी मर्जी! मैंने तो तुम्हे रोग से मुक्त होने का उपाय बताया है।' रोगी ने इन्जेक्शन नही लिया और परिणाम यह हुआ कि उसका रोग भयङ्कर हो

शका की जा सकती है कि मानजन्य बन्धे हुए कर्म तो भोगने ही पडते हैं ? इसका समाधान यह है कि अगर मान के कारण पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा न हो सकती तो शास्त्र मे ऐसा न कहा गया होता कि मान को जीतने से पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

यहा यह भी पूछा जा सकता है कि शास्त्र में एक जगह ऐसा कहा है कि 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात किये कर्मों को भोगे बिना उनसे छुटकारा नही मिलता । इससे विपरीत यहां यह कहा गया है कि मान को जीतने से पहले बन्धे हुए कर्मों की निजरा होती है। इन दोनो कथनो मे परस्पर विरोध जान पडता है। इसकी सगति किस प्रकार बिठलाई जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है: -

कम भोगने तो पडते हैं, परन्तु उनके भोगने के मुख्य दो तरीके हैं । पहला तरीका यह है कि कर्मों को तपस्या आदि के द्वारा उदीरणा करके भोगा जाये और दूसरा तरीका यह है कि कर्म अपना अबाधा काल समाप्त होने पर स्वाभाविक रीति से उदय मे आयें और तब भोगे जाएँ । उदाहरणार्थ— रोगी को रोग का दुःख तो सहन करना ही पड़ता है, परन्तु दवा का उपयोग करने स रोग की तीव्रता कम हो जाती है और साथ ही रोग जल्दी और सरलता से भोग लिया जाता है । इसी प्रकार कर्म भोगने तो पडते हैं परन्तु जो कर्म स्वाभाविक रूप से उदय मे आते हैं वे लम्बे समय तक और कष्टपूर्वक भोगे जाते हैं । लेकिन जिन कर्मों की तपश्चर्या आदि द्वारा उदीरणा की जाती है वे जल्दी और सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं । कर्मों को प्रदेश से भोगना

तो उसे अपने अंग पर शस्त्रक्रिया करानी ही होगी। पहले इन्जेक्शन लेने मात्र से शरीर ठीक हो सकता था, पर तब उसने वैद्य का कहना नही माना। अब शस्त्रक्रिया कराने का समय आ गया। अगर अब शस्त्रक्रिया नही कराता है तो प्राण जाने का वक्त आएगा।

इसी प्रकार इस समय कर्मरूपी जो रोग लगा है, वह धर्मक्रियारूपी दवा का नियमित सेवन करने से शान्त हो सकता है। अगर धर्मक्रियारूपी दवा सेवन न की गई या सेवन करने में देरी की गई तो कर्म रोग बढ जायेगा और परिणाम-स्वरूप इतना दुःख सहन करना पडेगा कि उसका कहना भी कठिन है। अतएव कर्मरोग को उपशान्त करने के विषय मे गम्भीर विचार करो। ज्ञानीजनो ने तपश्चर्या आदि आध्यात्मिक औषधो द्वारा उसे शान्त करने का जो अमोघ उपाय बतलाया है, उसे भलीभाति काम मे लाओगे तो तुम्हारा कर्म रोग शांत हो जायेगा और अधिक दुःख भी सहन नही करना पडेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि धर्मक्रिया करने में कष्ट सहन करना पडता है। परन्तु ज्ञानियो का कथन है कि कष्ट धर्म करने से नही वरन् पूर्व कर्म से होता है। अगर धर्माराधन करते समय होने वाले कष्ट सहन कर लिये जायें तो कर्मोदय के कारण होने वाले कष्टो से सहज ही छुटकारा मिल सकता है। ऐसी दशा मे अगर थोडा कष्ट सहकर भी भविष्य में आने वाले भयानक दुःखो से बचाव हो सके तो क्या बुराई है?

कहने का आशय यह है कि अगर मान-जन्य कर्मों

गया। आखिरकार रोग से परेशान होकर वह फिर वैद्य के पास पहुंचा और बोला – 'इन्जेक्शन देना हो तो भले दे दीजिये मगर इस भयङ्कर रोग को शात कीजिये।'

वैद्य ने कहा— अब यह रोग इन्जेक्शन से भी नही मिट सकता। रोग बहुत बढ गया है। अब तो ऑपरेशन करना पडेगा। पहले इन्जेक्शन लगवा लिया होता तो मिट सकता था।

ऑपरेशन की बात सुनकर रोगी घबराया। वह वैद्य से कहने लगा-ऑपरेशन कराने के लिए मेरा जी नही चाहता।

वैद्य ने कहा— जैसी तुम्हारी मर्जी !

रोगी का रोग दिन-दिन बढता गया। वह बेहद परेशान हो गया। तब वह फिर वैद्य के पास पहुचा। बोला— वैद्यराज ! इन्जेक्शन या ऑपरेशन—जो कुछ करना हो करो, मगर मुझे इस महामुसीबत से उबारो।

वैद्य ने फिर शरीर की जाच की। उसे मालूम हुआ— रोगी का सारा शरीर सड गया है। अब सारे शरीर को चीरना पडेगा। उसने रोगी को अपना विचार बतलया। अग की शस्त्रक्रिया करानी पड़ेगी यह सुनकर रोगी बहुत घबराया और बोला मैं अपने प्रिय शरीर पर शस्त्रक्रिया कैसे करा सकता हू !

वैद्य ने अन्तिम चेतावनी देते हुए कहा— अभी तो अग चीरने से ही शरीर ठीक हो सकता है, लेकिन बाद मे अग चीरने पर भी ठीक नही होगा। यह रोग ही ऐसा भयङ्कर है कि फिर वह प्राण लिए बिना शात नही होगा।

अब अगर रोगी को अपने प्राणो की रक्षा करनी है

मुझे जो ऋद्धि-सिद्धि मिली है उसका उपयोग भगवान् की ऐसी सेवा मे करना चाहिए जैसी सेवा आज तक किसी भी राजा ने न की हो। अपनी इस शुभ भावना को कार्यरूप मे परिणत करने का भी राजा को सुयोग मिल गया। राजा ने सुना— भगवान् महावीर इस ओर पदार्पण कर रहे हैं। यह समचार पाते ही राजा की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने बडे उत्साह के साथ प्रजाजनो को आज्ञा दी कि भगवान् को वन्दना करने के लिए जाते समय ऐसी तैयारी की जाये जैसी आज तक किसी ने न की हो। जब राजा मे इतना उत्साह हो तो प्रजा के और उसके नौकर-चाकरवर्ग मे भी उत्साह हो आना स्वाभाविक है। भगवान् को वदना करने के लिए राजा दशार्णभद्र ने अपूर्व तैयारी की और प्रस्थान किया। राजा को अपनी ऋद्धि देखकर अभिमान हुआ कि मेरे समान ऐसी तैयारी करके भगवान् को वन्दना के लिए और कौन गया होगा? लोगो को नवीन कपडा या जूता मिल जाने पर भी जब अभिमान हो जाता है तो राजा को अपनी ऋद्धि देखकर अगर अभिमान उत्पन्न हुआ तो आश्चर्य ही क्या है? मगर लोगो को समझना चाहिए कि ऐसे राजा का भी अभिमान न रहा तो दूसरो की तो बात ही क्या है?

राजा दशार्णभद्र सबको दान-मान-सन्मान आदि से सतुष्ट करता हुआ अपनी ऋद्धि-सम्पदा के साथ भगवान की वन्दना के लिए निकला दूसरी तरफ शक्रेन्द्र भी भगवान् की वन्दना के लिए आये थे। इन्द्र ने राजा को ऋद्धि के साथ वन्दना करने आते देखा पर उसने राजा के हृदय के अभिमान को भी जान लिया। ज्ञानी इन्द्र ने विचार

की निर्जरा करनी हो तो मान को जीतने का प्रयत्न करो। मान बडो-बडो को पतित कर देता है। इसलिए अभिमान त्यागो। इस विषय मे एक कवि ने ठीक ही कहा है:—

मान रे मानव ! मान बुरो अति, मान गुमान न मान न नीको,
मान मिटे सम्मान बधे परम न, करो शुभ वाक्य यति को।
मान किया अपमान लहै नवि मान लहे वर देवपुरी को।
मानव देह समान नहीं कछु धर्म सु मान के जाति भली को॥

इस कविता का भावार्थ यह है हे पुरुष ! मान-अभिमान करना बहुत बुरा है। अभिमानी व्यक्ति को अपमान का दुःख भोगना पडता है और अभिमान का त्याग करने वाले को बदले मे सन्मान प्राप्त होता है। निरभिमान व्यक्ति को इन्द्र भी नमस्कार करता है। यह बात सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार ने श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे एक ऐतिहासिक उदाहरण उद्धृत किया है:—

दसण्णरज्जं मुदियं चइत्ताणं मुणी चरे।
दसण्णभद्दो निखतो सक्खं सक्केण चोइओ॥

(उत्तरा० १८, ४४)

अर्थात्—शक्रेन्द्र की प्रेरणा होने से प्रसन्न और पर्याप्त दशार्ण-राज्य को त्याग कर दशार्णभद्र ने त्यागमार्ग अपनाया।

दशार्णभद्र राजा ने अभिमान त्याग कर किस प्रकार त्यागमार्ग अपनाया, इस विषय मे निम्नलिखित कथा प्रचलित है—

आजकल जिसे मन्दसौर कहते हैं उसका प्राचीन नाम दशार्णपुर है। दशार्णपुर का राजा दशार्णभद्र था। राजा धर्मनिष्ठ और भावनाशील था। उसने विचार किया—

हुआ हूं।' इस प्रकार कहकर इन्द्र ने राजा के त्याग की प्रशसा की और मुनि से क्षमायाचना की।

त्याग करने की शक्ति मनुष्य में ही होती है। देव में मनुष्य जितनी त्याग शक्ति नही होती। इसी कारण देवभव की अपेक्षा मनुष्यभव बहुमूल्य माना गया है। मनुष्य अभिमान न करे तो देवो को भी जीत सकता है। श्रीदशवैकलिकसूत्र में भी कहा :—

देवा वि त नमंसति जस्स धम्मे सया मणो।

अर्थात्—जिसका मन सदा धर्म मे अनुरक्त रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

धर्म का आचरण करने के लिए मनुष्य को जैसी सामग्री प्राप्त है, वैसी देव को भी प्राप्त नही है। अगर देवो को भी जीतना है तो मान को जीतो। मान करके दशार्णभद्र राजा इन्द्र को नही जीत सका। त्याग करके उसने इन्द्र को पराजित कर दिया। मुनिवन्दन करते समय आजकल भी उनका नामस्मरण किया जाता है—

दशार्नभद्र राजा, वीर बद्या घरी मान,
पछि इन्द्र हगयो, दियो छः काया ने अभयदान।

यह बात ध्यान में रखकर तुम भी अभिमान को तजो। धर्म के प्रताप से ही इन्द्र, एक राजा के चरणो में नत हुआ था। राजा ने अभिमान छोडा तो इन्द्र को भी उसके चरणो की वन्दना करनी पडी। अत. अभिमान त्यागो। इसी मे आत्मा का कल्याण है। जो अभिमान का त्याग करता है वह अपने आत्मा का उत्थान करता है और जो अभिमान करता है वह अपने आत्मा को पतित करता है।

किया—राजा का अभिमान दूर कर देना चाहिए और उसे सत्यमार्ग दिखलाना चाहिए। इस प्रकार विचार कर इन्द्र ने अपनी वैक्रिय लब्धि से एक ऐसा हाथी बनाकर उतारा कि उसके सामने राजा की सारी ऋद्धि फीकी पड गई।

राजा अभिमान के वश होकर विचारने लगा—इन्द्र ने मेरी ऋद्धि की तुच्छता दिखलाई है और एक प्रकार से मुझे पराजित किया है। ऐसी स्थिति मे मुझे क्या करना चाहिए? मैं इन्द्र की होड नही कर सकता, क्योकि इन्द्र अपनी वैक्रिय लब्धि से इच्छानुसार ऋद्धि बना सकता है। तो फिर इन्द्र को जीतने के लिए क्या उपाय करना चाहिए? यह ठीक है कि मैंने अभिमान किया सो उचित नही था, मगर अब पकडी हुई टेक किस प्रकार सिद्ध की जाये? इन्द्र को जीतने का मेरे पास एक ही उपाय है—त्याग। त्याग के अतिरिक्त और किसी भी उपाय से वह पराजित नही हो सकता।

इस प्रकार विचार कर दशार्णभद्र राजा ने सर्वविरति संयम स्वीकार किया। अब बेचारा इन्द्र क्या करे? उसने सोचा—प्रथम तो मैं दीक्षा ही नही ले सकता—ऐसा त्याग ही नही कर सकता। कदाचित् दीक्षा ले लू तो भी मुझे इन मुनि से लघु शिष्य ही बनना पडेगा। अतएव श्रेयस्कर यही है कि इन मुनि से क्षमायाचना करके पवित्र हो जाऊँ।

इस प्रकार विचार कर इन्द्र ने मुनि को नमस्कार किया और कहा—'भगवान् की वन्दना करने के लिए आप सरीखी तैयारी वास्तव मे किसी ने नही की है और अब आपका त्याग भी अपूर्व है। आपके त्याग से मैं प्रभावित

उनहत्तरवां बोल

माया-विजय

जीवन को निष्कपट बनाने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है । क्रोध, मान, माया और लोभ, यह चार कषाय हैं । इन चारों कषायों से आत्मा का पतन होता है । आत्मा का उत्थान करने के लिए चारो कषायों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है । क्रोध पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्षमा-गुण की प्राप्ति होती है और मान को जीतने से नम्रता-गुण की । क्रोधविजय और मान-विजय से होने वाले लाभों पर पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है । अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि माया को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न – मायाविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर — मायाविजएण अज्जवं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६९ ॥

वृक्षो में भी जो वृक्ष नम्र रहता है वह अच्छा समझा जाता है और जो अकडा रहता है वह ठूंठ कहलाता है। नम्र वृक्ष मे फल भी रसीले और मीठे लगते हैं, जबकि अकडे रहने वाले वृक्ष के फल कटुक और खराब होते हैं। उदाहरणार्थ–आम और एरण्ड को देखो। आम नम्र होता है तो उसके फल मधुर और सुन्दर होते हैं। एरण्ड अकडा रहता है तो उसके फल कटुक होते हैं। इस प्रकार जहा नम्रता होती है वहां अन्यान्य गुण भी आ जाते हैं। कहावत भी है—'जो नमता है वह परमात्मा को गमता है।' अर्थात जो नम्रता धारण करता है वह परमात्मा का भी प्रिय बन सकता है।

इसलिए तुम अपने जीवन में नम्रता को स्थान दो। नम्रता स्वार्थ की पूर्ति करने के लिए भी धारण की जाती है। मगर स्वार्थ की पूर्ति के लिए धारण की गई नम्रता मे और अभिमान के त्याग से आने वाली नम्रता मे बहुत अन्तर है। यहां जिस नम्रता की बात चल रही है वह अभिमान का त्याग करके उत्पन्न करनी है। अभिमान करने से आत्मगौरव की भी रक्षा नही हो सकती। आत्मगौरव की रक्षा तो अभिमान त्यागने से ही होती है इसके अतिरिक्त अभिमान त्यागने से तथा जीवन मे निरभिमानिता तथा नम्रता को स्थान देने से मान-जन्य कर्म भी नही बधते और मान के कारण पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अतएव अभिमान त्यागने का प्रयत्न करो और नम्रता धारण करो। ऐसा करने मे ही मनुष्यजन्म की सार्थकता और सफलता है।



उसकी आत्मा तो भलीभांति जानती ही है कि मैं कपट का सेवन कर रहा हूं । कोई अपने छल-बल से किसी अपढ़ आदमी को पाच और पांच ग्यारह कहकर भले ही ठग ले, मगर वह स्वय तो जानता है कि पाच और पांच दस होते हैं । मैं तो कपट करके ही ग्यारह मनवा रहा हूं । इस प्रकार अपना ही आत्मा कपट की निन्दा करता है । आज तो वही चतुर समझा जाता है जो दूसरो को ठगने में चतुर हो । वकील भी वही होशियार गिना जाता है जो झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा साबित कर सकता ।

सुना है, एक होशियार वकील भोजन करने बैठा था। इतने मे उसका एक मुवक्किल आया और उसने पचास हजार रुपये के नोट वकील के सामने रख दिये। वकील नें अपनी चतुराई का गर्व प्रकट करते हुए अपनी पत्नी की ओर निगाह फेरी । मगर पत्नी मुह के आगे हाथ लगाकर रुदन कर रही थी । वकील ने रोने का कारण पूछा । कहा—'क्यो, अपने घर किस बात की कमी है ? देखो, आज ही पचास हजार आये हैं । मैं कितना होशियार हूं और मेरी कितनी ज्यादा कमाई है, यह सब जानते बूझते भी तुम रो रही हो ?'

वकील की पत्नी ने कहा—मैं तुम्हे देखकर रो रही हूं।

वकील—क्यों ? मैंने कोई बुरा काम किया है ?

वकील पत्नी—आपने सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बनाया है । यह क्या कम खराब काम है ? आप पचास हजार पाकर फूले नही समाते, मगर जिसके एक लाख डूब गये और एक लाख घर से देने पड़े, उसके दु:ख

शब्दार्थ

प्रश्न—भंते ! माया को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! माया को जीतने से जीव को आर्जव (सरलता) की प्राप्ति होती है और माया से वेदे जाने वाले कर्मों का बन्ध नहीं होता और पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

व्याख्यान

जो माया को जीतता है वही सरलता रख सकता है और जो सरलता रखता है वही माया को जीत सकता है। भावो की वक्रता ही माया कहलाती है, शास्त्र में कहा है:—

मायी मिच्छादिट्ठी, अमायी सम्मादिट्ठी ।

अर्थात्— कपट ही मिथ्यात्व है और सरलता ही सम्यक्त्व है। यही बात ध्यान मे रखकर माया का त्याग करना चाहिए। माया का त्याग करने से ही आत्मा मे सरलता आयेगी और जब सरलता आएगी— माया न रह जाएगी—तब आत्मा का कल्याण होने मे देरी नही लगेगी।

ससार मे प्राय. अनेक लोग जान-बूझकर मायाजाल मे फँसते हैं। जो मायाचार करना जानता है उसे आज 'पोलिटिकल' जैसा सुन्दर विशेषण लगाया जाता है। मगर शास्त्र मे मायाचारी मनुष्य की निन्दा ही की गई है। मायाचारी अपनी माया से भले ही दूसरो को ठगता हो पर

उसकी आत्मा तो भलीभांति जानती ही है कि मैं कपट का सेवन कर रहा हूं। कोई अपने छल-बल से किसी अपढ़ आदमी को पांच और पाच ग्यारह कहकर भले ही ठग ले, मगर वह स्वय तो जानता है कि पाच और पांच दस होते हैं। मैं तो कपट करके ही ग्यारह मनवा रहा हूं। इस प्रकार अपना ही आत्मा कपट की निन्दा करता है। आज तो वही चतुर समझा जाता है जो दूसरों को ठगने में चतुर हो। वकील भी वही होशियार गिना जाता है जो झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा साबित कर सकता।

सुना है, एक होशियार वकील भोजन करने बैठा था। इतने मे उसका एक मुवक्किल आया और उसने पचास हजार रुपये के नोट वकील के सामने रख दिये। वकील नें अपनी चतुराई का गर्व प्रकट करते हुए अपनी पत्नी की ओर निगाह फेरी। मगर पत्नी मुंह के आगे हाथ लगाकर रुदन कर रही थी। वकील ने रोने का कारण पूछा। कहा—'क्यो, अपने घर किस बात की कमी है? देखो, आज ही पचास हजार आये हैं। मैं कितना होशियार हूं और मेरी कितनी ज्यादा कमाई है, यह सब जानते बूझते भी तुम रो रही हो?'

वकील की पत्नी नें कहा—मैं तुम्हे देखकर रो रही हूं।

वकील—क्यों? मैंने कोई बुरा काम किया है?

वकील पत्नी—आपने सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बनाया है। यह क्या कम खराब काम है? आप पचास हजार पाकर फूले नही समाते, मगर जिसके एक लाख डूब गये और एक लाख घर से देने पड़े, उसके दुःख

का क्या पार होगा ? मुझे नही मालूम था कि आप इस प्रकार पाप का पैसा पाकर आनन्द मान रहे है ।

वकील—हमारा धन्धा ही ऐसा है । ऐसा न करें तो काम कैसे चले ?

पत्नी—आप सत्य को असत्य बनाते हैं, इसके बदले सत्य को सत्य बनाने की ही वकालत क्यो नही करते ? सच्चा मुकदमा ही लें तो क्या आपका काम नही चलेगा ? मैं चाहती हूं कि आप प्रतिज्ञा ले ले कि भविष्य मे कोई भी झूठा मुकदमा आप हाथ मे नही लेंगे ।

पत्नी की बात वकील के गले उतर गई । वकील ने झूठा मुकदमा न लेने की प्रतिज्ञा की। उसने अपने मुवक्किल से कहा—आप यह रुपया ले जाइए और किसी प्रकार अपने प्रतिवादी को सन्तुष्ट कीजिए । दरअसल आज उसे कितना दु ख हो रहा होगा ? आज मैं अपने वाक्चातुर्य से न्यायाधीश के सामने झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा सिद्ध करने मे सफल भी हो जाऊँ किन्तु जब परलोक में मुझे पुण्य-पाप का हिसाब देना पड़ेगा तब क्या उत्तर दूंगा ? कहा भी है.—

होयगो हिसाब तब मुख से न आवे ज्वाब,
'सुन्दर' कहत लेखा लेगो राई-राई को ।।

वकील की बात सुनकर मुवक्किल भी चकित रह गया और कहने लगा— वास्तव मे वकील-पत्नी एक सत्य-मूर्ति है, जिसने पचास हजार को भी ठोकर लगा दी ।

इस घटना के आधार पर तुम किसे महान् मानोगे ? स्त्री को या पुरुष को ? हमारे लिए तो स्त्री-पुरुष का कोई

भेद नही है। जो सत्य-सरलता रखता है वही महान् है। शास्त्र मे भी कहा है—'त सच्च खु भयव' अर्थात् सत्य ही भगवान् है। हम लोग सत्यमूर्ति भगवान् महावीर के शिष्य हैं। हमें उनके कथन पर विश्वास रखकर कपटभाव का त्याग करना चाहिए।

सत्याचरण की प्रतिज्ञा ले लेनें से वकील की पत्नी अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसनें कहा—हम लोगों को भले ही कष्ट सहन करने पडें, लेकिन पाप की कमाई करना उचित नही है। दूसरे दिन वकील नें वादी और प्रतिवादी को बुलाकर दोनो के बीच सन्तोषजनक समझौता करा दिया।

कहनें का आशय यह है कि छल-कपट करनें वाले को लोग होशियार समझते हैं परन्तु जब कपटी का ध्यान अपनी ओर जाता है तो उसे पश्चात्ताप हुए बिना नही रहता। अतएव छल-कपट का त्याग करके और माया ममता को छोड़कर आत्महितैषी लोगों को सरलता का आश्रय लेना चाहिये। लोगों मे कपट होनें के कारण ही आज कचहरियां निभ रही हैं। पहले जब लोगो मे सरलता थी तो पचायत में ही झगड़े का समाधान हो जाता था। सुनते हैं, अब फिर पंचायत की पद्धति आरम्भ हो रही है। परन्तु यह पद्धति तभी लाभदायक हो सकती है जब कपट का त्याग करके सत्यता और सरलता को जीवन में स्थान दिया जाये। सत्यता और सरलता रखना ही सुमति है तथा कूड़-कपट और माया-ममता रखना ही कुमति है। अगर हम सुमति चाहते हैं तो कपट का त्याग करना अनिवार्य है।

जो लोग सत्यता और सरलता का महत्व समझते हैं, वे मस्तक पर अनेक संकट आ पड़ने पर भी सत्यता

और सरलता का परित्याग नही करते। शास्त्र में इस बात के ज्वलन्त उदाहरण मौजूद हैं कि सत्यता और सरलता के द्वारा किस प्रकार आत्मा का कल्याण किया जा सकता है। उन उदाहरणो में से अनेक उदाहरण तुम्हे सुनाये भी गये हैं। फिर भी तुम इस ओर पेक्षा ही धारण किये हो, यह उचित नही। सत्यता और सरलता की उपेक्षा करने का परिणाम आखिर बुरा ही आता है। रावण ने साधु का वेष पहनकर कपटपूर्वक सीता का हरण किया और राम की मर्यादा का उल्लघन किया था। मगर जब उसका कपट खुल गया तो कितना भीषण परिणाम आया ? कपट प्रकट होने पर दुष्परिणाम होता ही है। अतएव कपट का त्याग करके सरल-सत्य व्यवहार करो। इससे अन्त में तुम्हारा भला ही होगा। अजना में कपट होता और सरलता न होती तो अन्ततः वह प्रकट हुए विना न रहता। मगर उसमे सरलता थी और साथ ही सत्यता थी अतएव वह यही विचारती थी कि आखिर तो 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् विजय सत्य की ही होती है।

श्रीभगवतीसूत्र में भगवान् से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है :—

प्रश्न – से णूण भंते ! अथिर पलोट्टइ, थिरं न पलोट्टइ ?

उत्तर— हंता, गोयमा !

अर्थात्— हे भगवन् ! अस्थिर पलटता है और स्थिर नही पलटता है, यह बात सच है ? भगवान् उत्तर देते हैं– हाँ, गौतम ! यह सच है।

यही बात सत्य के विषय मे समझना चाहिए, क्योंकि

सत्य भी स्थिर और शाश्वत है। सत्य सदा साथ ही रहता है। अतएव सत्य को जीवन में स्थान दो। सत्य को अपनाना भगवान् को अपनाना है।

कहते हैं, एक बार कबीर ने चलती चक्की देखी और उसमें से गेहूं का आटा निकलते देखा। यह देखकर उन्होने कहा—

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दोनो पुड़ के बीच में, साबित बचा न कोय॥

कबीर चलती चक्की देखकर रो पड़े और कहने लगे-इस पृथ्वी और आकाशरूपी विश्वव्यापी चक्की के पाटो में से कोई भी जीव नही बचे सका। सभी को मरना पड़ा है। कबीर का यह कथन पास में खड़े एक मनुष्य ने सुना और वह बोला—

चक्की चले तो चलन दे, सबका मैदा होय।
कीले से लागे रहो, बाल न बांका होय॥

अर्थात्—चक्की चलती है और गेहूं का आटा हो रहा है तो होने दो। अगर परमात्मा या सत्यरूपी कील को पकड़े रहोगे तो तुम्हारा बाल भी बांका नही हो सकता। कहा भी है:—

परिवर्तिनि संसारे मृत: को वा न जायते।

अर्थात्—इस परिवर्त्तनशील संसार में जो उत्पन्न होता है वह अवश्य मरता है।

परन्तु जो सत्य की कीली को पकड़ रखता है, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता। उसकी रक्षा अवश्य होती है। अतएव परमात्मारूपी कीले को पकड़े रहो तो तुम्हारी रक्षा

होगी । परमात्मा के सान्निध्य में (समीप में) आना ही योग है । कहा भी है—'सयोगो योग इत्युक्त' ।' अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा का सयोग होना ही योग कहलाता है । आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने के लिए ही अष्टविध योग की क्रिया की जाती है । तुमसे कुछ अधिक नही हो सकता तो सत्य का अवश्य पालन करो । सत्याचरण करना भी आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने का साधन है । तुम चाहे जैसी दुःखमय अवस्था मे होओ अगर तुम परमात्मारूपी जीवन से जीवित हो तो तुम्हारे आत्मा का कल्याण हुए बिना रह ही नही सकता । तथास्तु ।



सत्तरवां बोल



लोभ—विजय

परमात्मा का सच्चा नाम-संकीर्तन करने के लिए कषाय का त्यागना आवश्यक है। जब तक हृदय में कषाय-भावना है तब तक परमात्मा की सच्ची प्रार्थना नहीं हो सकती। कषाय का त्याग करना अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतना। कषाय को जीतने से आत्मा को बहुत लाभ होता है। क्रोधविजय, मानविजय और माया-विजय से होने वाले लाभो पर पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न – लोहविजएण ! भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर – लोहविजएणं संतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ७० ॥

होगी । परमात्मा के सान्निध्य में (समीप में) आना ही योग है । कहा भी है—'सयोगो योग इत्युक्त' ।' अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा का सयोग होना ही योग कहलाता है । आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने के लिए ही अष्टविध योग की क्रिया की जाती है । तुमसे कुछ अधिक नही हो सकता तो सत्य का अवश्य पालन करो । सत्याचरण करना भी आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने का साधन है । तुम चाहे जैसी दुःखमय अवस्था में होओ अगर तुम परमात्मारूपी जीवन से जीवित हो तो तुम्हारे आत्मा का कल्याण हुए बिना रह ही नही सकता । तथास्तु ।



सत्तरवां बोल



लोभ—विजय

परमात्मा का सच्चा नाम-संकीर्तन करने के लिए कषाय का त्यागना आवश्यक है। जब तक हृदय में कषाय-भावना है तब तक परमात्मा की सच्ची प्रार्थना नही हो सकती। कषाय का त्याग करना अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतना। कषाय को जीतने से आत्मा को बहुत लाभ होता है। क्रोधविजय, मानविजय और माया-विजय से होने वाले लाभो पर पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूलपाठ

प्रश्न – लोहविजएण ! भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर – लोहविजएणं संतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— लोभ को जीतने से आत्मा सन्तोष प्राप्त करता है, लोभ-वेदनीय कर्मों का बध नही करता और पहले बन्धे कर्मों की निर्जरा करता है।

व्याख्यान

अवगुणों में लोभ सबसे बड़ा अवगुण है। लोभ से लौकिक हानि भी होती है और लोकोत्तर हानि भी होती है। लोभ का कही थोभ (विश्राम) नही होता। इसी कारण लोभ को वैतरणी नदी की उपमा दी गई है। लोभ-तृष्णा कैसी है, इस विषय में एक कवि ने कहा है :—

आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,
राग्र ग्राहवती वितर्कगहना धैर्य-द्रुमध्वसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,
तस्या पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वरा।

इस श्लोक में कवि कहता है कि आशा नदी-वैतरणी नदी के समान है। तृष्णा, लोभ, आशा, यह सब पर्यायवाची शब्द हैं। जो लोग इस तृष्णा नदी के प्रवाह में फँस जाते हैं, उनके हृदय में ऐसे अनेक संस्कार उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण दु ख भोगने पड़ते हैं और संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

आशारूपी नदी में मनोरथरूपी जल भरा है। नदी

के पानी का तो अन्त आ सकता है परन्तु मनोरथ का अन्त नहीं आ सकता । श्रीउत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है—दो माशा सोने की इच्छा रखने वाले की करोड़ों की सम्पत्ति से भी आशा-तृष्णा शान्त नही हुई । इस प्रकार आशा-तृष्णारूपी नदी के मनोरथरूपी जल से बाहर निकलना बडा कठिन है। बडी-बडी नदियो को पार करने मे तो बहुत से लोग समर्थ हुए होगे, पर आशा-नदी को पार करने मे कोई विरले ही समर्थ हो पाते हैं । साधारण लोग इस नदी को पार नही कर सकते ।

आशा-नदी मे मनोरथरूपी जो पानी भरा हुआ है, उसमे तृष्णा की तरगें उठती रहती हैं। जैसे नदी मे मगर-मच्छ होते हैं, उसी प्रकार आशा नदी मे भी द्वेपरूपी मगर-मच्छ होते हैं । वे आपस मे ही एक दूसरे को खा जाते हैं। वे यह विचार नही करते कि जैसे मैं दूसरे को खा जाता हू वैसे ही दूसरा कोई मुझे भी खा जाएगा । इसी प्रकार ससार मे पडे लोग राग द्वेष के वश होकर एक दूसरे पर आक्रमण करना चाहते हैं । वे यह नही विचारते कि जिस प्रकार हम दूसरे पर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार दूसरे हमारे ऊपर भी आक्रमण करेंगे ।

नदी मे जब पूर आता है तब किनारे के छोटे छोटे पौधे भी बह जाते हैं । आशा नदी भी अपने किनारे पर उगे हुए धैर्य आदि गुणरूपी पौधो को बहा ले जाती है । नदी मे भँवर पडते हैं और उनमे बडे-बडे आदमी भी डूब जाते हैं, उसी प्रकार आशा नदी मे भी मोहरूपी भँवर पड़ते हैं जिनमे बडे-बड़े भी डूब मरते हैं । आशा-नदी के दोनो ओर चिन्तारूपी दो किनारे हैं। अन्य नदियो को तो नौका

आदि द्वारा पार किया जा सकता है, लेकिन आशा-नदी को पार करना अत्यन्त कठिन है। इस दुस्तर नदी को कोई शुद्ध मन वाला योगीश्वर ही पार कर सकता है।

नाव मे बैठ कर कोई भी दुस्तर नदी पार की जा सकती है। बल्कि ऐसी अवस्था मे नदी एक क्रीडास्थली बन जाती है। इसी प्रकार जो लोग शुद्ध भावना के साथ परमात्मा का शरण ग्रहण करते हैं, उनके लिए यह ससार भी क्रीडाधाम बन जाता है। परमात्मा के शरण मे जाने पर यह दुःखमय ससार भी सुखमय बन जाता है। अतएव अगर दु खमय ससार को सुखमय बनाना चाहते हो तो परमात्मा का तथा परमात्म-प्ररूपित धर्म का शरण स्वीकार करो।

कहने का आशय यह है कि आत्मा को आशा नदी पार करनी चाहिए। अगर तुम आत्मा को आशा-नदी के परले पार पहुंचाना चाहते हो तो परमात्मा के शरण में जाओ और कुछ भी न बन पड़े तो परमात्मा का नाम-कीर्त्तन ही करो। शास्त्र मे कहा है—

एको वि णमुक्करो जिणवरवसहस्स बद्धमाणस्स।
ससार–सायराओ तारेइ नर व नारिं वा॥

परमात्मा को किया गया एक भी नमस्कार जब आत्मा को ससार-समुद्र से पार कर देता है तो फिर एक नदी को पार करा देना कौन बडी बात है? अत. संसार-समुद्र को पार करने के लिए परमात्मा के शरण मे जाना चाहिए। परमात्मा के शरण में जाने से आत्मा का कल्याण अवश्य होता है।

आज केवल कहने का जमाना नही रहा। अब कार्य कर दिखाने का समय आ गया है। इसलिए तुम सुनने या कहने मे ही न रहो वरन् आत्मा का कल्याण करने वाले कार्यो मे लगो। पूज्य श्री श्रीलाल जी महाराज कहा करते थे—अपना शरीर नष्ट करने के लिए तो एक सुई की आवश्यकता रहती है, परन्तु दूसरों का शरीर नष्ट करने के लिए तलवार, बन्दूक आदि बड़े शस्त्रो की जरूरत पडती है। इसी प्रकार जब दूसरो को उपदेश देना हो तो हेतु-दृष्टान्त आदि की आवश्यकता रहती है परन्तु जब अपनी ही आत्मा का कल्याण करना हो तो अधिक कहने की आवश्यकता नही रहती सिर्फ आत्मा को सरल बना कर आत्मा का कल्याण करने वाले अनुष्ठान करने की ही आवश्यकता होती है।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब परमात्मा का नाम-सकीर्तन करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है तो फिर लोभ को जीतने के विषय में भगवान् से क्यों प्रश्न किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लोभ को जीतने से ही परमात्मा के नाम का सच्चा सकीर्तन हो सकता है। लोभ मे पड़े हुए लोग परमात्मा का सकीर्तन करते-करते दूसरे प्रलोभनो मे फँस जाते है और तुच्छ वस्तु के लिए महान् वस्तु का त्याग कर देते हैं। जैसे मूर्ख मनुष्य थोडे से लाभ के बदले कीमती वस्तु का त्याग कर देते हैं, उसी प्रकार बहुत से लोग नौ निदानो मे से किसी प्रकार के निदान (नियाणा) द्वारा अपनी धर्मक्रिया बेच डालते है। जब लोभ जीत लिया जायेगा तो इस प्रकार की भूल नहीं होगी। लोभ-विजयी पुरुष महान् परिश्रम से प्राप्त वस्तु

व्यर्थ नष्ट नहीं करेगा ।

कल्पना कीजिये, किसी को खान खोदते समय एक कीमती हीरा मिला। अब दूसरा आदमी उससे कहता है— 'यह हीरा मुझे दे दो, मैं तुम्हे पाच सेर मिठाई देता हू।' हीरा वाले पुरुष को भूख भी लगी है। फिर भी क्या वह मिठाई के बदले हीरा दे देगा ? इस प्रश्न का उत्तर नकार मे ही मिलेगा । वह यही सोचेगा कि मेरा हीरा कीमती है। मैं मामूली कीमत की मिठाई के बदले अपना मूल्यवान् हीरा कैसे दे दू ? अगर वह हीरे को कीमती समझता हुआ भी मिठाई के बदले में दे देता है तो उसे मूर्ख ही कहना होगा । इसी प्रकार नाम सकीर्तनरूपी रत्न को तुच्छ वस्तु के बदले में दे देना मूर्खता ही है। जो लोग नाम-सकीर्तन को कीमती समझ कर ससार के किसी भी पदार्थ के साथ उसकी अदल-बदल नही करते, वही उसका महान् फल प्राप्त कर सकते है। पर यह महान् फल तभी प्राप्त हो सकता है जब लोभ पर विजय प्राप्त कर ली जाये। इस प्रकार लोभ को जीते बिना परमात्मा के नाम-कीर्तन का यथेष्ट लाभ प्राप्त नही हो सकता ।

अगर कोई सौ रुपया देकर तुम्हे भगवान् महावीर को गाली देने के लिए कहे तो क्या तुम भगवान् को गाली दोगे ? नही; भले ही तुम्हे रुपयो की आवश्यकता है, फिर भी तुम भगवान् को गाली नही दोगे । ऐसा करने का कारण यही है कि तुमने भगवान् के लिए सौ रुपये का लोभ त्याग दिया है। जैसे तुमने सौ रुपये का लोभ छोड़ रखा है, उसी प्रकार कोई हजार का लोभ छोडने वाला भी मिल सकता है। इसी प्रकार जो महान् लोभ त्याग देता है वही नाम-

सकीर्तन का लाभ प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत जो लोभ नही तजता वह तुच्छ वस्तु के बदले मे नाम-संकीर्तन के महान् लाभ से वचित हो जाता है। अरणक श्रावक को देव ने कुण्डल की दो जोड़िया दी थी, लेकिन अरणक ने उन्हे अपने पास नही रखा, क्योकि वह उसकी परिग्रह की मर्यादा से बाहर थी। अगर अरणक ने लोभ न जीता होता तो क्या वह मर्यादा मे स्थिर रह सकते थे ? जो व्यक्ति अपनी वस्तु को अनमोल मान कर पुद्गल के मोह मे नहीं पड़ता है, वही अपनी वस्तु की रक्षा कर सकता है। इसी प्रकार परमात्मा के नामसकीर्तन के फल की रक्षा भी वही कर सकता है जो नामसंकीर्तन के बदले में ससार की कोई भी वस्तु नही चाहता।

तुममे से कोई कह सकता है कि हम परमात्मा के नामसकीर्तन के बदले मे सांसारिक पदार्थों की इच्छा करते ही कहा हैं ! ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि अनेक लोग हमारे पास आते हैं और कहते हैं— मुझे अमुक काम के लिए जाना है, अतः मागलिक सुनना चाहता हू। हालांकि साधु को किसी भी समय मांगलिक सुनाने में कोई बाधा नही है, फिर भी देखना चाहिए कि सुनने वाले की भावना क्या है ! वह तो मागलिक सुनकर अपने सासारिक कार्य की सफलता ही चाहता है। पर इस तरह सासारिक पदार्थों के प्रति ममता रख कर मागलिक सुनना तो परमात्मा के नामसकीर्तन को सासारिक पदार्थों के बदले मे बेचने के समान है। इसलिए आत्मा को निर्मल रखना चाहिए और ससारिक पदार्थों के प्रति उत्पन्न होने वाली इच्छा को दबा रखना चाहिए। हम लोगो को आत्म-

कल्याण का यह सुयोग प्राप्त हुआ है। इस सुयोग को वृथा न जाने देकर परमात्मा का नामसकीर्तन करके आत्महित साध लेना चाहिए। परमात्मा के नाम-सकीर्तन का महत्व कुछ कम नही है। शास्त्र मे कहा है:—

तहारूवाण अरिहंताण भगवंताण नामगोयं सवणयाए वि महाफल।

अर्थात्—तथारूप अरिहन्त भगवान् के नाम-गोत्र का श्रवण करने से भी महान् फल प्राप्त होता है। इस महान् फल की प्राप्ति सरलतापूर्वक हो सकती है, पर लोग परमात्मा का नामकीर्तन न करके फिजूल कामो मे समय का दुरुपयोग करते हैं। लोग रेल मे बैठकर एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं। उस समय रेल मे कोई खास काम नहीं रहता। फिर भी लोग क्या परमात्मा का स्मरण करने मे वह समय लगाते हैं? उस समय मे परमात्मा का नामस्मरण किया जाये तो क्या हानि हो सकती है? ऐसा न करने का कारण नामस्मरण के प्रति उनको लापरवाही है। मैं तुम सबको परमात्मा का नामस्मरण करने का उपदेश देता हूं। परन्तु जब तक तुम्हारे आत्मा में जागृति न आये तब तक सिर्फ मेरा उपदेश क्या असर कर सकता है? जमीन में बीजारोपण करने पर वर्षा हो जाये तो बीज उग सकता है। अगर बीजारोपण ही न किया हो तो वर्षा होने पर भी उससे क्या लाभ है? अतएव मुझे तुमसे यही कहना है कि अपने अन्तरात्मा में परमात्मा का नाम-कीर्तन करने की जागृति उत्पन्न करो। लोभ का त्याग करके परमात्मा का नाम-सकीर्तन करने से आत्मा का कल्याण हुए बिना नही रहेगा।

एकत्तरवां बोल



राग-द्वेष-मिथ्यादर्शन-विजय

आत्मा को स्वतन्त्र बनानें के उद्देश्य से ही शास्त्र में सम्यक्त्व के विषय में पराक्रम करने के लिए कहा गया है। सम्यक्त्व मे पुरुषार्थ करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

पराक्रम, शक्ति सामर्थ्य या पुरुषार्थ तो प्रत्येक जीवात्मा में विद्यमान है। मगर उसका उपयोग भिन्न-भिन्न रूपो में हो रहा है। जो पुरुष शस्त्र का प्रयोग दूसरे पर न करके अपने ही ऊपर करता है, उसकी गणना मूर्खों मे की जाती है। इसी प्रकार ससार से तिरनें के जो साधन प्राप्त हुए हैं, उन साधनो से ससार में डूबने वाला जीव बालजीव कहलाता है।

जब यह बाल-भाव मिटता है तो साथ ही दृष्टि में भी परिवर्त्तन होता है। इस परिवर्तित दृष्टि को जैनदर्शन सम्यग्दृष्टि कहता है। इस दृष्टि को प्राप्त करने के पश्चात् जो पुरुषार्थ होता है वही सच्चा पुरुषार्थ है।

जीवन का सच्चा पुरुषार्थ स्फुटित करने के लिए

शास्त्रकारों ने सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन में ७३ उपाय बतलाये हैं , इनमे से सत्तर उपायो पर विस्तार के साथ विवेचन किया जा चुका है । सड़सठवें से सत्तरवें बोल तक कषाय का त्याग करने के लिए कहा गया है । राग, द्वेष और मिथ्यात्व का त्याग किये बिना कषाय का त्याग नही हो सकता । इसलिए गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से राग-द्वेष-मिथ्यात्व के त्याग के सम्बन्ध मे प्रश्न करते हैं :—

मूलपाठ

प्रश्न—पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पिज्जदोसमिच्छादसणविजएणं नाणदंसणचरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए अट्ठवीसइविह मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविह नाणावरणिज्जं, नवविह दंसणावरणिज्जं, पचविहं अन्तराइयं, एए तिन्नि वि कम्मसे जुगवं खवेइ, तओ पच्छा अणुत्तरं कसिणं पडिपुण्ण निरावरण वितिमिर बिसुद्धं लोगालोगप्पभाव केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेइ, जाव सजोगी भवइ ताव इरियावहियं कम्म निबंधइ सुहफरिस दुसमयठिइय तं पढमसमए बद्ध बिइयसमये वेइय तइयसमये निज्जिण्ण, तं बद्ध पुट्ठं उदीरिय वेइयं निज्जिण्ण सेयाले य अकम्मं यावि भवइ ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से, सर्वप्रथम तो जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे उद्यमी बनता है, फिर आठ प्रकार के कर्मों की गाठ से मुक्त होने के लिए क्रमपूर्वक अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्मो का क्षय करता है। उसके अनन्तर पाच प्रकार के ज्ञानावरण कर्म नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म और पाच प्रकार के अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करता है। तत्पश्चात श्रेष्ठ, सम्पूर्ण, आवरणरहित, अन्धकाररहित, विशुद्ध और लोक अलोक मे प्रकाशित केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करता है। केवलज्ञानी और केवलदर्शनी होने के बाद जब तक सयोगी होता है तब तक ईर्यापथिक कर्म बधता है। उस कर्म का स्पर्श सिर्फ दो समय की स्थिति वाला और सुखकर होता है। वह कर्म पहले समय मे बंधता है दूसरे समय मे वेदन किया जाता है और तीसरे समय मे नष्ट हो जाता है।

व्याख्यान

शास्त्र में कहा है—'रागो य दोसो वि य कम्मबीयं' अर्थात् राग और द्वेष—यह दोनो कर्मबीज हैं। ससार से मुक्त होने के लिए इस कर्मबीज को दग्ध कर देना आवश्यक है। द्वेष को जीतना जितना कठिन है, उसकी अपेक्षा राग को जीतना अधिक कठिन है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने म राग, द्वेष तथा मिथ्यात्व, यह तीनों बाधक हैं। यहा राग द्वेष और मिथ्यात्व को एक साथ बतला कर उनका कार्य कारण सम्बन्ध प्रकट किया गया है।

बाह्य दृष्टि से राग द्वेष को जीत लेने से ही यह नही

कहा जा सकता कि वास्तव में राग-द्वेष जीत लिए गये हैं। जब सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की आराधना हो तभी समझना चाहिए कि राग-द्वेष पर विजय प्राप्त हो चुकी है। अगर इस रत्नत्रय की भलीभाति आराधना नही होती तो समझना चाहिए कि राग, द्वेष और मिथ्यात्व को लोक-दिखाऊ ही जीता है–वास्तविक रूप से नही।

जिस काम को करने मे कोई कष्ट नही होता, लोग उसे करने के लिए तैयार हो जाते हैं। मगर कष्टकारी कार्य करने के लिए लोग तैयार नही होते। जैसे एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करना भी शास्त्रसम्मत है, किन्तु एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करने के लिए जितना पुरुषार्थ करना पडता है, उसकी अपेक्षा बहुत ज्यादा पुरुषार्थ पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा के लिए करना पडता है और पचेन्द्रियों मे भी पशुओ की अपेक्षा मनुष्य की रक्षा करने मे सबसे ज्यादा श्रम करना पडता है। जीवत्व की दृष्टि से तो एकेन्द्रिय भी जीव है और पचेन्द्रिय भी जीव है, परन्तु पचेन्द्रिय को और उसमें भी मनुष्य की रक्षा करने मे राग-द्वेष को अधिक मात्रा में जीतना पडता है। इसलिए समस्त प्राणियो मे सबसे पहले मनुष्य रक्षा का पात्र है। परन्तु आज तो उलटी गङ्गा वह रही है। आज लोग एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करने के लिए तो तैयार हो जाते हैं लेकिन पचेन्द्रिय और मनुष्य की रक्षा करने में उपेक्षा बतलाते हैं। एक बकरे को छुडा कर पीजरापोल में भेज देना सरल है, इस कारण उसकी रक्षा करने के लिए लोग तैयार हो जाते है मगर मनुष्य को रक्षा करने का अवसर आने पर विचार मे पड जाते हैं। बकरे को पीजरापोल मे भेज कर लोग अपनी जिम्मेवरी से छूट

जाते हैं लेकिन विचार करो कि राग-द्वेष को अधिक कहा जीतना पडता है ? बकरे की रक्षा करने में अधिक राग-द्वेष जीतना पडता है या मनुष्य की रक्षा करने में ? कदाचित् लोग मनुष्य के प्रति दया दिखलाते भी हैं तो पैसा-आधा पैसा देकर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं। वे यह नही सोचते कि मनुष्य के प्रति हमारी गहरी जिम्मेवरी है । वास्तव में मनुष्य की दया किस प्रकार की जा सकती है और मनुष्य की दया करने की हमारे ऊपर कितनी जिम्मेवरी है, यह बात स्पष्ट करने के लिए एक सुना हुआ उदाहरण इस प्रकार है:—

कहते हैं, अमेरिका में दो मित्र गिरजाघर जा रहे थे। इस गिरजाघर के बाहर कुछ लूले-लँगडे भिखारी पड़े थे । इक लँगड़ों को देखकर एक मित्र को दया आई । दया तो दोनो के हृदय में उत्पन्न हुई थी मगर एक नें अपनी दया सफल करने के लिए जेब से कुछ पैसा निकाल कर भिखारी को दे दिये । यह देख कर दूसरे ने कहा—तुमने इस लँगड़े भिखारी पर दया तो की, किन्तु यह तो भिखारी का भिखारी ही रहा ! हृदय मे दया उत्पन्न होने पर भी और पैसा देने पर भी भिखारी का भिखारीपन तो मिटा नही !

सुनते हैं, बम्बई कलकत्ता आदि बडे शहरो मे लोग प्रायः अन्धो को पैसा देते हैं, आँख वालो को बहुत कम देते हैं। अतएव अनेक भिखारी अपने बालकों की आखें इसलिए फोड डालते हैं कि वह अन्धे हो जाएँगा तो उन्हे ज्यादा पैसे मिलेंगे ।

दूसरे मित्र ने पैसा देने वाले से कहा— अगर हमारे अन्तकरण में उस भिखारी के प्रति सचमुच अनुकम्पा हो

तो हमें सिर्फ कुछ पैसे देकर ही छुटकारा नही पा लेना चाहिए, वरन् उसका भिखारीपन दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । भिखारी पर दया करके तुमने पैसे का ममत्व त्याग किया है, सो तो ठीक है मगर तुमने सच्ची दया का परिचय नही दिया ।

पहले मित्र को इस प्रकार कह कर दूसरा मित्र उस लँगडे भिखारी को अपने घर ले गया और बनावटी पैर लगाकर उसे इस योग्य बना दिया कि वह चलने-फिरने में समर्थ हो गया । इसके बाद उसे कई काम सिखला कर ऐसा बना दिया कि उसे भीख न माँगनी पड़े ।

इस घटना पर विचार करो । सोचो कि दोनो में से किसकी अनुकम्पा अच्छी और ऊंचा है ? इस प्रश्न का यही निश्चित उत्तर मिलेगा कि जिसने राग द्वेष को जीतने का विशेष पुरुषार्थ किया है, उसी की दया उच्च है शास्त्र की दृष्टि से एकेन्द्रिय या पचेन्द्रिय प्राणी मे जीवत्व की अपेक्षा से कोई भेद नही है परन्तु जितनी दया बडे प्राणियो पर की जाएगी, उतना अधिक राग द्वेष जीतना पड़ेगा ।

कहने का आशय यह है कि लोग राग द्वेष को जीतने की बात तो करते हैं, मगर सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना होने पर ही माना जा सकता है कि राग द्वेष पर विजय प्राप्त की गई ऊपर से राग द्वेष को जीतने की बात करना और भीतर-भीतर क्रोध करना या द्वेष से जलना राग-द्वेष जीतने का चिह्न नही है । आत्मा भीतर से भी शात हो और बाहर से भी शात हो, तभी राग-द्वेष पर विजय पाना कहा जा सकता है ।

एक आदमी ने तीन आदमियो को गाली दी । गाली

सुनकर एक ने सोचा—मैं यही नही जानता कि गाली किसे कहते हैं? गाली देने वाला मुझे गाली नही, किन्तु उपदेश दे रहा है। वह मुझे लुच्चा कहता है, अगर मुझ मे लुच्चा-पन है तो मुझे उसका त्याग कर देना चाहिए और सचमुच मुझमे लुच्चापन है और यह आदमी उसकी निन्दा करता है तो क्या बुरा करता है? इस प्रकार विचार करके पहला मनुष्य शान्त रहा। उसके हृदय मे लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न नही हुआ।

दूसरे आदमी ने कहा—यह मुझे गालिया दे रहा है। यह कह कर उसने गाली देने वाले को दण्ड दिया।

तीसरे आदमी को गालिया असह्य मालूम हुईं। पर उसने सोचा—गाली देने वाला बलवान् है और मैं निर्बल हू। मैं उससे कुछ कहूगा तो वह मुझे मार देगा।

इन तीन तरह के मनुष्यो मे से तुम किसे अच्छा और किसे बुरा कहोगे? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जाएगा कि पहले मनुष्य ने पूरी तरह अहिंसा का पालन किया और गाली के विषय मे राग-द्वेष जीत लिया है, जब कि तीसरे आदमी ने अहिंसा का सिर्फ ढोग ही किया है। उसमे वास्तविक अहिंसा नही है। उसने दिखावटी तौर पर क्रोध को जीता है, दरअसल नही। उसके दिल में क्रोध है, बदला लेने की भावना है, पर अशक्ति के कारण ही वह चुप रहा है। इस प्रकार की अहिंसा या क्षमा तमोगुणी है। पहले मनुष्य ने जिस अहिंसा का परिचय दिया, वह अहिंसा सतोगुणी है।

हृदय मे राग-द्वेष उत्पन्न न होना, अपूर्व शाति रहना सतोगुणी क्षमा है। हृदय मे जब सतोगुणी क्षमा रहती है

(२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग।

मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ वस्तु मे श्रद्धा का अभाव या अयथार्थ वस्तु मे श्रद्धा होना । अविरति अर्थात् दोषो से विरत न होना। प्रमाद मर्थात् मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि । कषाय अर्थात् राग-द्वेष । योग अर्थात् मन, वचन और काय द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ति । इन पाच कारणो से जीवात्मा कर्म परमाणुओ को ग्रहण करते हैं। अतएव इन कमबन्धन के कारणो को दूर करना उचित है।

राग और द्वेष का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है। किसी भी वस्तु का स्वरूप समझ लेने के बाद ही उसे स्वीकार किया जाता है या त्य।गा ज ता है ।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं और कर्म-बीज दु खोत्पत्ति का कारण है । यह बात हम जान गये है तो अब यह विचारना चाहिए कि राग और द्वेष किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं और उन्हे दूर करने से क्या लाभ होता है ?

राग द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से किया है ।

भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्मग्रन्थि भेदने का तथा शाश्वत सुख पाने का मार्ग बतलाया है। राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसमे विद्यमान अनन्त शक्ति-सामर्थ्य प्रगट हो जाता है । जीवात्मा मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र अनन्त-वीर्य आदि विद्यमान है किन्तु कर्म के आवरण के कारण

आत्मा की शक्तियां तिरोहित हो रही हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों को किस प्रकार ग्रहण करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे दीपक वत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला के रूप मे परिणत करता है, उसी प्रकार जीवात्मा कषाय सम्बन्धी विकारो द्वारा कर्मरूप परिणत होने योग्य परमाणुओ को ग्रहण करता है और उनके कर्मरूप परिणमन मे निमित्त बनता है। आत्मा के प्रदेशों के साथ इन कर्म परमाणुओ का सम्बन्ध होना ही कर्मबन्ध कहलाता है।

यद्यपि आत्मा स्वभावतः अमूर्त्त है तथापि अनादिकाल से कर्म से संबद्ध है। अतएव मूर्त्त सरीखा होकर वह कर्मवर्गणा के परमाणुओ को ग्रहण करता है। वह कर्मबन्ध आठ प्रकार का है। वह इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—विशेष बोधरूप ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म।

(२) दर्शनावरणीय कर्म—वस्तु के सामान्य बोधरूप दर्शन को ढंकने वाला कर्म।

(३) वेदनीय कर्म— सुख और दुःख का अनुभव कराने वाला कर्म।

(४) मोहनीय कर्म— श्रद्धा और चारित्र का नाश करने वाला कर्म।

(५) आयुष्य कर्म— चार गतियो मे भ्रमण कराने वाला कर्म।

तभी सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्याय उत्पन्न होते हैं। अतएव अगर तुम सिद्धान्त के अनुसार राग द्वेष को जीतना चाहते हो तो बाहरी तौर पर ही राग-द्वेष को जीतने मे मत लगे रहो पर भीतर से भी उन्हे जीतने का प्रयत्न करो। भीतर और बाहर से राग-द्वेष को जीतोगे तो तुम्हारे आत्मा का अवश्य कल्याण होगा।

कर्म का बन्धन एक महाबन्धन है। जब तक जीवात्मा कर्मबन्धन से बद्ध है, तब तक उसे सच्चे सुख की प्राप्ति नही हो सकती। शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त होना चाहिए। बन्धन मे दु ख और मुक्ति मे सुख है।

कर्मबन्धन के कारण ही प्राणी अनेक प्रकार की सासारिक दु:खपरम्पराए सहन करते हैं। प्राणी जिस सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं, उसका मुख्य कारण शुभ-अशुभ कर्म है।

कर्म अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक शुभाशुभ व्यापार और उनसे बद्ध होने वाले कार्मण वर्गणा के पुद्गल। प्राणी मन, वचन और काय से शुभ या अशुभ प्रवृत्तियां करते हैं और इन प्रवृत्तियो के अनुसार ही शुभ-अशुभ फल-सुख-दु:ख उन्हे प्राप्त होता है।

ससार मे कोई गरीब, कोई अमीर, कोई दु खी, कोई सुखी, कोई राजा तो कोई रक है। इस विचित्रता का मुख्य कारण कर्म है। जीवात्मा मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मदण्ड से ही दण्डित होता है और फलतः जुदी-जुदी योनियो में भ्रमण करता है।

कर्म का बड़ा भारी दण्ड ससार के जजाल में से मुक्त

न होने देना है। संसार में रहकर अनेक प्रकार की आधि, व्याधि, उपाधि, जन्म जरा, मरण आदि की वेदनाओ वाली अवस्थाएं प्राप्त करना और दुस्सह दुःख भुगतते रहना ही कर्म का महान् दण्ड है।

यह कर्म-दण्ड प्रत्येक प्राणी को सहन करना ही पड़ता है। कर्म के इस अपराध का दण्ड समभाव से सहन किये बिना कोई भी प्राणी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त नही हो सकता। शास्त्रकार तो स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं:—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्— किये कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

कर्मबन्धन के कारण ही जीवात्मा नरकगति, तिर्यंच-गति, मनुष्यगति और देवगति— इन चार गतियो मे तथा चोबीस दण्डको मे और चौरासी लाख जीवयोनियो मे भ्रमण करता है और शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख का कडुवा-मीठा अनुभव करता है।

इन कर्मबन्धनो का मूल कारण तो राग और द्वेष ही है। अगर राग और द्वेष रूप इन दो कर्मबीजो को निर्मूल कर दिया जाये तो जीवात्मा कर्मबन्धनो से मुक्त हो सकता है। शास्त्रकार फिर कहते है:—

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।

अर्थात — राग और द्वेष, यह दोनो कर्मों के बीज हैं।

राग और द्वेष को दूर करने के लिए शास्त्रकारो ने कर्मबन्धन के कारणो को दूर करना आवश्यक बतलाया है। मुख्यरूप से कर्मबन्धन के पांच कारण हैं— (१) मिथ्यात्व,

(२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग।

मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ वस्तु मे श्रद्धा का अभाव या अयथार्थ वस्तु मे श्रद्धा होना। अविरति अर्थात् दोषो से विरत न होना। प्रमाद अर्थात् मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि। कषाय अर्थात् राग-द्वेष। योग अर्थात् मन, वचन और काय द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ति। इन पाच कारणो से जीवात्मा कर्म परमाणुओ को ग्रहण करते हैं। अतएव इन कर्मबन्धन के कारणो को दूर करना उचित है।

राग और द्वेष का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है। किसी भी वस्तु का स्वरूप समझ लेने के बाद ही उसे स्वीकार किया जाता है या त्यागा जाता है।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं और कर्म-बीज दु खोत्पत्ति का कारण है। यह बात हम जान गये हैं तो अब यह विचारना चाहिए कि राग और द्वेष किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं और उन्हे दूर करने से क्या लाभ होता है?

राग द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से किया है।

भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्मग्रन्थि भेदने का तथा शाश्वत सुख पाने का मार्ग बतलाया है। राग, द्वेप और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसमे विद्यमान अनन्त शक्ति-सामर्थ्य प्रगट हो जाता है। जीवात्मा मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र अनन्त-वीर्य आदि विद्यमान हैं किन्तु कर्म के आवरण के कारण

आत्मा की शक्तियाँ तिरोहित हो रही हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त्त कर्मों को किस प्रकार ग्रहण करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे दीपक वत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला के रूप मे परिणत करता है, उसी प्रकार जीवात्मा कषाय सम्बन्धी विकारो द्वारा कर्मरूप परिणत होने योग्य परमाणुओ को ग्रहण करता है और उनके कर्मरूप परिणमन मे निमित्त बनता है। आत्मा के प्रदेशों के साथ इन कर्म परमाणुओ का सम्बन्ध होना ही कर्मबन्ध कहलाता है।

यद्यपि आत्मा स्वभावतः अमूर्त्त है तथापि अनादिकाल से कर्म से सबद्ध है। अतएव मूर्त्त सरीखा होकर वह कर्मवर्गणा के परमाणुओ को ग्रहण करता है। वह कर्मबन्ध आठ प्रकार का है। वह इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—विशेष बोधरूप ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म।

(२) दर्शनावरणीय कर्म—वस्तु के सामान्य बोधरूप दर्शन को ढँकने वाला कर्म।

(३) वेदनीय कर्म— सुख और दुःख का अनुभव कराने वाला कर्म।

(४) मोहनीय कर्म— श्रद्धा और चारित्र का नाश करने वाला कर्म।

(५) आयुष्य कर्म— चार गतियो मे भ्रमण कराने वाला कर्म।

(२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग।

मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ वस्तु मे श्रद्धा का अभाव या अयथार्थ वस्तु मे श्रद्धा होना। अविरति अर्थात् दोषो से विरत न होना। प्रमाद अर्थात् मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि। कषाय अर्थात् राग-द्वेष। योग अर्थात् मन, वचन और काय द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ति। इन पाच कारणो से जीवात्मा कर्म परमाणुओ को ग्रहण करते हैं। अतएव इन कर्मबन्धन के कारणो को दूर करना उचित है।

राग और द्वेष का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है। किसी भी वस्तु का स्वरूप समझ लेने के बाद ही उसे स्वीकार किया जाता है या त्यागा जाता है।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं और कर्म-बीज दुखोत्पत्ति का कारण है। यह बात हम जान गये हैं तो अब यह विचारना चाहिए कि राग और द्वेष किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं और उन्हे दूर करने से क्या लाभ होता है?

राग द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से किया है।

भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्मग्रन्थि भेदने का तथा शाश्वत सुख पाने का मार्ग बतलाया है। राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसमे विद्यमान अनन्त शक्ति-सामर्थ्य प्रगट हो जाता है। जीवात्मा मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र अनन्त-वीर्य आदि विद्यमान है किन्तु कर्म के आवरण के कारण

आत्मा की शक्तियाँ तिरोहित हो रही हैं ।

प्रश्न किया जा सकता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त्त कर्मों को किस प्रकार ग्रहण करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे दीपक वत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला के रूप में परिणत करता है, उसी प्रकार जीवात्मा कषाय सम्बन्धी विकारों द्वारा कर्मरूप परिणत होने योग्य परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके कर्मरूप परिणमन मे निमित्त बनता है । आत्मा के प्रदेशों के साथ इन कर्म परमाणुओ का सम्बन्ध होना ही कर्मबन्ध कहलाता है ।

यद्यपि आत्मा स्वभावतः अमूर्त्त है तथापि अनादिकाल से कर्म से संबद्ध है। अतएव मूर्त्त सरीखा होकर वह कर्मवर्गणा के परमाणुओ को ग्रहण करता है। वह कर्मबन्ध आठ प्रकार का है। वह इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—विशेष बोधरूप ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म ।

(२) दर्शनावरणीय कर्म—वस्तु के सामान्य बोधरूप दर्शन को ढँकने वाला कर्म ।

(३) वेदनीय कर्म— सुख और दुःख का अनुभव कराने वाला कर्म ।

(४) मोहनीय कर्म— श्रद्धा और चारित्र का नाश करने वाला कर्म ।

(५) आयुष्य कर्म— चार गतियो मे भ्रमण कराने वाला कर्म ।

(६) नामकर्म— गति, शरीर, आकृति, वर्ण आदि निश्चित करने वाला कर्म ।

(७) गोत्रकर्म – उच्च-नीच गोत्र (कुल) मे जन्माने वाला कर्म ।

(८) अन्तरायकर्म—दान, लाभ, भोग आदि प्राप्ति में विघ्न डालने वाला कर्म ।

इन आठ प्रकार के कर्मबन्धो से मुक्त होने के लिए जीवात्मा को राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करना पड़ता है । क्योकि जब तक जीव इन्हें नही जीत लेता तब तक वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में उद्योगशील नही होता । जब आत्मा इस रत्नत्रय की आराधना में उद्योगशील होता है, तभी वह कर्मग्रन्थि तोडने मे समर्थ बन सकता है ।

कर्मग्रन्थि को तोडने के लिए सर्वप्रथम मोहनीयकर्म को जीतने की खास आवश्यकता है। मोहनीयकर्म का स्थान सब कर्मों मे उच्च है। जैसे राजा को वश मे कर लेने पर उसका दल-बल सहज ही वश मे हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के इस राजा (मोहनीय) को जीत लेने पर शेष कर्म अनायास ही जीते जा सकते है ।

जिस वृक्ष की जड सूख जाती है, पानी सींचने पर भी वह उग नही सकता । इसी प्रकार कर्मोत्पत्ति के मूल कारण मोहनीयकर्म के नष्ट हो जाने पर अन्य कर्म उत्पन्न नही होते ।

आठ कर्मों मे चार घाती हैं और चार अघाती हैं। घाती कर्म आत्मा के मूल गुणो का घात करते हैं, अतएव

उन्हें सर्वप्रथम जीतना आवश्यक है। मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, यह चार कर्म घाती हैं। ज्यो-ज्यों इन कर्मों को आत्मा जीतता जाता है, त्यो-त्यों उसके गुणो का विकास होता जाता है। कर्मों के विनाश के साथ आध्यात्मिक विकास होता रहता है। कर्मों का जब सम्पूर्ण क्षय हो जाता है, तभी परमपद—मोक्ष की प्राप्ति होती है। जब तक थोड़ा सा भी योग अर्थात् मानसिक, वाचिक या कायिक व्यापार जारी रहता है, तब तक पूर्ण आध्यात्मिक विकास नही हो पाता। चौदहवें गुणस्थान मे अयोगीपन होता है। बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में योग मौजूद रहता है। घाती कर्मों के क्षय के साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में भी योग की विद्यमानता के कारण ऐर्यापथिक (ईरियावहिया) कर्म का आस्रव होता है। मगर वह कर्म प्रथम समय में बँधता है, दूसरे समय मे ही वेदन हो जाता है। तीसरे समय मे तो उसकी निर्जरा हो जाती है।

जो वीतराग और वीतद्वेष है, वह शोकरहित है। जैसे कमल की पाखुडी जल में रहती हुई भी जल से लिप्त नही होती, उसी प्रकार वीतराग ससार मे रहते हुए भी सासारिक दु:खप्रवाह से लिप्त नही होते। शब्दादि विषय कैसे भी क्यो न हों, उनके मन को लेशमात्र भी न भेद सकते हैं और न विकृत ही कर सकते हैं।

जिस प्रकार जले हुए बीज से अकुर उत्पन्न नही होते, उसी प्रकार नष्ट हुए कर्म-बीजों से भवरूपी अकुर उत्पन्न नही होता।

वीतराग और वीतद्वेष पुरुष किस प्रकार कर्मों का

नाश करते हैं, यह बतलाते हुए शास्त्र मे कहा गया है कि—

अपने राग-द्वेष तथा मोहरूप सकल्पो का स्वरूप विचारने में उद्यत उन वीतराग पुरुष को क्रमशः समता प्राप्त होती है। फिर विषयो का सकल्प हट जाने पर उनकी काम-गुणो की तृष्णा भी निवृत्त हो जाती है ।

इस प्रकार वीतराग होकर कृतकृत्य हुए उन पुरुष के ज्ञानदर्शन को आच्छादित करने वाले तथा अन्य अन्त-रायक कर्म क्षण भर मे क्षीण हो जाते हैं और तब वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बन जाते हैं ।



बहत्तर-तेहत्तरवां बोल



शैलेशी तथा निष्कर्मता

वीतराग पुरुष किस प्रकार मुक्तदशा प्राप्त करते हैं, इस विषय मे भगवान् महावीर ने फर्माया है :—

अह आउय पालइत्ता अन्तोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरिरं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाण झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ, वइजोगं निरुंभइ, कायजोगं निरुंभइ, आणपाणुनिरोहं करेइ, ईसि पंचहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य ण अणगारे समुच्छिन्नकिरिय अनियट्टिसुक्कज्झाण झियायमाणे वेयणिज्ज आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥ ७२ ॥

तओ ओरालियतेयकम्माइ सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झई, जाव अन्त करेइ ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

(वीतराग पुरुष) आयु पूर्ण करने में जब अन्तर्मुहूर्त्त जितना समय शेष रहता है तब योग का निरोध करते हैं और अप्रतिपाती शुक्लध्यान धर कर सबसे पहले मनोयोग का निरोध करते हैं, तदनन्तर क्रमशः वचनयोग और काययोग को रोकते हैं और फिर श्वासोच्छ्वास का निरोध कर देते है । तत्पश्चात् जितने समय में पाच लघु अक्षर बोले जाते हैं, उतने समय की स्थिति भोग कर तथा शुक्लध्यान के समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथे पाये का ध्यान करके वेदनीय कर्म, आयुकर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म—इन शेष रहे हुए चार अघाती कर्मों का एक ही साथ क्षय कर डालते हैं ॥७२॥

उसके बाद औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरो का त्याग करके, सरलश्रेणी प्राप्त करके, ऊर्ध्व अफुसमान (सीधी) गति करते हैं और साकारउपयोग से युक्त होकर सिद्ध तथा मुक्त होते हैं ॥ ७३ ॥

व्याख्यान

एकहत्तरवें बोल के साथ बहत्तरवें और तेहत्तरवें बोल का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इन अन्तिम दोनो बोलों का एक ही साथ विचार किया जाता है ।

७१ वें बोल से ७३ वें बोल में राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन के त्याग से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे विशेष विचार किया गया है ।

ससार का मूल कारण कर्म है और कर्म का मूल कारण राग-द्वेष है, अतएव राग-द्वेष को निर्मूल कर देने से

संसार-भ्रमण का अन्त होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से परपरा से तो मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु प्रारम्भ में ही तेरहवां गुणस्थान प्राप्त होता है। तेरहवा गुणस्थान मोक्ष-महल की अन्तिम सीढी है। वहा पहुंचने के बाद अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

बारहवें और तेरहवें गुणस्थान का वर्णन लगभग समान हैं, क्योकि दोनो गुणस्थान का वर्णन लगभग समान है, क्योकि दोनो गुणस्थान क्षायिक भाव के हैं। मोह का क्षय होने पर ही बारहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। अतएव आत्मा का वहां से पतन नही होता, किन्तु तेरहवें चौदहवे गुणस्थान पर आरूढ होकर आखिर मोक्ष प्राप्त करता ही है। इसलिए राग द्वेष जीत लेने के बाद क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध मे कोई प्रश्न नही किया गया है, क्योंकि रागादि को जीतने वाला मोक्ष प्राप्त करता ही है और इसी कारण यही अन्तिम प्रश्न है।

राग द्वेष पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करने से केवलज्ञान प्राप्त होता है फिर तेरहवें गुणस्थान की जघन्य या उत्कृष्ट-जितनी स्थिति होती हैं, उसमे से अन्तर्मुहूर्त्त आयु शेष रहने पर वे वीतराग पुरुष योग का निरोध करते हैं। सबसे पहले अप्रतिपत्ती शुक्लध्यान का तीसरा चरण धारण करके पहले पहल मनोयोग का निरोध करते हैं। मन सज्ञी पचेन्द्रिय को होता है। इस मनोयोग मे जघन्य योग समझना चाहिए। मनोयोग के असख्यात भेद करके प्रत्येक समय में प्रत्येक भेद का निरोध करते हैं और असख्यात समयो में सम्पूर्ण मनोयोग का निषेध हो जाता है। वचनयोग में भी

जघन्य योग समझना चाहिए । इसी प्रकार जघन्य काययोग के असख्यात भेद करके असख्यात समयो मे उसका पूर्ण निरोध करते हैं। इसके पश्चात् पांच लघु अक्षरो के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय की स्थिति भोगकर समुच्छिन्नक्रिया नामक शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद का आलम्बन करके शेष रहे हुए वेदनीयकर्म, आयुकम, नामकर्म और गोत्रकम का क्षय करते हैं ।

मोहनीय कर्म का क्षय होने से तीन घाती कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, पर चार अघाती कम बाकी बच जाते हैं। इन चारो का एक साथ क्षय करके औदारिक, तैजस और कामण शरीर का त्याग करके, सरलश्रेणी प्राप्त होकर 'अफुसमानगति' से जाते हैं । अर्थात् सिद्ध भगवान् टेढो गति नही करते सीधी गति करते हैं । 'अफुसमानगति' का अर्थ यह नही है कि वे आकाश के प्रदेशो का स्पर्श नही करते । टेढी मेढी गति न करके सीधी गति करना ही इसका अर्थ है ।

टेढी-तिरछी गति कर्म के निमित्त से होती है। वीतराग पुरुष जब मुक्त दशा प्राप्त करते है, तब उनके सभी कर्म नष्ट हो चुकते हैं । अतएव वे सीधी और साकार उपयोग-पूर्वक गति करते हैं ।

उपयोग के दो प्रकार है—साकार-उपयोग और निराकार-उपयोग । साकार-उपयोग ज्ञान का होता है और निराकार-उपयोग दर्शन का होता है । कुछ आचार्य ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक ही साथ होना कहते हैं, परन्तु शास्त्र के पाठ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि दोनो उपयोग एक साथ प्रयुक्त नही होते । सिद्ध होने वाले आत्मा ज्ञानोपयोग

से सिद्ध होते है । ज्ञान और दर्शन के उपयोग का समय एक ही नही हो सकता। दोनो का उपयोग भिन्न-भिन्न समय मे होता है। अतएव ज्ञानोपयोग मे ही सिद्ध होते है।

साकार उपयोग मे सीधी गति करके मुक्तात्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिपूर्ण अवस्था प्राप्त कर के निरावरण धर्म प्राप्त करते है।

प्रश्न किया जा सकता है कि आत्मा यदि अकर्मा अर्थात् कर्मरहित बन गया है तो फिर गति किस प्रकार कर सकता है? अगर आत्मा गति करता है तो गति का कारण अवश्य होना चाहिए अर्थात् कर्म होने चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गति करना तो आत्मा का स्वभाव है। अपने स्वभाव से आत्मा सीधी गति करता है, टेढी-तिरछी गति कर्म के कारण होती है। मुक्तात्मा सीधी गति करता है और ऐसा करना आत्मा का स्वभाव है।

उदाहरणार्थ—दीपक की शिखा हमेशा ऊपर ही जाती है, क्योकि यही उसका स्वभाव है। दीपक की शिखा को नीचे की ओर करना हो तो दूसरे प्रयोग से ही सम्भव है। इसी प्रकार आत्मा स्वभाव से सीधी गति करता है और कर्म के निमित्त से टेढी-तिरछी गति होती है।

लेप वाला तूबा लेप हटते ही ऊपर की ओर आता है। जब तक उस पर लेप चढा रहता है तब तक वह पानी में डूबा रहता है। इसी प्रकार आत्मा जब तक कर्म-युक्त रहता है तब तक टेढी गति करता है। जब कर्मरहित हो जाता है तो सीधी ही गति करता है। कहने का आशय यह है कि आत्मा मे गति करने का स्वभाव है। आत्मा

स्वभावत ऊर्ध्वगमन ही करना है। अतएव आत्मा कर्मरहित होने पर भी सीधी गति करता है।

अद्वैतवादी लोग सब जीवो में एक ही आत्मा होना कहते हैं, परन्तु उनका यह कथन युक्तिसगत प्रतीत नही होता। अगर आत्मा एक ही हो तो एक आत्मा के सिद्ध होने पर समस्त जीवात्माओ को सिद्ध मानना पड़ेगा। इसी प्रकार एक के मुक्त होने पर सभी का मुक्त होना मानना पडेगा। पर वास्तव में ऐसा नही होता। सब मे एक ही आत्मा है, यह कथन पूर्वोक्त कारणो से तथा अन्य अनेक कारणो से युक्तियुक्त नही जान पडता। अतएव सबका आत्मा अलग-अलग है, यही मानना उचित है।

शास्त्रकारों ने राग द्वेष और मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करने का फल परम्परा से सिद्धिगति प्राप्त होना बतलाया है। जो अवस्था सिद्ध भगवान् ने प्राप्त की है वही अवस्था प्राप्त करने का हमारा भी प्रयास होना चाहिए। सिद्धिगति प्राप्त करने का दृष्टिबिन्दु सामने रखकर सतत अभ्यास किया जाये तो सहज ही वह प्राप्त हो सकती है। जिन महापुरुषो ने यह अवस्था प्राप्त की है, उन्होने भी अभ्यास करते-करते ही प्राप्त की है। जो महापुरुष सिद्ध अवस्था प्राप्त करने का अभ्यास कर रहे हैं जिन्होने राग द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है और जो देह मे रहते हुए भी विदेह की भाति रहते है, उन महापुरुषो द्वारा बतलाये मार्ग पर चलने से अपन भी वह अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। हाँ, उस मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करना अपना काम है। पुरुषार्थ करते रहने से जब सिद्धगति प्राप्त हो जाती है, तब कोई भी काम करना शेष नही रहता।

मार्गदर्शक मार्ग प्रदर्शित कर देता है, मगर उस मार्ग पर चलने का काम तो प्रवासी को ही करना पड़ता है। केवलज्ञानी महापुरुषो ने मोक्ष का मार्ग हमे बतलाया है। उस पर चलने का पुरुषार्थ हमे ही करना पड़ेगा। पुरुषार्थ किये बिना सिद्धि नही मिल सकती।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त ही उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम का है। श्री उपासकदशागसूत्र के सकडालपुत्र के अध्ययन में इसी सिद्धान्त का महत्व प्रदर्शित किया गया है। गोशालक का मत यह है कि उत्थान आदि कुछ भी नही है, जो होनहार है वही होता है। इस मत के विरुद्ध भगवान् का सिद्धान्त यह है कि उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम आदि द्वारा आत्मा सिद्ध होता है। संक्षेप में, भगवान् महावीर पुरुषार्थवादी थे और गोशालक नियतिवादी था।

एक बार भगवान् महावीर ने सकडालपुत्र से कहा—आत्मा उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम से सिद्ध होता है। इस कथन के उत्तर मे सकडालपुत्र ने कहा कि उत्थान आदि द्वारा आत्मा सिद्ध नही होता वरन् होने वाला हो तो हो जाता है।

सकडालपुत्र पहले गोशालक का श्रावक था। इस कारण उसने गोशालक के मत का समर्थन किया। एक दिन सकडालपुत्र ने अपनी दुकान में से मिट्टी के बर्त्तन बाहर निकाले और धूप मे सुखा दिये। तब भगवान् महावीर ने उससे कहा—हे सकडाल ! यह मिट्टी के बर्त्तन किस तरह बने हैं?

सकडालपुत्र ने वर्त्तनो के बनने का क्रम बतलाते हुए कहा—जगल से मिट्टी लाया। फिर उसमे दूसरी चीजो का मिश्रण करके मिट्टी का पिंड बनाया। उसे चाक पर चढाया और तब वर्त्तन बनाये है।

भगवान् ने कहा—यह वर्त्तन उत्थान आदि से ही बने हैं न ?

सकडाल—नही, होनहार ही होता है।

भगवान्–अगर कोई तुम्हारे बर्त्तनो को फोड डाले तो ?

सकडाल—मेरे वर्त्तन फोडने वाले को मैं बिना मारे नही छोडूंगा। मैं उसके हाथ-पैर तोड दूगा।

भगवान्—सकडाल ! तुम उसे इतना दण्ड क्यो दोगे ? तुम्हारे हिसाब से तो होनहार ही होता है, फिर तुम दण्ड क्यो दोगे ? तुम्हे अपने मतव्य के अनुमार तो यही मानना चाहिए कि लकडी के सयोग से बत्तन फूटने वाले थे सो फूट गए।

भगवान् का यह कथन सुनकर सकडालपुत्र विचार में पड गया। इतने मे ही भगवान् ने उसके सामने दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा—हे सकडालपुत्र ! कल्पना करो, तुम्हारी पत्नी सिंगार करके बाहर निकली और कोई पुरुष उस पर बलात्कार करना चाहता है तो तुम क्या करोगे ?

सकडालपुत्र ने कहा—मैं ऐसे दुष्ट पुरुष के नाक-कान काट लूंगा, यहा तक कि उसे प्राणदण्ड देने का भी प्रयत्न करूँगा।

भगवान्—हे सकडालपुत्र ! तुम्हारे मत के अनुसार तो होनहार ही होता है। फिर तुम्हे उस दुष्ट पुरुष को दण्ड नही देना चाहिए।

भगवान् की युक्तिसगत वाणी सुनकर सकडालपुत्र को बोध हो गया। उसने भगवान् से कहा—'भगवन् ! मैं धर्म श्रवण करना चाहता हूं।' भगवान् नें उसे धर्म का श्रवण कराया। भगवान् की धर्मवाणी सुनकर वह बारह व्रतधारो श्रावक बन गया। जब तक सकडालपुत्र धर्मतत्त्व को समझा नही था तब तक उसमे मताग्रह था। जब उसे वास्तविक धर्मतत्त्व का बोध हुआ तो उसने नियतिवाद का त्याग करके पुरुषार्थवाद का सत्यधर्म स्वीकार किया।

सकडालपुत्र कुम्भार था, फिर भी भगवान् ने उसे श्रावक बनाया। क्या ऐसा करना ठीक था ? उन्होने कुम्भार को श्रावक बना कर ससार के सामने आदर्श उपस्थित किया कि कोई किसी भी वर्ण या जाति का क्यो न हो, शरीर से छोटा या मोटा क्यो न हो, मुझे किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का पक्ष नही है। मैं सबका कल्याण चाहता हू। भगवान् के इस कथन पर तुम भी थोडा विचार करो।

गोशालक ने सुना कि सकडालपुत्र ने मेरा मत त्याग दिया है। उसे फिर अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए गोशालक उसके पास पहुचा गोशालक ने विचार किया—सकडालपुत्र तो महावीर भगवान् का पक्का श्रावक बन गया है। तब उसने भगवान् की प्रशसा करना आरभ किया।

गोशालक ने सकडालपुत्र से कहा—'क्या यहां महामाहण, महायान, महानिर्यामिक, महागोप तथा महासार्थवाह आये थे ?'

सकडालपुत्र ने गोशालक से इन विशेषणों का अर्थ पूछा । गोशालक ने अर्थ समझाया । तब सकडालपुत्र ने कहा— तुमने मेरे गुरु की प्रशसा की है, इस कारण मेरी दुकान मे ठहरो और पाट आदि जो चाहिए सो ले लो । यह सब मैं तुम्हे गुरु मानकर नही देता हूं वरन् अपने गुरु भगवान् महावीर की प्रशसा करने के कारण दे रहा हू ।

कहने का आशय यह है कि भगवान् महावीर का सिद्धान्त उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम का है। 'जो होनहार है सो होगा' यह नियतिवाद गोशालक का मत है । हम भगवान् महावीर के उपासक हैं, अतएव सिद्ध-गति प्राप्त करने के लिए हमे पुरुपार्थ करना चाहिए ।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त भवितव्यता-नियतिवाद का एकान्त निषेध भी नही करता । भगवान् के सिद्धान्त का मन्तव्य यह है कि भाग्य के भरोसे बैठकर पुरुषार्थ मत छोडो । पुरुषार्थ करते रहो । पुरुषार्थ करने पर भी जो होना होगा सो होगा । मगर होनहार के भरोसे पुरुषार्थ त्याग देना उचित नही है। पुरुषार्थ के बिना कार्य की सिद्धि नही होती । पुरुषार्थ बिना ही सिद्धगति प्राप्त हो सकती तो शास्त्र की या धर्मोपदेश की क्या आवश्यकता थी ? जो कार्य आप ही हो जाये उसके लिए श्रम करने का उपदेश क्यो दिया जाये ? वास्तव मे प्रत्येक कार्य पुरुषार्थ के अधीन है, अतएव पुरुषार्थ करते रहना चाहिए ।

उपसंहार

सम्यक्त्वपराक्रम नामक २९ वां अध्ययन समाप्त हो रहा है। इस अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहा गया है—

मूलपाठ

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेण भगवया महावीरेणं आघविए, पन्नविए, परूविए, दंसिए, उवदंसिए ॥ ७४ ॥ त्ति बेमि । इअ सम्मत्तपरक्कमे अज्झयणे समत्ते ।

शब्दार्थ

इस सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान् महावीर ने सामान्य मे विशेष और विशेष में सामान्य निरूपण करके हेतु, फल आदि के द्वारा प्रकाशित किया है, उसका स्वरूप बतलाया है उपदेश दिया है, दृष्टान्त आदि द्वारा समझाया है और उसका उपसंहार किया है ।

व्याख्यान

इस सूत्रपाठ के साथ ही यह अध्ययन समाप्त होता है । इस अध्ययन मे सम्यक्त्व के विषय मे पराक्रम करने

को कहा गया है। यह बतलाया गया है कि सम्यक्त्वपूर्वक किये गये पराक्रम का फल क्या होता है ? समकित अर्थात् सच्ची श्रद्धा होने पर ही सब पराक्रम सार्थक होते है। जैसे एक का अक हो तो ही शून्य का महत्त्व होता है— अकेले शून्य का नही, इसी प्रकार समकितपूर्वक किया गया पराक्रम ही मुक्ति के लिए सार्थक होता है। कहा भी है—

एका से शून्य दस गुनो, एका विन सब शून्य।
जा घर एका पाइए, वांका भारी पुण्य ॥

अर्थात्—एक (१) अक पर शून्य (०) हो तो वह एक को दस बनाता है, पर अक के विना अकेले शून्य का कोई महत्त्व नही है। इसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के लिए किये गये पराक्रमो का मूल्य तभी है जब वह पराक्रम सम्यक्त्व-पूर्वक हो। समकित के अभाव मे सभी पराक्रम व्यर्थ हैं।

एक का अक होने पर भी इस बात का खास तौर पर ध्यान रखना पडता है कि शून्य उसके आगे लगाया जाये या पीछे। इसी प्रकार सम्यक्त्व होन पर भी इस बात का विचार करना आवश्यक है कि पराक्रम किस प्रकार किया जाये ? इस अध्ययन मे' यही विचार किया गया है कि सम्यक्त्व मे किम प्रकार पराक्रम करना चाहिए। श्रमण भगवान् महावीर ने अर्थरूप से यह अध्ययन फर्माया है और गणघरो ने सूत्ररूप मे इसे ग्रथित किया है। इसमें जो कुछ भी कहा गया है वह सम्यक्त्व मे पराक्रम करने के लिए ही। सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद किस प्रकार पराक्रम किया जाये, जिसमे सरलतापूर्वक मोक्ष प्राप्त हो सके, यही अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रत्येक धर्मक्रिया का मूल सम्यक्त्व है। अन्य क्रियाएँ उसकी शाखाएँ हैं। मूल के अभाव में शाखाएँ नहीं हो सकती। साथ ही मूल सूख जाने पर शाखाएँ भी सूख जाती हैं। अतएव मूल का सुरक्षित होना आवश्यक है।

सम्यक्त्व का सामान्य अर्थ है—श्रद्धा। धर्मक्रिया करने के लिए सर्वप्रथम श्रद्धा होना आवश्यक है। श्रद्धा होने पर ही धर्मक्रिया सफल होती है। इसलिए शास्त्र में कहा है:—

सद्धा परमदुल्लहा।

अर्थात्—श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है। ससार में अनेक वस्तुएँ दुर्लभ मानी जाती हैं परन्तु शास्त्रकारो ने मुख्यरूप से चार वस्तुएँ दुर्लभ बतलाते हुए कहा है—

चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

अर्थात्—ससार में प्राणियो को इन चार वस्तुओ की प्राप्ति परम दुर्लभ है:—(१) मनुष्यत्व (२) धर्मश्रवण (३) धर्मश्रद्धा और (४) सयम में पराक्रम।

ससार में सम्पत्ति पाना, सत्ता पाना आदि दुर्लभ माना जाता है, परन्तु शास्त्रकार फर्माते हैं कि यह दुलभ मानी जाने वाली वस्तुए तो सुलभ हो सकती हैं परन्तु मनुष्यदेह मिल जाना और फिर उसमें मनुष्यत्व प्रकट होना, सत्यधर्म का श्रवण, सत्यधर्म के प्रति श्रद्धा और सयम मे पराक्रम, यह चार वस्तुए तो अत्यन्त ही दुर्लभ है।

सद्धर्म पर जब सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होती है तो धर्म के लिए आत्मसमर्पण करने की भावना का भी उद्भव होता है। जिस कार्य पर श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वह भले ही

कठिन हो, फिर भी उसे सम्पन्न किया जाता है । इसके विपरीत जिस पर श्रद्धा नही होती वह कार्य सरल होने पर भी भार मालूम होता है । अतएव जो कार्य करना हो, उसके प्रति दृढ श्रद्धा होना अत्यावश्यक है । श्रद्धापूर्ण कार्य के लिए किसी की प्रेरणा की भी आवश्यकता नही रहती । उदाहरणार्थ, पुत्र का विवाह करने के लिए कौन प्रेरणा करता है ? पुत्र के विवाह सम्बन्धी कार्यों में कठिनाई पेश आती है, परन्तु उस कार्य मे श्रद्धा होने से दूसरे की प्रेरणा के बिना ही वह कठिन कार्य सरलतापूर्वक किया जाता है। जब व्यवहार में श्रद्धा की आवश्यकता है तो धर्म मे श्रद्धा की आवश्यकता क्यो न होगी ? व्यावहारिक कार्य भी श्रद्धा के अभाव मे सम्पन्न नही होते तो मोक्ष सम्बन्धी कार्य बिना श्रद्धा के किस प्रकार सम्पन्न हो सकते हैं ? अतएव भगवान् का कथन ध्यान मे रख कर सम्यक्त्वपूर्वक मोक्ष के लिए पराक्रम करना चाहिए । अगर हम पूर्णरूप से भगवान् की वाणी को आचरण मे नही ला सकते तो भी शक्ति के अनुसार तो उसे स्वीकार करना ही चाहिए । भगवान् की सम्पूर्ण वाणी तो गणधर भी नही धारण कर सकते । वे भी भगवद्-वाणी का कुछ अग ही ग्रहण कर पाते हैं। ऐसी स्थिति मे हमारे लिए तो यह सम्भव ही कैसे हो सकता है ? अत: भगवान् को वाणी पर हमे यथ शक्ति अमल करना चाहिए। हम अधिक न कर सकें तो कम से कम उस वाणी पर श्रद्धा तो रख ही सकते हैं । आचरण समान न होने पर भी श्रद्धा तो चौथे गुणस्थान और तेरहवें गुणस्थान वाले की समान ही हो सकती है । पक्षी अपनी चोच में समुद्र नही भर सकते, मगर उस पर श्रद्धा तो सभी पक्षी रख

सक्ते हैं। इसी प्रकार अगर तुम भगवद्-वाणी का यथावत् पालन नही कर सकते तो उस पर श्रद्धा रखो और जितना बन सके उतना पालन करो।

प्रश्न किया जा सकता है कि हमें किस धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए ? आप जो कहते हैं वही दूसरे लोग भी कहते हैं। ऐसी दशा में किस धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह हैं कि पाठशालाएँ अलग-अलग होने पर भी कुछ बातें ऐसी होती हैं जो प्रत्येक पाठशाला मे एक समान मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए—पाँच और पाच दस होते हैं, यह बात प्रत्येक पाठशाला में समान रूप से सिखलाई जाती है । अन्य बातो मे मतभेद हो सकता है मगर इसमे किसी प्रकार का मतभेद सम्भव नही है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् के कहे हुए कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो सबको समानरूप से मान्य हैं । उनके विषय मे किसी का मतभेद नही है । दूसरे जो सिद्धान्त हैं उनकी अन्य मतो के सिद्धान्तों से तुलना करके देखो और विवेक-बुद्धि द्वारा उन पर विचार करो। तुम्हे स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा कि वीतराग भगवान का कथन ही यथार्थ है। वीतराग भगवान् के कथन पर ही श्रद्धा रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य मतो में भी अगर कोई अच्छी बात है तो वह भी अपने लिए ग्राह्य है । दूसरो के नय की उत्थापना न करके अपने नय की स्थापना करना ही स्याद्वाद कहलाता है । स्याद्वाद सातों नयों को स्वीकार करता है । वह सातो का सग्रह करके यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करता है । स्याद्वाद किसी नय का निषेध नही करता। इससे विपरीत अन्य लोग कोई एक बात पकड़ बैठते हैं और दुराग्रह करते हैं । जैनदर्शन

किसी वात का दुराग्रह नही करता । वह सबकी दृष्टि का यथोचित समन्वय करके पदार्थ का निरूपण करता है। अन्य मत जब पदार्थ का निरूपण एक ही दृष्टि से करते हैं, तब जैनदर्शन को सभी दृष्टियाँ मान्य हैं । यह बात समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए । इससे जैनधम की विशालता और मौलिकता का पता चलेगा।

किसी गाव मे एक हाथी आया । उसे देखने के लिए गाव के लोग जमा हो गए । उस गाव में कुछ अन्धे भी रहते थे । वे भी हाथी देखने चले । रास्ते में किसी ने उनसे कहा—तुम्हारे आखें नही हैं, हाथी कैसे देख सकोगे ? अन्धो ने कहा—हम हाथ फेरकर हाथी देख लगे ।

अन्धे हाथी के पास पहुचे और हाथ फेर कर उसे देखने लगे। एक अन्धे के हाथ मे हाथी का दात आया। वह कहने लगा— मैं समझ गया, हाथी कैसा होता है ! हाथी मूसल जैसा होता है ।

दूसरे अन्धे के हाथ मे हाथी की सूड आई । वह पहले अन्धे से कहने लगा तेरा कहना गलत है । हथी मूसल जैसा नही, कोट की बाह सराखा होना है ।

तीसरे अन्धे के हाथ मे हाथी का पैर आया। उसने कहा—तुम दोनो झूठें हो । हाथी खम्भा सरीखा है ।

चौथे के हाथ हाथी का पेट लगा । वह बोला -तुम तीनो झूठ कहते हो हाथी तो कोठी सरीखा होता है ।

पाचवें अन्धे के हाथ मे हथी के कान आये । वह बोला— तुम सभी झूठे हो । हाथी तो सूप (छाजला) सरीखा है ।

इस प्रकार और भी अन्धे एक-दूसरे को झूठा कहने लगे और आपस में झगडने लगे। इतने में वहां एक आंख वाला मनुष्य आ पहुंचा। आँख वाले ने उन अन्धों से कहा–तुम लोग आपस में लडते क्यो हो ? तुम सब एक-एक अश मे सही कहते हो। पर जब सबकी मान्यताओ का समन्वय करोगे तभी हाथी का परिपूर्ण स्वरूप समझ में आएगा।

आखिरकार उस आंख वाले पुरुष ने उन अन्धो को हाथी के एक ही अग को हाथी मान लेने से कैसी भ्रमणा उत्पन्न होती है, यह बात समझाई और यह भी समझाया कि किस प्रकार सबके मन्तव्य का समन्वय करने से पूर्ण वस्तु का पता चलता है।

इस दृष्टान्त का सार यह है कि जो व्यक्ति अन्धों की तरह वस्तु के एक अश को स्वीकार करके अन्य अशों का सर्वथा खंडन करता है और अंश को पकड रखने का आग्रह करता है, वह मिथ्यात्व मे पड जाता है। दूसरे नयों का निषेध करने वाला व्यक्ति स्वय जिस नय का अवलम्बन करता है, उसका वह नय दुर्नय बन जाता है। अतएव अपनी ही बात का हठ न पकडकर दूसरो के कथन पर भी सम्यक्प्रकार से विचार करना चाहिए और विवेन के साथ पूर्वापर विचार करके सत्य वस्तु पर श्रद्धा रखनी चाहिए। यही सम्यक्त्व है। पुण्योदय होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। स्याद्वाद सिद्धान्त किसी किस्म का दुराग्रह न करके यह मानने का उपदेश देता है कि जो सच्चा है सो मेरा, यह नही कि मेरा सो सच्चा। अतएव सम्यक्त्व प्राप्त करके मोक्ष की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करो। सम्यक्त्व में पराक्रम करना ही मोक्षप्राप्ति का राजमार्ग है।

जो वीतराग हैं उन्हे किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता। इस कारण वीतराग वाणी सदा सत्य, शिव और सुन्दर होती है। सराग और सदोष व्यक्ति के वचनो में अपूर्णता हो सकती है, वीतराग देव की वाणी में अपूर्णता के लिए कोई स्थान नही। अगर वीतराग-वाणी को यथावत् समझने की बुद्धि तुममे नही है तो यही कहो कि वीतराग भगवान् ने जो कुछ कहा है वही सत्य है इस प्रकार वीतराग-वाणी को तुम सत्य, शिव और सुन्दर मानोगे तो निश्चित रूप से आराधक बन सकोगे और आत्म-कल्याण साध सकोगे।

प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह कोई विवाद का विषय नही है। वह तो आचरण करने का विषय है। भगवद्-वाणी पर अमल करने वाला पुरुष स्व-पर का कल्याण साध सकता है। अतएव तुम किसी प्रकार वादविवाद मे पड़े बिना ही भगवान् की वाणी के अनुसार व्यवहार करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

वादविवाद करने से न वस्तु का निर्णय ही होता है और न वादविवाद का अन्त ही आता है। जिसमे जितनी ज्यादा बुद्धि होगी वह उतना ही अधिक वादविवाद कर सकेगा और वाद विवाद करते-करते जीवन ही समाप्त हो सकता है। अतएव वाद विवाद मे न पडकर भगवान् के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने मे ही सम्यक्त्वपूर्वक पराक्रम करना चाहिए।

निस्पृह होकर अपने आत्मा की तराजू पर भगवान् की वाणी तोलोगे तो भगवान् के वचन की सत्यता प्रतीत हुए विना नही रहेगी। आत्मा स्वयं ही सत्य-असत्य तोलने के लिए तराजू है। अगर आत्मा कुटिलता का त्याग करके

सरलता धारण करे तो अवश्य ही यह निर्णय करने में समर्थ बन सकता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है ? 'आत्मा वास्तव मे सिद्ध के समान है, मगर इस समय मोह में पडा है ' इस मोह को हटा देना ही सिद्ध के समान बनने का उपाय है । आत्मा का कल्याण आत्मा के पास ही है । यह बात ध्यान मे रखकर सम्यक्त्व के विषय मे पराक्रम करो । इससे अवश्य ही स्व-पर का कल्याण होगा ।

महावीर भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करके जिस धर्म की प्ररूपणा की है और जिसका वर्णन इस अध्ययन मे किया गया है, उसका परिपूर्ण विवेचन तो कोई पूर्ण पुरुष ही कर सकता है । साधारण व्यक्ति के बूते का यह काम नही है । फिर भी आकाश का पार न पाने पर भी पक्षी अपनी शक्ति के अनुसार आकाश में उडते ही हैं । 'मैं आकाश का पार नही पा सकता' यह सोचकर पक्षी आकाश मे उडना नही छोड देता । इसी प्रकार यहा अपनी शक्ति और मति के अनुसार सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन का विवेचन किया गया है । अगर सूत्र का विवेचन पूरी तरह तुम्हारी समझ में न आया हो तो भी जितना समझो उतना ही जीवन मे उतारो । इससे तुम्हारा कल्याण होगा ।

सर्वप्रथम वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और केवलिप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करो यही कल्याण [illegible]